
इकाई 1: स्वास्थ्य : अवधारणा, अभिप्राय, आयाम और संकेतक
(Health: Concept, Meaning, Dimensions and Indicators)

- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 प्रस्तावना
- 1.3 स्वास्थ्य की अवधारणा
- 1.4 स्वास्थ्य का अभिप्राय एवं परिभाषा
- 1.5 स्वास्थ्य के विभिन्न आयाम
 - 1.5.1 शारीरिक आयाम
 - 1.5.2 मानसिक आयाम
 - 1.5.3 सामाजिक आयाम
 - 1.5.4 आध्यात्मिक आयाम
 - 1.5.5 भावात्मक आयाम
 - 1.5.6 व्यावसायिक आयाम
 - 1.5.7 अन्य आयाम
- 1.6 स्वास्थ्य के संकेतक
 - (I) मृत्यु दर संकेतक
 - (II) रुग्णता संकेतक
 - (III) विकलांगता दर
 - (IV) पौषणिक स्तर संकेतक
 - (V) स्वास्थ्य देखभाल सेवा के संकेतक
 - (VI) स्वास्थ्य सेवा की उपयोग दर
 - (VII) सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य के संकेतक
 - (VIII) पर्यावरण सम्बन्धी संकेतक
 - (IX) सामाजार्थिक संकेतक
 - (X) जीवन-गुणवत्ता से संबंधित संकेतक
 - (XI) स्वास्थ्य-नीति संबंधी संकेतक
- 1.7 सारांश
- 1.8 शब्दावली
- 1.9 अभ्यास प्रश्न
- 1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

1. स्वास्थ्य की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
2. स्वास्थ्य का अभिप्राय तथा परिभाषा को जान सकेंगे।
3. स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों से परिचित हो सकेंगे।
4. स्वास्थ्य के संकेतकों को पहचान सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

सितम्बर 1978 में, भूतपूर्व सोवियत रूस के “अल्मा-आटा” शहर में आयोजित विश्व स्वास्थ्य सम्मेलन के बाद यह निर्णय लिया गया कि “दुनिया के सभी देश और विश्व स्वास्थ्य संगठन का सामाजिक लक्ष्य, वर्ष 2000 तक विश्व के सभी लोगों को इतना स्वस्थ बनाना होगा कि वे सामाजिक और आर्थिक तौर पर एक उत्पादक जीवन जी सकें।” संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1945 में “सभी के लिए स्वास्थ्य” लक्ष्य को अंगीकार करके स्वास्थ्य को सामाजिक-आर्थिक विकास का एक अभिन्न अंग बना दिया। संयुक्त राष्ट्र की इस पहल के बाद, एक नई सामाजिक व्यवस्था कायम करने की दिशा में स्वास्थ्य सामाजिक विकास का एक प्रमुख साधन बन गया है।

1.3 स्वास्थ्य की अवधारणा

सभी समुदायों की स्वास्थ्य के बारे में उनकी अपनी एक अवधारणा रही है और इसे उनकी संस्कृतियों के एक अंग के रूप में मान्यता दी गयी है। आज के औषधि विज्ञान पर बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि इसमें बीमारियों के अध्ययन पर ज्यादा ध्यान दिया गया है और स्वास्थ्य के अध्ययन की अनदेखी की गई है। उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य संकेतक अभी तक नहीं पहचाने गए हैं, स्वास्थ्य की परिभाषा अभी भी समझ से बाहर है और स्वास्थ्य को नापने का वर्तमान में कोई पैमाना नहीं है। इसलिए लोगों में स्वास्थ्य के बारे में अज्ञानता व्याप्त है। इसलिए स्वास्थ्य से संबंधित “रोग विज्ञान” के अध्ययन और तत्पश्चात् स्वास्थ्य से संबंधित जानकारियों के प्रचार-प्रसार की काफी संभावनाएं मौजूद हैं। व्यक्तिगत स्तर पर, मनुष्य ने अपने जीवन में जितना महत्व सत्ता या शक्ति, प्रतिष्ठा, धन-दौलत, सुरक्षा और ज्ञान जैसी जरूरतों को दिया है, उतना महत्व स्वास्थ्य को नहीं दिया है। जब तक लोग बीमार नहीं होते, वे अपने स्वास्थ्य को लेकर निश्चिंत रहते हैं और स्वास्थ्य की अहमियत और महत्व को नहीं समझते। प्रथम विश्व युद्ध के बाद, राष्ट्र संघ के गठन का मसौदा तैयार किया गया था, इसमें स्वास्थ्य के मुद्दे को पूरी तरह “नजरअंदाज” किया गया था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का मसौदा तैयार करते समय अन्तिम समय में इसे फिर “नजरअंदाज” कर दिया गया। 1945 में सानफ्रांसिस्को में आयोजित सम्मेलन में तदर्थ आधार यानि अस्थायी तौर पर इसे शामिल करना पड़ा था। केवल पिछले कुछ दशकों में ही इस बारे में जागरूकता आई है कि स्वास्थ्य लोगों के मूलभूत अधिकारों में शामिल होना चाहिए तथा जीवन को बेहतर बनाने की दिशा में, मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सभी लोगों का स्वस्थ रहना अत्यन्त जरूरी है।

1.4 स्वास्थ्य का अर्थ एवं परिभाषा

स्वास्थ्य के बारे में अभी भी प्रचलित परिभाषाओं में, “रुग्णहीनता” यानि बीमारी न होना को सम्भवतः सबसे पुरानी परिभाषा कहा जा सकता है। कुछेक संस्कृतियों में, स्वास्थ्य और समरसता यानि सामन्जस्य को एक समान माना गया है। स्वयं के साथ, समुदाय के साथ, देवों के साथ और ब्रह्माण्ड के साथ संघर्षहीनता की स्थिति अर्थात् *सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः* को समरसता कहा गया है। प्राचीन भारतीय और ग्रीसवासी इसी अवधारण को मानते थे और उन्होंने शारीरिक संतुलन में गड़बड़ी को रोग या बीमारी का कारण माना है। इसी संतुलन को ये लोग समरसता कहते थे।

जैसा कि हमने बताया है, स्वास्थ्य को परिभाषित करना अत्यन्त आवश्यक है। अधिकांश लोग इसकी कोई एक सुनिश्चित परिभाषा नहीं दे सकते। इसलिए, स्वास्थ्य के बारे में, समय-समय पर अनेक परिभाषाएं सामने आई हैं।

1. **ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार**— “तन और मन की उस मजबूत स्थिति को स्वास्थ्य कहा गया है, जिसमें व्यक्ति अपने कार्यों को विधिवत और सक्षमता से सम्पन्न करे।”
2. **वेबस्टर के अनुसार**— स्वास्थ्य वह स्थिति है, जहां तन, मन और आत्मा विशेषकर शारीरिक रोगों और कष्ट से मुक्त है।
3. **परकिंस कहते हैं**— “स्वास्थ्य कायिक स्वरूप और कार्यों के बीच एक ऐसा संतुलन है जो इसे बाधित करने वाली शक्तियों के साथ सफल परिवर्तनशील समायोजन से उत्पन्न होता है। यह कायिक तत्वों और इनको बाधित करने वाले तत्वों के बीच निष्क्रिय परस्पर-संघर्ष नहीं है बल्कि समायोजन की दिशा में कायिक तत्वों का सक्रिय प्रत्युत्तर है।
4. **“विश्व स्वास्थ्य संगठन की तकनीकी रिपोर्ट सं. 137 (1957) में इसे कुछ इस प्रकार से परिभाषित किया गया है** “स्वास्थ्य मनुष्य की शरीर संरचना की वह स्थिति या विशेषता है जो किसी नियत आनुवांशिक और पर्यावरणीय स्थित में इस संरचना के पर्याप्त सुचारु कार्यकरण को दर्शाती है।”
5. **आर. दुबोस (1950) द्वारा अपनी पुस्तक “मैन, मेडिसिन एण्ड एनवायरनमेंट” में कथनानुसार** “स्वास्थ्य एक ऐसी जीवनचर्या है जो एक अशक्त व्यक्ति को इस अशक्त विश्व में जीने के लिए कम कष्टप्रद और उर्पाजक जीवन हासिल करने में सक्षम बनाता है।”

विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा: विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1948 में अपने संविधान के आमुख में उल्लेख किया है -

“ स्वास्थ्य केवल बीमारियां या विकलांगता न हाने तक ही सीमित नहीं है बल्कि पूरी तरह से शारीरिक, मानसिक और सामाजिक खुशहाली प्राप्त करने की स्थिति ही स्वास्थ्य है।” इस परिभाषा में सामाजार्थिक रूप से उत्पादक जीवन जीने को शामिल किया गया है।

1.5 स्वास्थ्य के विभिन्न आयाम

यदि हम स्वास्थ्य के बारे में विश्व स्वास्थ्य संगठन और अन्य संस्थानों तथा विशेषज्ञों की परिभाषाओं पर नजर डालें तो स्वास्थ्य के विभिन्न आयाम उभर कर आयेंगे। हम यहां कुछ प्रमुख आयामों जैसे कि शारीरिक आयाम, मानसिक आयाम, सामाजिक आयाम, आध्यात्मिक आयाम, भावनात्मक आयाम या संज्ञानात्मक आयाम तथा पेशागत या व्यावसायिक आयाम पर चर्चा करेंगे।

1.5.1 शारीरिक आयाम

शारीरिक आयाम को सबसे ज्यादा आसानी से समझा जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति-विशेष का शरीर कितनी सहजता से अपने सारे कार्य निष्पादित कर रहा है? इसमें संकल्पना की गई है कि जैविक तौर पर स्वास्थ्य एक ऐसी स्थिति है जिसमें शरीर का प्रत्येक अंग और कोश व्यक्ति-विशेष के शरीर के साथ संयोजन अपनी सर्वोच्च क्षमता तथा सम्पूर्ण संतुलन और तालमेल या सामंजस्य के साथ कार्य करता है। सुन्दर रूप-रंग, स्वच्छ एवं चमकदार त्वचा, गहन निद्रा और स्वच्छ श्वसन, चमकदार आंखें और अच्छी दृष्टि, चमकीले केश और शालीन वस्त्रों से ढका शरीर, अच्छी भूख, नियमित एवं सहज तौर से मल-मूत्र का त्याग तथा पूरे शरीर की सहज एवं समन्वयपूर्ण क्रिया, ये सभी अच्छे स्वास्थ्य की निशानी हैं। इसके अलावा, शरीर के सभी अंग सामान्य आकार के हों और सुचारु रूप से अपने कार्य करें, सभी विशिष्ट इन्द्रियां सही-सलामत हों, व्यक्ति यानि पुरुष और महिला की उम्र के अनुसार नाड़ी की गति, रक्तचाप और व्यायाम-सहनशक्ति ये सभी सामान्य सीमा में हों, शरीर की लम्बाई के अनुसार वजन सामान्य हो। संज्ञान में आये सभी रोगों से मुक्त तथा उपरोक्त आदर्श स्वास्थ्य वाले बहुत से व्यक्तियों के परीक्षण के बाद शरीर के अंगों और इनके कार्य-कलापों की आदर्श सीमा तय की गई है। व्यक्ति पूर्णतया स्वस्थ है, तभी कहा जाएगा जब उसका स्वास्थ्य इन तय मानकों पर खरा उतरे।

1.5.2 मानसिक आयाम

केवल मानसिक बीमारी का न होना ही मानसिक स्वास्थ्य नहीं है बल्कि जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों का सहजता और लचीलेपन से सामना करने की योग्यता ही मानसिक स्वास्थ्य है। मानसिक स्वास्थ्य को कुछ इस रूप में परिभाषित किया गया है "व्यक्ति और उसके आसपास की दुनियां के बीच संतुलन की स्थिति, स्वयं और दूसरों के बीच संतुलन की स्थिति, स्वयं और दूसरों के बीच सामन्जस्य की स्थिति, स्वयं की और अन्य लोगों तथा साथ ही पर्यावरण की वास्तविकताओं के बीच सहअस्तित्व।" कुछ दशक पहले तक, मन और शरीर का अलग-अलग अस्तित्व माना जाता था। लेकिन शोधकर्ताओं ने अब पता लगाया है कि मनोवैज्ञानिक कारक न केवल मानसिक रोगों बल्कि सभी प्रकार के रोगों को बढ़ावा दे सकते हैं। इनमें लगातार उच्च तनाव (हाइपर टेंशन) श्वासनली का अस्थमा (ब्रोंकियल अस्थमा) तथा पाचनतंत्र में नासूर (पेट्टिक अल्सर) शामिल है। कुछ बड़ी बीमारियों जैसे कि अवसाद (डिप्रेशन) और मनोविखण्डता (सिजोफ्रेनिया) में जैविक तत्वों का भी हाथ होता है। कहने का मतलब यह है कि मानसिक संतुलन में गड़बड़ी का मतलब केवल व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में व्यवधान ही नहीं है। इसमें व्यवहारिक, मनोवैज्ञानिक और जैविक दुष्क्रिया भी शामिल है। हालांकि, मानसिक स्वास्थ्य व्यक्तिगत स्वास्थ्य का एक अनिवार्य घटक है लेकिन मानसिक स्वास्थ्य से जुड़े वैज्ञानिक संस्थान अभी भी इस बारे में पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं। इसलिए हमारे पास मानसिक स्वास्थ्य की स्थिति को मापने के वैसे सटीक उपकरण नहीं हैं जैसे कि शारीरिक स्वास्थ्य को मापने के।

1.5.3 सामाजिक आयाम

सामाजिक स्वास्थ्य या समरसता से तात्पर्य यह है कि लोगों के अन्तर्गत और समाज के अन्य सदस्यों तथा व्यक्तियों तथा विश्व जिसमें वे निवास करते हैं के बीच एकजुटता या सामजस्य हो। इसे व्यक्ति-विशेष के अन्तर-व्यक्तियों की मात्रा और गुणवत्ता और समुदाय के साथ सहभागिता की सीमा के तौर पर परिभाषित किया गया है। स्वास्थ्य के सामाजिक आयाम में मनुष्य के सामाजिक कौशल का स्तर, सामाजिक कार्यकरण और उस बृहद समाज के एक सदस्य के रूप में स्वयं को समझने की योग्यता शामिल है। आम तौर पर, सामाजिक स्वास्थ्य की जब हम बात करते हैं तो यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति परिवार का और अपेक्षाकृत एक बड़े समुदाय का सदस्य है और उसके समाज के अपने नेटवर्क के संदर्भ में एक "सम्पूर्ण व्यक्ति" की सामाजिक और आर्थिक हालत तथा खुशहाली पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।

1.5.4 आध्यात्मिक आयाम

सकल स्वास्थ्य की विचारधारा पर विश्वास करने वालों का मत है कि ऐसा समय आएगा, जब स्वास्थ्य और बीमारियों में आध्यात्मिक आयाम की भूमिका पर गम्भीरता से विचार करना ही पड़ेगा। इस संदर्भ में आध्यात्मिक स्वास्थ्य व्यक्ति विशेष के उस घटक का हवाला देता है जो किसी व्यक्ति के जीवन का अर्थ और प्रयोजन समझने और वहां तक पहुंचने का प्रयास करता है। यह एक ऐसा अतिसूक्ष्म अथवा स्पर्शगम्य "निराकार अस्तित्व" है जो काया विज्ञान और मनोविज्ञान से भी परे और श्रेष्ठ है। यह अपेक्षाकृत एक नई संकल्पना है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी कोई ठोस परिभाषा नहीं हो सकी है। इसमें सत्यनिष्ठा, सिद्धान्त और नीतिशास्त्र, जीवन का मुख्य प्रयोजन, किसी परमसत्ता के प्रति कटिबद्धता और ऐसी अवधारणाओं, जिन्हें अत्याधुनिक व्याख्याओं की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, पर विश्वास शामिल है।

1.4.5 भावात्मक आयाम

प्राचीन काल से ही मानसिक और भावात्मक आयामों को एक ही तत्व के रूप में या परस्पर समबद्ध तत्वों के रूप में माना गया है। लेकिन इस क्षेत्र में कई शोध-कार्य होने के बाद इन दोनों में एक स्पष्ट अन्तर नजर आने लगा है। मानसिक स्वास्थ्य को "समझ" अथवा "संज्ञान" के रूप में देखा जा सकता है। जबकि भावनात्मक स्वास्थ्य "अनुभूति" से संबंधित है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों को इन दो आयामों को अलग-अलग समझाने में अपेक्षाकृत ज्यादा सफलता मिली है। इस नई व्याख्या के चलते, हमें मानसिक और भावनात्मक पहलुओं को मानव स्वास्थ्य के दो अलग-अलग आयामों के तौर पर देखना होगा।

1.5.6 व्यावसायिक आयाम

जीवन का व्यावसायिक पहलू अपेक्षाकृत एक नया आयाम है। जब कार्य पूरी तरह से मानव के लक्ष्य, उसकी क्षमता और सीमाओं के अनुकूल हो तो यह मानव अस्तित्व का एक हिस्सा बन जाता है। कार्य बहुधा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य दोनों के संवर्धन में एक बड़ी भूमिका निभाता है। शारीरिक श्रम आमतौर पर शारीरिक क्षमता में सुधार से जुड़ा होता है। जबकि लक्ष्य प्राप्ति और कार्यकरण में अपनी क्षमता का अहसास होने से संतुष्टि और आत्मविश्वास बढ़ता है। इस आयाम का अनुभव तब होता है, जब उस व्यक्ति की नौकरी चली जाए या उसे पता लगे कि अब सेवानिवृत्ति होनी ही है। कई लोगों के लिए, व्यावसायिक आयाम केवल आय का स्रोत हो सकता है। लेकिन अन्य लोगों के लिए, यह आयाम अन्य आयामों के प्रयासों की पराकाष्ठा होता है क्योंकि व्यक्ति-विशेष जिसे जीवन की "सफलता" मानता है उसे पाने के लिए ये अन्य सभी आयाम मिल कर कार्य करते हैं।

1.5.7 अन्य आयाम

स्वास्थ्य के अन्य आयाम भी हैं जैसेकि कि सांस्कृतिक आयाम, सामाजार्थिक आयाम, शैक्षिक आयाम, पर्यावरणीय आयाम, दार्शनिक आयाम, पोषक आयाम, रोकथाम संबंधी आयाम, उपचारात्मक आयाम। अतः कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य के अनेक गैर-चिकित्सकीय आयाम भी हैं। ये आयाम अनेक प्रकार के कारकों के प्रतीक हैं। स्वास्थ्य के अलावा, अन्य क्षेत्रों को भी इन पर ध्यान देकर अपना योगदान देना चाहिए ताकि सभी लोग स्वास्थ्य का एक ऐसा स्तर प्राप्त कर सकें जिससे वे सामाजिक और आर्थिक रूप से उत्पादक जीवन जी सकें।

1.6 स्वास्थ्य के संकेतक

किसी समुदाय विशेष के स्वास्थ्य को नापने के लिए ही नहीं बल्कि किसी देश-विशेष के स्वास्थ्य स्तर की किसी अन्य देश के स्वास्थ्य से तुलना करने के लिए भी संकेतक जरूरी हैं। जन साधारण को उपलब्ध स्वास्थ्य सेवाओं की निगरानी और आकलन तथा स्वास्थ्य संबंधी कार्यकलापों और कार्यक्रमों के लिए संसाधनों के विवेकपूर्ण आबंटन हेतु भी स्वास्थ्य देखभाल संबंधी जरूरतों का अनुमान लगाना होता है। इस कार्य के लिए स्वास्थ्य संबंधी संकेतक आवश्यक हैं। संकेतकों से यह मापने में मदद मिलती है कि किसी कार्यक्रम के उद्देश्य और लक्ष्य किस सीमा तक हासिल कर लिए गए हैं।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि संकेतक किसी परिस्थिति का केवल संकेत देते हैं या उसका आभास दिलाते हैं। स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों के मूल्यांकन के बारे में विश्व स्वास्थ्य संगठन के दिशा-निर्देशों में इन्हें उन "वेरिबल्स" के रूप में परिभाषित किया गया है जो बदलावों को मापने में सहयोग देते हैं। जब बदलावों को प्रत्यक्ष तौर पर न मापा जा सकता हो तो बहुधा ऐसी स्थिति में, बहुधा स्वास्थ्य के विभिन्न स्तरों, उदाहरण के लिए स्वास्थ्य तथा पोषक स्तर, को अलग-अलग मापने के लिए इन संकेतकों का उपयोग किया जाता है। यदि एक तय समय में क्रमबद्ध तरीके से मापा जाए तो ये संकेतक परिवर्तन की दिशा और बदलाव कितनी तेजी से हो रहा है, इसका संकेत दे

सकते हैं और अलग-अलग समुदायों तथा क्षेत्र के लोगों के बीच उस तय समय में हुए बदलाव या परिवर्तन की तुलना करने में सहायक होते हैं। बहुधा लोग, यह नहीं समझ पाते कि स्वास्थ्य संकेतक और सूचकांक में अन्तर क्या है और दोनों को एक ही मान लेते हैं। सूचकांक (संकेतक का बहुवचन है)। बेहतर होगा कि, स्वास्थ्य के संबंध में रूझान दर्शाने के लिए "सूचकांक" के बजाय "संकेतक" शब्द का उपयोग किया जाए। स्वास्थ्य सूचकांक, स्वास्थ्य संबंधी विभिन्न संकेतकों का समिश्रण है।

स्वास्थ्य संकेतकों की विशेषताएं : संकेतकों को विज्ञान-सम्मत माना गया है बशर्ते कि ये;

(क) विधि मान्य हों यानि ये उसी का आकलन करें, जिसके लिए बनाए गए हैं।

(ख) भरोसेमंद और वस्तुपरक हों यानि यदि अलग-अलग व्यक्ति भी उन्हीं परिस्थितियों में इनके द्वारा आकलन करें तो परिणाम एक जैसा ही निकले।

(ग) संवेदी हों यानि यदि संबंधित परिस्थिति में तनकि भी बदलाव आए तो इनमें भी उसी स्तर का बदलाव आए, और

(घ) विशिष्ट हों, यानि केवल संबंधित परिस्थिति में बदलाव आने पर ही बदलाव दर्शाएं।

लेकिन, सही मायनों में ऐसे संकेतक बहुत कम हैं, जो इन सभी मानकों पर खरा उतरते हों। स्वास्थ्य को मापना इतना आसान नहीं है। ऐसी कोई भी परिभाषा (विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा सहित) नहीं है, जिसमें स्वास्थ्य को मापने के मापक दिए गए हों। क्योंकि, जिस प्रकार हम खुशी या प्रसन्नता को सटीक पैमाने पर नहीं माप सकते उसी तरह स्वास्थ्य को भी नहीं मापा जा सकता। व्यक्ति-विशेष स्वस्थ है या नहीं यह तो उस व्यक्ति के अपने सोचने पर निर्भर करता है। समस्या स्वास्थ्य को मापने की है और अभी तक इस समस्या का समाधान नहीं तलाशा जा सका है। इसलिए, स्वास्थ्य के मापन को बीमारी या अस्वस्थता, खराब स्वास्थ्य के दुष्परिणाम (अर्थात् रुग्णता, विकलांगता) आर्थिक और घरेलू कारण जो बीमारी बढ़ाते हैं जैसे स्वास्थ्य के विपरीत अर्थ वाले शब्द वाक्यों के जरिए दर्शाने का प्रयास किया गया है। स्वास्थ्य एक बहु-आयामी मुद्दा है और प्रत्येक आयाम को बहुत से कारक प्रभावित करते हैं, इनमें से अनेक ऐसे हैं, जिन्हें हम जानते हैं और अनेक ऐसे हैं, जिनके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वास्थ्य को मापने के लिए बहु-आयामी तरीके अपनाने होंगे। अतः स्वास्थ्य का आकलन स्वास्थ्य विशेषज्ञों के लिए भी एक जटिल विषय है। हम स्वास्थ्य को केवल किसी एक संकेतक के आधार पर नहीं समझ सकते। हमें अनेक संकेतकों के आधार पर एक विवरण (प्रोफाइल) बनाकर इसे समझना होगा जैसे कि रुग्णता संकेतक, मृत्यु दर संकेतक, विकलांगता संकेतक, पोषक आहार से जुड़े संकेतक, स्वास्थ्य सेवा प्रदायगी संबंधी संकेतक, स्वास्थ्य सेवा के उपयोग संबंधी संकेतक, सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य संकेतक, पर्यावरण संबंधी संकेतक, सामाजिक आर्थिक संकेतक, स्वास्थ्य नीति संबंधी संकेतक, जीवन गुणवत्ता संबंधी संकेतक, अन्य संकेतक।

1. मृत्यु दर संकेतक

(क) अशोधित मृत्यु दर : इसे लोगों के तुलनात्मक स्वास्थ्य का एक सामान्य संकेतक माना जाता है। इसे किसी समुदाय-विशेष में प्रति वर्ष प्रति 1000 व्यक्तियों में मौतों की संख्या के रूप में व्यक्त किया जाता है। यानि उस समुदाय के 1000 लोगों में से कितने लोगों की प्रतिवर्ष मृत्यु हो जाती है। यह संकेतक बताता है कि किस दर से लोगों की मृत्यु हो रही है। स्पष्ट कहा जाए तो किसी समुदाय विशेष में होने वाली मौतों की संख्या के आधार पर उस समुदाय की स्वस्थता का आकलन नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन, अनेक देश ऐसे भी हैं, जहां उनकी आबादी के स्वास्थ्य का आकलन करने के लिए यही एक संकेतक उपलब्ध है। जब हम अन्तर्राष्ट्रीय तुलना करते हैं तो यह संकेतक उतना उपयोगी साबित नहीं होता क्योंकि यह उस आबादी की आयु, पुरुष-महिला संरचना से प्रभावित होता है। हालांकि, यह स्वस्थता को नापने का एक सटीक पैमाना नहीं है, लेकिन मृत्यु दर में गिरावट आबादी-विशेष के समग्र स्वास्थ्य के आकलन का एक अच्छा साधन जरूर नजर आता है। आबादी-विशेष में मृत्यु दर में कमी लाना, स्वास्थ्य देखभाल और चिकित्सा का एक प्रमुख लक्ष्य है और ऐसा करने में सफल या असफल रहना, उस राष्ट्र की अपने लोगों के स्वास्थ्य को बेहतर बनाने की प्रतिबद्धता को आंकने का एक पैमाना अवश्य है।

(ख) उत्तरजीविता : यदि आयु-विशिष्ट मौजूदा मृत्यु दर बनी रहे तो किसी समुदाय विशेष में जिवित पैदा होने वाले बच्चे औसतन कितने वर्ष जिवित रहेंगे, इसे जन्म के समय उत्तरजीविता कहते हैं। जहां नवजात शिशु मृत्यु दर ऊंची है, वहां जन्म के समय उत्तरजीविता पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ता है, यानि वहां दीर्घायुता पर नवजात शिशुओं की मृत्यु दर के प्रभाव को शामिल नहीं किया जाता और 5 वर्ष की आयु में उत्तरजीविता पर बाल मृत्यु दर के प्रभाव को शामिल नहीं किया जाता। ज्यादातर जन्म के समय उत्तरजीविता का उपयोग किया जाता है। बालक-बालिका दोनों के लिए उत्तरजीविता का अनुमान अलग-अलग लगाया जाता है। उत्तरजीविता में वृद्धि से निष्कर्ष निकाला जाता है कि स्वास्थ्य स्तर में सुधार हो रहा है।

आमतौर पर उत्तरजीविता सामाजार्थिक विकास का एक अच्छा संकेतक है। दीर्घायु का संकेतक होने के नाते इसे सकारात्मक स्वास्थ्य संकेतक के रूप में माना जा सकता है। इसे वैश्विक स्वास्थ्य संकेतक के रूप में अपनाया गया है।

(ग) आयु-विशिष्ट मृत्यु दर: किसी भी समुदाय विशेष के आयु के आधार पर वर्गीकृत समूहों में किसी भी विशिष्ट आयु समूह के लिए मृत्यु-दर व्यक्त की जा सकती है। आयु-विशिष्ट मृत्यु दर को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- किसी विशिष्ट अवधि के दौरान किसी विशिष्ट क्षेत्र में किसी विशिष्ट आयु समूह (उदाहरण के लिए 20-24 वर्ष) की कुल अनुमानित आबादी में उसी अवधि के दौरान और उसी क्षेत्र में उसी आयु समूह (20-24 वर्ष) के लिए प्रति 1000 व्यक्ति पर मृत्यु दर।

(घ) नवजात शिशु मृत्यु दर: किसी नियत वर्ष में जिवित जन्म लेने वाले शिशुओं की संख्या और उसी वर्ष में 1 वर्ष से कम आयु के शिशुओं के मरने की संख्या के अनुपात को नवजात शिशु मृत्यु दर कहा जाता है। आमतौर पर इसे प्रति 1000 जिवित जन्म की दर के रूप में व्यक्त किया जाता है। न केवल शिशुओं बल्कि सम्पूर्ण आबादी के स्वास्थ्य स्तर तथा वे सामाजार्थिक परिस्थितियों, जिनमें वे

रह रहे हैं, के संबंध में यह वैश्विक स्तर पर सर्वाधिक मान्य संकेतकों में से एक है। इसके अलावा शिशु मृत्यु दर स्वास्थ्य देखभाल तथा विशेष रूप से प्रसवोपरान्त देखभाल सुविधाओं की उपलब्धता, उपयोग और कारगरता के मामले में एक संवेदी संकेतक है।

(ङ) बाल मृत्यु दर : समग्र स्वास्थ्य के स्तर से जुड़ा एक और संकेतक है, जिसे प्रारम्भिक बाल्यावस्था (1-4 वर्ष) मृत्यु दर नाम दिया गया है। इसे संबंधित वर्ष की मध्यावधि में 1-4 वर्ष के आयु समूह में प्रति 1000 बच्चों में मृत बच्चों की संख्या के रूप में परिभाषित किया गया है। अतः इसमें नवजात शिशुओं की मृत्यु दर शामिल नहीं है। अपर्याप्त मातृ और बाल स्वास्थ्य (एमसीएच) सेवाओं के साथ इसके सहसम्बन्ध के अलावा, यह अपर्याप्त पोषक आहार, रोग-प्रतिरोधक टीकाकरण बहुत कम होना और पर्यावरणीय दुष्प्रभाव तथा अन्य बाह्य कारकों से भी जुड़ा है। विकसित देशों की तुलना में अल्प विकसित देशों में नवजात शिशु मृत्यु दर 10 गुना ज्यादा हो सकती है। जबकि बाल मृत्यु दर 25 गुना तक ज्यादा हो सकती है। इससे विकसित देशों और अल्प विकसित देशों के बीच अंतराल तथा सुधार की गुंजाइश का संकेत मिलता है।

(च) पांच वर्ष से नीचे (अन्डर 5) आनुपातिक मृत्यु दर : यह 5 वर्ष से कम आयु समूह में कुल मृत्यु संख्या का अनुपात है। इस दर का उपयोग शिशु तथा बाल मृत्यु दर दोनों को दर्शाने के लिए किया जा सकता है। जिन समुदायों में साफ-सफाई अथवा आरोग्यता की स्थिति अच्छी नहीं है, यह अनुपात प्रति 1000 जीवित प्रसव पर 60 तक पहुंच सकता है। कुछ यूरोपीय देशों में यह अनुपात प्रति 1000 जीवित प्रसव पर 2 से भी कम है। इस दर का ऊंची होना यह बताता है कि जन्म दर तथा बाल मृत्यु दर ज्यादा है और जीवन-काल छोटा है।

(छ) वयस्क मृत्यु दर : वयस्क मृत्यु दर को प्रति 1000 व्यक्तियों में 15 से 60 वर्ष की आयु के बीच मृत्यु की सम्भावना के रूप में परिभाषित किया गया है। वयस्क मृत्यु दर विभिन्न देशों के बीच प्रमुख कामकाजी आयु समूह में स्वास्थ्य के अन्तर का विश्लेषण करने का एक जरिया प्रदान करती है। लगभग सभी देशों में महिलाओं की तुलना में पुरुषों की वयस्क अवस्था में मृत्यु होने की संभावना ज्यादा है लेकिन अलग-अलग देशों के बीच यह अन्तराल काफी ज्यादा है। जापान में इस उत्पादक आयु समूह में 10 में से एक से भी कम (महिलाओं के मामले में 20 में से 1) जबकि अंगोला में 10 पुरुषों में से लगभग 2-3 (महिलाओं में 1-2) वयस्कों की मृत्यु होने की संभावना होती है।

(ज) मातृक /प्रासविक मृत्यु दर : अधिकांश विकासशील देशों में महिलाओं में प्रजनक आयु के दौरान प्रासविक मृत्यु का अनुपात सबसे ज्यादा है। देश के सामाजार्थिक स्तर के अनुसार प्रासविक मृत्यु दर में बहुत ज्यादा अंतराल है।

(झ) रोग-विशिष्ट मृत्यु दर : किसी रोग-विशेष से होने वाली मृत्यु दर की गणना की जा सकती है। चूंकि ज्यादातर देश संचारी-रोगों से लगभग पूरी तरह मुक्ति पाने लगे हैं, इसलिए खास बीमारियों की समस्याओं के पैमानों के रूप में कैंसर से मृत्यु, हृदय (कार्डियो-वास्कुलर) रोगों से मृत्यु, दुर्घटना, डायबिटीज आदि से मृत्यु की गणना के लिए अन्य नए संकेतक तैयार किए गए हैं।

(त) **आनुपातिक मृत्यु दर** : किसी समुदाय में किसी रोग-विशेष की व्यापकता का अनुमान लगाने का सबसे आसान तरीका आनुपातिक मृत्यु दर है यानि कुल मृत्यु दर में इस रोग-विशेष से होने वाली मृत्यु का अनुपात कितना है। उदाहरण के लिए, यूरोपीय देशों में होने वाली कुल मौतों में 25-30 प्रतिशत मौतों का कारण हृदय-रक्तवाहिनी रोग (कौरोनरी डिजीज) है। संचारी रोगों से होने वाली मौतों की आनुपातिक मृत्यु दर को स्वास्थ्य स्तर का एक उपयोगी संकेतक बताया गया है। यह उन मौतों की व्यापकता को दर्शाता है जिन्हें रोका जा सकता था।

(द) **रोग विशेष से संभावित मृत्यु दर (केस फ़ैटालिटी रेट)** : इस दर के द्वारा एक निर्धारित अवधि में किसी खास बीमारी से लोगों की मृत्यु के जोखिम (संभावना) का मापन किया जाता है। एक विशिष्ट समयावधि में किसी खास बीमारी से होने वाली मौतों की संख्या को इसी अवधि में इस रोग से ग्रस्त होने वाले व्यक्तियों की संख्या से विभाजित करके इस दर की गणना की जाती है। आम तौर पर इसे प्रति 100 के रूप में व्यक्त किया जाता है। केस फ़ैटालिटी रेट का उपयोग मृत्यु दर को रुग्णता से सम्बद्ध करने के लिए किया जाता है। केस फ़ैटालिटी रेट का एक कार्य किसी रोग-विशेष के विभिन्न पहलुओं अथवा विशेषताओं जैसे कि इसकी रोग मूलकता (पैथोजेनिसिटी), प्रचंडता (सिविएरिटी) अथवा सांघातिकता (वायरुलेन्स) का आकलन किया जाता है। जहर के प्रभाव, किसी रसायन के सम्पर्क में आने या किसी अल्प अवधि के गैर-बीमारी (नॉन-डिजीज) वाले कारण से होने वाली मृत्यु के आकलन में भी इस दर का उपयोग संभव है।

(ड) **संभावित जीवन अवधि की हानि** : संभावित जीवन अवधि की हानि कम आयु में मृत्यु होने से शेष जीवन अवधि की हानि पर आधारित है। इसे मृतक व्यक्ति किस उम्र तक सम्भवतः जीवित रह सकता था (यानि वह उम्र जो विवेक से निर्धारित की गई है, आम तौर पर 75 वर्ष) के रूप में परिभाषित किया गया है। एक 30 वर्षीय व्यक्ति जिसकी मृत्यु एक सड़क दुर्घटना में हो गई है, वह सैद्धान्तिक रूप से औसतन 75 वर्ष की आयु तक जीवित रह सकता था, इस प्रकार 45 वर्ष के जीवन की हानि हुई। मृत्यु दर से जुड़े संकेतक स्वास्थ्य स्तर के पारम्परिक पैमानों के प्रतीक हैं। आज भी, सम्भवतः ये स्वास्थ्य के सर्वाधिक उपयोग होने वाले अप्रत्यक्ष संकेतक बने हुए हैं। अनेक देशों में संक्रामक रोगों पर नियंत्रण पा लिया गया है, मृत्यु दर काफी कम हो गई है। इसके फलस्वरूप विकसित देशों में मृत्यु दर संकेतकों की अहमियत कम हो रही है।

2. रुग्णता संकेतक : केवल मृत्यु दर के रूप में स्वास्थ्य स्तर को व्यक्त करना भ्रामक है। क्योंकि मृत्यु दर संकेतक किसी समुदाय में खराब-स्वास्थ्य के प्रभाव का खुलासा नहीं करते हैं, मानसिक बीमारी और गठिया की बीमारी इसके उदाहरण हैं। इसलिए रुग्णता संकेतक किसी समुदाय-विशेष के स्वास्थ्य स्तर को व्यक्त करने में मृत्यु दर संकेतकों के अनुपूरक की भूमिका निभाते हैं। रुग्णता संकेतकों की भी अपनी खामियां हैं। ये कई ऐसी परिस्थितियों को नजर-अन्दाज कर जाते हैं, जो अर्ध-नैदानिक या कहा जाए कि आभाषी यानि बीमारी के नजर न आने वाले लक्षण होते हैं।

किसी समुदाय विशेष के खराब स्वास्थ्य के आकलन के लिए नीचे दिए गए रुग्णता संकेतक उपयोग किए जाते हैं :-

- (क) आपतन और व्यापकता
- (ख) संज्ञान में आने वाली आपतन दर यानि अधिसूचना दर
- (ग) बाह्य रोग विभागों, स्वास्थ्य केन्द्रों आदि में रोगियों की दर
- (घ) भर्ती, पुनः भर्ती और अस्पताल से मरीजों की छुट्टी दर
- (ङ) अस्पताल में भर्ती रहने की अवधि, और
- (च) बीमारी की अवधि अथवा कार्य या विद्यालय से अनुपस्थिति की अवधि।

3. विकलांगता दर : स्वास्थ्य के क्षेत्र में भारी-भरकम व्यय के बावजूद बीमारी से जुड़ी मृत्यु दर में हाल के वर्षों में उल्लेखनीय सुधार नहीं आया है। इसलिये शरीर को नुकसान के संकेतकों को मृत्यु दर या रुग्णता दर संकेतकों का अनुपूरक बनाया गया है। विकलांगता दर का आधार, इस पूर्वानुमान या सिद्धान्त को बनाया गया है कि वह अपने सम्पूर्ण कार्यकलापों को सहजता से कर पाता है या नहीं। आमतौर पर विकलांगता दर को दो समूहों में बांटा गया है— (क) घटना- प्रकार के संकेतक और (ख) व्यक्तिगत- प्रकार के संकेतक।

(क) घटना- प्रकार के संकेतक

- i) कुल दिन जब कार्य-कलाप सीमित रहे।
- ii) कुल दिन जब चोट के कारण बिस्तर पर आराम करना पड़ा।
- iii) एक विनिर्दिष्ट अवधि के दौरान कितने कार्य-दिवस (या विद्यालय से अनुपस्थिति दिवस) का नुकसान हुआ।

(ख) व्यक्तिगत- प्रकार के संकेतक

- i) **चलने-फिरने पर प्रतिबंध :** उदाहरण के लिए बिस्तर तक सीमित, घर के अन्दर तक सीमित, घर के अन्दर या बाहर आने जाने के लिए विशेष सहारे की जरूरत।
- ii) **सीमित कार्य-कलाप :** उदाहरण के लिये केवल बुनियादी दिनचर्या जैसे खाना-पीना, धुलाई, कपड़े पहनना, शौचालय जाना, आस-पास चलना फिरना तक सीमित; बड़े-कामों में बाधा अर्थात्, किसी जॉब पर काम करने की सक्षमता अथवा गृह-कार्य आदि करने की सक्षमता।

हेल (हेल्थ-एडजस्टेड लाइफ एक्सपेक्टेन्सी) यानि स्वास्थ्य- समायोजित उत्तरजीविता : स्वस्थ उत्तरजीविता को मापने के लिए उपयोग किए जाने वाले संकेतक का नाम डेल (विकलांगता-समायोजित उत्तरजीविता) यानि डिसेबिलिटी- एडजस्टेड लाइफ एक्सपेक्टेन्सी से बदल कर **HALE** (हेल्थ- एडजस्टेड लाइफ एक्सपेक्टेन्सी) कर दिया गया है। हेल जन्म के समय उत्तरजीविता पर आधारित है, लेकिन इसमें खराब स्वास्थ्य की अवधि का समायोजन शामिल है। इसको आसानी से इस प्रकार समझा जा सकता है— खराब स्वास्थ्य की वर्तमान दर और मृत्यु दर को आधार बनाया

जाए तो एक नवजात शिशु पूर्णतया स्वस्थ जीवन कितने वर्ष तक जीएगा। पूर्णतया स्वस्थ जीवन वाले ये वर्ष स्वास्थ्य समायोजित उत्तरजीविता (हेल) कहलाएंगे।

गुणवत्ता-समायोजित जीवन वर्ष (क्यू ए एल वाई) : क्यूएएलवाई बीमारी के बोझ का मापने का एक पैमाना है। इसमें जीये गए जीवन की गुणवत्ता और मात्रा यानि कुल वर्ष दोनों शामिल हैं। इसका उपयोग चिकित्सा-दखल की मौद्रिक उपयोगिता का आकलन करने के लिए किया जाता है। क्यू ए एल वाई चिकित्सा दखल के द्वारा स्वस्थ जीवन में जुड़ने वाले वर्षों पर आधारित होता है। पूर्णतया स्वस्थ जीवन के एक वर्ष को 1.0 अधिमान दिया गया है और मृत्यु को 0.0 अधिमान दिया गया है। 1 क्यूएएलवाई (क्वाली) जीवन का 1 वर्ष \times 1 उपयोगिता अधिमान = 1 क्वाली) पूर्णतया स्वस्थ रूप में जीया गया जीवन का एक वर्ष है। पूर्णतया स्वस्थ रूप से जीया गया आधा वर्ष 0.5 क्वाली (1 वर्ष \times 0.5 उपयोगिता अधिमान) होगा।

विकलांगता-मुक्त जीवन (सक्रिय उत्तरजीविता) : यदि मौजूदा मृत्यु एवं विकलांगता दर लागू रहे तो कोई व्यक्ति औसत कितने वर्ष तक जीवित रह सकता है, उसे विकलांगता-मुक्त उत्तरजीविता (डीएफएलई) कहते हैं।

विकलांगता-समायोजित जीवन वर्ष (डैली) : डेली बीमारी के बोझ को नापने का एक पैमाना है। इसे बीमारी, विकलांगता और कम आयु में मृत्यु के कारण जीवन के खोये हुए वर्षों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। इसके विकास का श्रेय हार्वड विश्वविद्यालय को जाता है। विश्वविद्यालय ने यह संकेतक 1990 में विश्व बैंक के लिए बनाया था। बाद में विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लू.एच.ओ.) ने वर्ष 2000 में इस पद्धति को अपनाया। अब तो डेली जन स्वास्थ्य और स्वास्थ्य के प्रभाव को नापने का एक आम पैमाना बनता जा रहा है। ग्लोबल डिसीज बर्डेन नामक परियोजना में कम आयु में मृत्यु को विकलांगता के साथ जोड़ा गया है। इस परियोजना में एक ही पैमाने के जरिए जान-लेवा और गैर जान-लेवा अहम हालातों का जनसंख्या पर प्रभाव ब्यौरा जुटाया जाता है। परियोजना में उपयोग किया गया प्रमुख पैमाना विकलांगता-समायोजित जीवन वर्ष (डैली) है। यह पैमाना निम्नलिखित दो संकेतकों का योग है:

खो दिए गए जीवन के वर्ष (वाई एल एल) : प्रत्येक आयु में हुई मौतों की संख्या को उत्तरजीविता संबंधी वैश्विक मानक के अनुसार संभावित जीवन के शेष वर्षों से गुणा करके वाई एल एल की गणना की जाती है।

विकलांगता की वजह से खो दिए गए वर्ष (वाई एल डी) : चोट और बीमारी वाले मामलों की कुल संख्या को बीमारी की औसत अवधि और 0 (पूर्णतया स्वस्थ) से 1 (मृत्यु) के पैमाने पर बीमारी की प्रचण्डता दर्शाने वाले कारक अधिमान से गुणा करके आकलित किया जाता है। इसकी गणना का सामान्य सूत्र है- डी ए एल वाई (डैली) = वाई एल एल + वाई एल डी।

यह माना गया है कि पुरानी बीमारी के प्रभाव का सबसे उचित मापक समय है और यह इसी विश्वास पर आधारित है। इसलिए एक डैली (डी ए एल वाई) स्वस्थ जीवन के खोए गए एक वर्ष के

बराबर है। कम आयु में मृत्यु को मापने के लिए जापानियों की उत्तरजीविता को मानक माना गया है क्योंकि जापानियों की उत्तरजीविता सबसे लम्बी होती है।

डेली किसी आबादी विशेष के स्वास्थ्य के बारे में आश्चर्यजनक जानकारियों का खुलासा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, विश्व स्वास्थ्य संगठन की 1990 की रिपोर्ट में बताया गया था कि विकलांगता के 10 प्रमुख कारणों में 5 कारण मनोविकृति सम्बन्धी स्थिति से जुड़े थे। हालांकि विकलांग जीवन कुल वर्षों में से 28 प्रतिशत वर्ष का कारण मनोविकृति या न्यूरोलॉजिकल (तंत्रिका तंत्र) परिस्थितियां थी लेकिन सभी प्रकार की मौतों में इसका योगदान केवल 1.4 प्रतिशत और खो गए जीवन के वर्षों में 1.1 प्रतिशत था। इस प्रकार, इनका जनसमुदाय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। डेली से जुड़े अध्ययनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें "सामाजिक अधिमान" का प्रयोग किया जाता है, इसमें जीवन के प्रत्येक वर्ष का मूल्य आयु पर निर्भर करता है। सामान्यतया, युवा-वयस्क की तरह जीये गए जीवन को किशोर- बालक की तरह अथवा अधिक आयु वाले प्रौढ़ों (वृद्ध) की तुलना में ज्यादा मूल्य (अधिमान) दिया जाता है। अधिमानता वाली यह व्यवस्था बताती है कि समाज उत्पादकता और बच्चों के पालन-पोषण पर किए गए निवेश पर प्रतिफल में अभिरुचित रखता है। बीमारी की प्रचण्डता और अवधि पर निर्भर करते हुए उत्तरजीविता और खो दिए गए वर्ष, डिस्काउन्टिंग और सामाजिक अधिमानता के बीच "अन्योन्य क्रिया" (इंटर प्ले) के प्रभाव अत्यन्त जटिल होते हैं।

4. पौषणिक स्तर संकेतक (पोषकता का स्तर संबंधी संकेतक) : यह एक सकारात्मक स्वास्थ्य संकेतक है। स्वास्थ्य स्तर के संकेतकों के रूप में पौषणिक स्तर से संबंधित तीन संकेतक हैं—

- क) स्कूल-पूर्व आयु वाले बच्चों का मानवनितिक (एन्थ्रोपोमेट्रिक) मापन अर्थात् वजन और लम्बाई, मध्य-भुजा घेरा (मिड-आर्म सर्कमफेरेन्स);
- ख) स्कूल जाने की आयु के समय बच्चे की लम्बाई (और कभी-कभी वजन);
- ग) जन्म के समय कम वजन (2.5 कि.ग्रा. से कम) की व्याप्तता।

5. स्वास्थ्य देखभाल सेवा के संकेतक : स्वास्थ्य-देखभाल सेवा के वे संकेतक जिनका बहुधा उपयोग होता है। इस प्रकार हैं—

- क) डॉक्टर-जनसंख्या अनुपात,
- ख) डॉक्टर-नर्स अनुपात,
- ग) जनसंख्या-बिस्तर (बेड) अनुपात,
- घ) प्रति स्वास्थ्य केन्द्र/उपकेन्द्र-जनसंख्या अनुपात,
- ङ) जनसंख्या के हिसाब से दाइयों या प्रसव सहायक की संख्या।

ये संकेतक देश के अलग-अलग भागों में स्वास्थ्य-संसाधनों के वितरण, स्वास्थ्य देखभाल के प्रावधानों में समानता को दर्शाते हैं।

6.स्वास्थ्य सेवा की उपयोग दर : स्वास्थ्य स्तर के बारे में और अधिक जानकारी हासिल करने के लिए, बहुधा यह पड़ताल की जाती है कि स्वास्थ्य सेवाओं का कितना उपयोग हो रहा है। सेवाओं के उपयोग—अथवा वास्तविक कवरेज को, स्वास्थ्य सेवाओं के जरूरतमंद वे लोग जो एक तय अवधि, आमतौर पर एक वर्ष के दौरान ये सेवाएं पा रहे हैं, के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि उपयोग दर जन समुदाय की देखभाल संबंधी आवश्यकता के कुछ संकेत देता है, इसलिए इससे जन-समुदाय के स्वास्थ्य स्तर का कम पता चलता है। दूसरे शब्दों में स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के उपयोग और स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों और स्तर के बीच एक संबंध होता है। स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के उपयोग पर स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता और पहुंच और व्यक्ति का अपने स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य देखभाल व्यवस्था के प्रति रवैया जैसे कारकों का प्रभाव पड़ता है। उपयोग दर के कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं—

- क)नवजात शिशुओं का अनुपात जिन्हें 6 बीमारियों का टीका लगाकर प्रतिरक्षित किया गया।
- ख) गर्भवती महिलाओं का अनुपात जिन्हें प्रसव—पूर्व देखभाल सेवा मिलती है अथवा प्रशिक्षित प्रसव सहायकों की निगरानी में बच्चे को जन्म देती हैं।
- ग) परिवार नियोजन के विभिन्न तरीकों का उपयोग करने वाले लोगों की संख्या।
- घ) मरीज—दाखिला दर (यानि प्रतिदिन भर्ती होने वाले मरीजों की औसत संख्या/उपलब्ध बिस्तरों की औसत संख्या)
- ङ) भती रहने की औसत अवधि (यानि कितने दिन देखभाल की गई/केन्द्र से छुट्टी दी गई), और
- च) बेड टर्न ओवर अनुपात (यानि केन्द्र से छुट्टी दी गई/बिस्तरों की औसत संख्या)

उपरोक्त सूची न तो विस्तृत है और ना ही इसमें सब कुछ शामिल है। उपलब्ध कराई जा रही सेवाओं के आधार पर सूची को विस्तार दिया जा सकता है ये संकेतक किसी जनसमुदाय में बीमारी के जैविक पहलुओं की बजाय स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं की प्रदायगी के बारे में उस संगठन के सामाजिक दायित्वों के निर्वहन की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

7.सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य के संकेतक : जब तक सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य के मान्य सकारात्मक संकेतकों की उपलब्धता कम रहेगी, हमें अप्रत्यक्ष मापकों यानि सामाजिक और मानसिक रोग मूलकों (पैथोलॉजी) का उपयोग करना होगा। इनमें आत्महत्या, हत्या, हिंसक कृत्य तथा अन्य अपराध, सड़क दुर्घटनाओं, किशोर अपराध, शराब और नशे की लत, धूमपान, नींद की गोलियों या स्वापक औषधियों के सेवन आदि शामिल हैं। इनमें घरेलू हिंसा, बच्चों और पत्नी के साथ मारपीट पास-पड़ोस में उपेक्षित तथा परित्यक्त बच्चों को भी शामिल किया जा सकता है। ये संकेतक जन-समुदाय के स्वास्थ्य में सुधार के लिए सामाजिक उपायों हेतु मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

8.पर्यावरण सम्बन्धी संकेतक : यह संकेतक स्वास्थ्य संबंधी पर्यावरण के प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में उपयोग किए जाने वाले भौतिक और जैविक संकेतकों की गुणवत्ता दर्शाता है। यहां हम उस पर्यावरण की चर्चा कर रहे हैं, जिसमें बीमारियां जन्म लेती हैं और लोग रहते हैं। इनमें जल और

वायु प्रदूषण, रेडिएशन, ठोस अपशिष्ट (कचरा), शोर-शराबा, खाद्य एवं पेय पदार्थों में जहरीले अपशिष्ट आदि से संबंधित संकेतक शामिल हैं। लोगों को स्वच्छ पेयजल और साफ-सफाई सुविधाओं की उपलब्धता, उदाहरण के लिए घर पर ही स्वच्छ पेयजल की उपलब्धता या घर से 15 मिनट की दूरी पर नलकूप या संरक्षित कुए की उपलब्धता, घर तथा आसपास के क्षेत्र में साफ-सफाई से संबंधित संकेतक सबसे ज्यादा उपयोगी हैं।

9.सामाजार्थिक संकेतक: ये संकेतक स्वास्थ्य का सीधे (प्रत्यक्ष) आकलन नहीं करते हैं। तथापि, स्वास्थ्य-देखभाल से जुड़े संकेतकों को समझाने में इनकी बहुत बड़ी भूमिका है। इनमें निम्नलिखित शामिल हैं-

- क) जनसंख्या वृद्धि दर
- ख) प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जीएनपी)
- ग) बेरोजगारी का स्तर
- घ) निर्भरता अनुपात
- ङ) साक्षरता दर, विशेष रूप से महिला साक्षरता दर
- च) परिवार का आकार
- झ) आवास, एक कमरे में रहने वाले लोगों की संख्या और
- ज) प्रति व्यक्ति "कैलोरी" की उपलब्धता या खपत

10.जीवन-गुणवत्ता से संबंधित संकेतक : मृत्यु और रुग्णता से सम्बन्धित आंकड़ों पर बार-बार प्रश्नचिन्ह लगते रहे हैं कि क्या ये आंकड़े किसी जन-समुदाय के स्वास्थ्य-स्तर को पूरी तरह दर्शाते हैं? पहले बढ़ती उत्तरजीविता को स्वास्थ्य संकेतक के रूप में ज्यादा अहमियत दी जाती थी। लेकिन अब इसे विशेषकर विकासशील देशों में पर्याप्त नहीं माना जाता है और अब लोग और समुदाय कैसा जीवन आनन्द लेते हैं, उसकी ओर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। जीवन गुणवत्ता को परिभाषित करना मुश्किल है, और मापना इससे भी ज्यादा मुश्किल है। अलग-अलग स्वास्थ्य संकेतकों को मिलाकर एक सर्वनिहित संकेतक तैयार करने के अनेक प्रयास हुए हैं। जीवन की भौतिक गुणवत्ता से जुड़ा सूचकांक इसका एक उदाहरण है। इसमें तीन संकेतकों नामतः शिशु मृत्यु, एक वर्ष की आयु पर उत्तरजीविता और साक्षरता को समेकित किया गया है। निश्चय ही, जीवन-गुणवत्ता के संकेतक तैयार करने के लिए और ज्यादा प्रयास की आवश्यकता है।

11.स्वास्थ्य-नीति संबंधी संकेतक : राजनैतिक प्रतिबद्धता का अकेला सबसे महत्वपूर्ण संकेतक "पर्याप्त संसाधनों का आबंटन है। इससे संबंधित संकेतक है- (क) स्वास्थ्य सेवाओं पर व्यय किए गए जीएनपी का प्रतिशत, (ख) स्वास्थ्य संबंधी कार्यकलापों (जलापूर्ति और साफ-सफाई, आवास और पोषण, सामुदायिक विकास सहित) पर व्यय किए गए जीएनपी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद का प्रतिशत) और (ग) प्राथमिक या बुनियादी स्वास्थ्य देखभाल के लिए समर्पित (विशेष रूप से चिन्हित) कुल स्वास्थ्य संसाधनों का प्रतिशत।

अन्य संकेतकों की श्रृंखला :

(क) सामाजिक संकेतक : संयुक्त राष्ट्र के सांख्यिकी कार्यालय द्वारा सामाजिक संकेतकों की परिभाषा के अनुसार इन्हें 42 श्रेणियों में बांटा गया है। ये श्रेणियां हैं— परिवार संरचना, परिवार एवं घर, अधिगम एवं शैक्षिक सेवाएं, उपार्जक कार्यकलाप, आय का वितरण, उपभोग एवं संचय, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण सेवाएं, स्वास्थ्य सेवाएं और पोषण; आवास और इसका पर्यावरण, लोक व्यवस्था और संरक्षा, समय उपयोग, अवकाश एवं संस्कृति, सामाजिक स्तरीकरण एवं रुग्णता।

(ख) बुनियादी आवश्यकता संकेतक: अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) बुनियादी आवश्यकता संकेतकों का उपयोग करता है। “बुनियादी आवश्यकता निष्पादन” में उल्लिखित संकेतकों में कैलोरी खपत; जल-उपलब्धता; उत्तरजीविता; बीमारी के कारण मृत्यु; निरक्षरता; आबादी के अनुपात में डाक्टर एवं नर्स; प्रति व्यक्ति कक्ष (कमरा); प्रति व्यक्ति जी एन पी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद) शामिल हैं।

1.स्वास्थ्य नीति संकेतक:

‘सभी के लिए स्वास्थ्य’ के प्रति राजनैतिक कटिबद्धता
संसाधन आबंटन
स्वास्थ्य सेवाओं के वितरण में समानता की स्थिति
सामुदायिक सहभागिता
संगठनात्मक ढांचा और प्रबंधकीय प्रक्रिया

2.स्वास्थ्य से जुड़े सामाजिक और आर्थिक संकेतक:

जनसंख्या वृद्धि की दर
जीएनपी अथवा जीडीपी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद अथवा सकल घरेलू उत्पाद)
आय वितरण
कार्य स्थिति
वयस्क साक्षरता दर
आवास
खाद्य उपलब्धता

3.स्वास्थ्य देखभाल के प्रावधान के लिए संकेतक:

उपलब्धता
अभिगम्यता (एक्सेसिबिलिटी)
उपयोग
देखभाल की गुणवत्ता

4.स्वास्थ्य स्तर संकेतक:

जन्म के समय कम वजन (प्रतिशत)
पोषण स्तर और बच्चे का मनोवैज्ञानिक विकास
शिशु मृत्यु दर

- बाल मृत्यु दर
- जन्म के समय उत्तरजीविता
- मातृक मृत्यु दर
- रोग-विशिष्ट मृत्यु दर
- रुग्णता-आयतन और प्रभाव क्षेत्र (इन्सीडेन्स और प्रिवीलेंस)
- विकलांगता की व्याप्तता

(घ)सहस्राब्दि विकास लक्ष्य संकेतक : संयुक्त राष्ट्र संघ वर्ष 2000 में सहस्राब्दि विकास लक्ष्य अंगीकार किया था। इस लक्ष्य के तहत विश्व-स्वास्थ्य में सुधार के लिए ठोस कार्रवाई का आह्वान किया गया है।

स्वास्थ्य से सम्बन्धित अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े संकेतकों की तलाश जारी है। उपरोक्त चर्चा में देखा जा सकता है कि किसी देश के स्वास्थ्य के आकलन के लिए कोई व्यापक संकेतक नहीं है। प्रत्येक संकेतक स्वास्थ्य के किसी एक पहलू को दर्शाता है। कोई ऐसा सूचकांक जो इन अलग-अलग संकेतकों द्वारा मापे गए घटकों को एक साथ दर्शाए, अभी तक विकसित नहीं किया जा सका है। जब तक इस एकल वैश्विक सूचकांक की तलाश जारी है, एक प्रोफाइल या निश्चित क्रम में व्यवस्थित किए गए ये अनेक संकेतक विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों और देशों के बीच तुलना को सम्भव बनाएंगे। पिछले कुछ दशकों में, गैर-आर्थिक निष्पादनों (अर्थात् जीएनपी या जीडीपी) की बजाय समाज के निष्पादन और जीवन की गुणवत्ता का आकलन करने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

5.स्वास्थ्य-संबंधित सहस्राब्दि विकास लक्ष्य और संकेतक

लक्ष्य-1 चरम गरीबी और भूख का उन्मूलन

संकेतक:

4. 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों में कम वनज की समस्या की व्याप्तता
5. ऐसे जन-समुदाय का अनुपात जिनमें दैनिक आहार-उर्जा निर्धारित स्तर से कम मिल रही है।

लक्ष्य 4 :- बाल मृत्यु दर में कमी लाना

संकेतक :

13. पांच वर्ष से कम आयु समूह में मृत्यु दर
14. शिशु मृत्यु दर
15. चेचक से बचाव के लिए टीकाकृत (प्रति रक्षित) 1 वर्ष की आयु के बच्चों का अनुपात

लक्ष्य 5 :- मातृक स्वास्थ्य में सुधार

संकेतक :

16. मातृक मृत्यु दर

17. प्रशिक्षित स्वास्थ्य सहायकों की निगरानी में प्रसव का अनुपात

लक्ष्य 6 :- एचआईवी/एड्स, मलेरिया तथा अन्य बीमारियों के खिलाफ संघर्ष

संकेतक :-

18. 15–24 वर्ष के युवाओं में एचआईवी की व्याप्तता
19. कन्डोम इस्तेमाल की दर या गर्भ निरोधक उपायों की प्रसार दर
20. एचआईवी/एड्स के कारण अनाथ हुए बच्चों की संख्या
21. मलेरिया की व्याप्ता और मृत्यु दर
22. मलेरिया के जोखिम वाले क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का अनुपात, जो मलेरिया की रोकथाम और उपचार के लिए कारगर उपाय इस्तेमाल कर रहे हैं।
23. टी.बी. रोग की व्याप्तता और इस रोग से जुड़ी मृत्यु दर
24. टी.बी. के संज्ञान में आए मामलों और डाइरेक्टली ऑबर्ज्ड ट्रीटमेंट, शोर्ट कोर्स (डॉट्स) के तहत रोगमुक्त मामलों का अनुपात

लक्ष्य 7 :- पर्यावरणीय स्थायित्व सुनिश्चित करना

संकेतक :

29. ठोस ईंधन का इस्तेमाल करने वाले लोगों का अनुपात
30. ग्रामीण और शहरी जन समुदाय का अनुपात जिन्हें स्थायी जल स्रोत उपलब्ध हैं।
31. शहरी आबादी का अनुपात, जिन्हें साफ-सफाई की बेहतर सुविधाएं उपलब्ध हैं।

लक्ष्य : 8. विकास के लिए वैश्विक साझेदारी कायम करना

संकेतक : 46- आबादी का अनुपात जिसे आवश्यक औषधियां स्थायी तौर पर किफायती दामों में उपलब्ध है।

1.7 सारांश

इकाई के अध्ययन के पश्चात् हम स्वास्थ्य की अवधारणा को जान चुके हैं तथा स्वास्थ्य के अभिप्राय तथा विभिन्न परिभाषाओं तथा सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा से भी परिचित हो चुके हैं। साथ ही स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों को भी जान चुके हैं। इकाई के माध्यम से हम प्रमुख रूप से स्वास्थ्य के संकेतकों को भी पहचान चुके हैं।

1.8 शब्दावली

स्वास्थ्य के आयाम (Dimensions of Health): स्वास्थ्य के प्रमुख पांच (5) आयाम हैं, ये हैं शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा भावनात्मक आयाम। ये आयाम स्वास्थ्य का पूरा परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं। स्वास्थ्य के आयाम के बीच यह अन्तर सम्बन्ध महत्वपूर्ण पहलुओं में से एक है।

स्वास्थ्य के संकेतक (Health Indicators): किसी भी समुदाय के स्वास्थ्य को मापने के लिए ही नहीं बल्कि किसी देश विशेष के स्वास्थ्य स्तर की किसी अन्य देश के स्वास्थ्य स्तर की तुलना करने

के लिए भी स्वास्थ्य के संकेतक जरूरी हैं, संकेतकों से यह मापने में भी मदद मिलती है कि किसी कार्यक्रम के उद्देश्य किस सीमा तक प्राप्त कर लिये गये हैं।

1.9 अभ्यास प्रश्न

- विश्व स्वास्थ्य सम्मेलन वर्ष 1978 में कहां आयोजित हुआ था?
(अ) मास्को (ब) अल्मा-आटा (स) कैलीफोर्निया (द) जेनेवा
- उपरोक्त सम्मेलन का लक्ष्य कब तक सभी के लिए स्वास्थ्य देना निर्धारित था?
(अ) 2020 (ब) 2000 (स) 1990 (द) 2015
- 'मैन, मेडिसिन एण्ड इन्वायरमेन्ट' के लेखक का क्या नाम है?
(अ) पार्किन्स (ब) डी कोस्टा (स) आर डुबोस (द) ग्रीन
- स्वास्थ्य देखभाल के प्रमुख संकेतक कितने हैं?
(अ) 2 (ब) 6 (स) 4 (द) 5

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर-

- (ब)
- (ब)
- (स)
- (द)

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- डुबोस, आर. (1965), मैन एडैप्टिंग, न्यू हैवेन, येले यूनी. प्रेस
- डोनाल्ड, सी.ए. एट एल (1978), सोसल हैल्थ, इन: कॉन्सैप्चुलाइजेशन एण्ड मेजरमेंट ऑफ हैल्थ फार एडल्ट्स इन द हैल्थ इन्श्यूरेन्स स्टडी, सान्ता मोनिका, सीए, रैन्ड कार्पोरेशन
- डुबोस, आर. (1969), डब्ल्यूएचओ क्रोनिकल, 23:499
- नागपाल, आर. एण्ड सैल, एच. (1985), सब्जैक्टिव वैलबिडिंग, रैगुलर हैल्थ पेपर नं. 7 डब्ल्यूएचओ- सियरो, नई दिल्ली
- जुकानोविच, वी एण्ड माच इ पी (1975), अल्टरनेटिव एप्रोचेज टू मीटिंग बेसिक हैल्थ नीड्स इन डवलपिंग कन्ट्रीज, ए ज्वाइंट यूनीसेफ/डब्ल्यूएचओ स्टडी
- के. पार्क (2015), पार्क'स टैक्स्ट बुक ऑफ सोशियल एण्ड प्रीवेन्टिव मेडीसिन, बनारसी दास भनोट पब्लिशर्स

1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- अहमद, एण्ड कोल्हो (1979), टू वर्ड्स ए न्यू डैफिनेशन ऑफ हैल्थ, प्लेयूम, एन वाई
- नोबल, जॉन (1976), प्राइमरी केयर एण्ड प्रैक्टिस ऑफ मेडिसिन, लिटिल ब्राउन, बोस्टन
- बनर्जी (1985), हैल्थ एण्ड फ़ैमिली प्लानिंग सर्विस इन इंडिया, लोकपक्ष, नई दिल्ली

4. आईसीएसएसआर एण्ड आईसीएमआर (1981), हैल्थ फार आल, ऐन अल्टरनेटिव स्ट्रटेजी, वोलन्ट्री हैल्थ एसासिशयन ऑफ इंडिया, नई दिल्ली
5. टवॉड्ल, ए सी एण्ड हैसलर, आर एम (1977), सोसियोलॉजी ऑफ हैल्थ, सैन्ट लुइस, मोसबी
6. लास्ट, जे एम (1983), ए डिसनरी ऑफ इपिडिमीयोलॉजी, ऑक्सफोर्ड यूनीर्सिटी प्रेस
7. रेटक्लिफ, जॉन (1984), इन: प्रैक्टिसिंग हैल्थ ऑफ ऑल, डेविड मोरले, एट एल (एडि), ऑक्सफोर्ड यूनीर्सिटी प्रेस
8. मोरिस, डी एन एण्ड निचेल, वी एस (1982), मिजरिंग द कंडीशन ऑफ इंडियाज पुअर्स, पीक्यूएलआई, प्रोमिला एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वास्थ्य की प्रमुख अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए?
2. स्वास्थ्य का अभिप्राय क्या है, साथ ही स्वास्थ्य की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन करें?
3. स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों को विस्तार पूर्वक बतायें?
4. प्रमुख स्वास्थ्य संकेतकों का वर्णन कीजिए?

इकाई 2: स्वास्थ्य के प्रकार और प्रतिमान: जैव चिकित्सकीय, पारिस्थितिकीय और साकल्य तथा स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारक
(Forms, Models of Health- Biomedical, Ecological, Psychological and Holistic & Social Determinants of Health)

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार और प्रतिमान

2.3.1. जैव-चिकित्सकीय अवधारणा

2.3.2 पारिस्थितिकीय अवधारणा

2.3.3 मनोवैज्ञानिक अवधारणा

2.3.4 साकल्यवादी (होलिस्टिक) अवधारणा

2.4 स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारक

- (i) जैविक निर्धारक
- (ii) व्यावहारिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां
- (iii) पर्यावरण
- (iv) सामाजार्थिक परिस्थितियां
- (v) स्वास्थ्य सेवाएं
- (vi) अन्य कारक

2.5 स्वास्थ्य और विकास

2.6 स्वास्थ्य विकास

2.7 सारांश

2.8 शब्दावली

2.9 अभ्यास प्रश्न

2.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

1. स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार तथा प्रतिमान (मॉडल्स) को जानने में समर्थ होंगे।

2. स्वास्थ्य के विभिन्न निर्धारक व वेरियेबल्स को जान सकेंगे।
3. स्वास्थ्य के विभिन्न सामाजिक निर्धारकों को पहचान सकेंगे।
4. स्वास्थ्य व विकास के परस्पर सम्बन्ध के बारे में परिचित हो सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

सभी प्रकार की स्वास्थ्य देखभाल के लिए स्वास्थ्य की समझ बुनियादी आधार है। समुदाय-विशेष और विभिन्न पेशेवर समूहों के सभी सदस्यों की स्वास्थ्य के बारे में एक-समान अवधारणा नहीं है, इन पेशेवर समूहों में जैव-चिकित्सा विज्ञानी, सामाजिक विज्ञान के विशेषज्ञ, स्वास्थ्य प्रशासक, पारिस्थितिकीविद आदि सभी शामिल हैं। इसके चलते स्वास्थ्य की अवधारणा के बारे में भ्रम की स्थिति बनी हुई है। नित नए परिवर्तनों के इस माहौल में, नए विचारों के पैटर्न के आधार पर नई धारणाएं उभरना सुनिश्चित है।

स्वास्थ्य के अनेक कारक हैं। स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाले कारक मनुष्य के अन्दर और बाहर यानि उस समाज जिसमें वह रहता है, दोनों में होते हैं।

2.3 स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार और प्रतिमान

कभी वैयक्तिक चिंता का विषय माना जाने वाला स्वास्थ्य, सदियों की विकास प्रक्रिया से गुजरते हुए आज विश्व-व्यापी सामाजिक लक्ष्य बन गया है। आज जीवन की सभी विशेषताओं को इसमें शामिल कर लिया गया है। स्वास्थ्य के बारे में बदलती अवधारणाओं का संक्षिप्त सार नीचे दिया गया है :

2.3.1. जैव-चिकित्सकीय अवधारणा

पारम्परिक रूप से, स्वास्थ्य को "बीमारी की अनुपस्थिति" के रूप में देखा गया है, और यदि कोई व्यक्ति रोग मुक्त था तो उसे स्वस्थ माना जाता था। "जैव चिकित्सकीय अवधारणा" के रूप ख्यात इस अवधारणा का आधार "रोग का कीटाणु सिद्धान्त" था और 20वीं शताब्दी में चिकित्सा के क्षेत्र में यह सिद्धान्त छाया रहा। चिकित्सा के पेशे से जुड़े लोगों ने मानव शरीर को एक मशीन के तौर पर देखा और बीमारी को मशीन की खराबी के रूप में माना तथा डॉक्टर का काम इस मशीन की मरम्मत करना था। और इस प्रकार स्वास्थ्य, इस संकीर्ण नजरिए से, औषधि का अंतिम लक्ष्य बन गया।

जैव चिकित्सकीय अवधारणा की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसने स्वास्थ्य के पर्यावरणीय, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक निर्धारकों की भूमिका बहुत कम कर दी है।

बीमारी के इलाज में जैव चिकित्सा प्रतिमान (मॉडल) की शानदार सफलता चिकित्सा, प्रौद्योगिकी के द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य से जुड़ी कुछ प्रमुख समस्याओं (अर्थात् कुपोषण, पुरानी बीमारियां, दुर्घटना, नशे की लत, मानसिक रोग, पर्यावरणीय प्रदूषण, जनसंख्या विस्फोट) का निदान नहीं तलाश पाई।

चिकित्सा और समाज-विज्ञान के क्षेत्र में कुछ घटनाक्रमों से यह निष्कर्ष निकला कि स्वास्थ्य की जैव-चिकित्सा अवधारणा अपर्याप्त है।

2.3.2 पारिस्थितिकीय अवधारणा

जैव चिकित्सकीय अवधारणा की खामियां, अन्य अवधारणाओं के जन्म का कारण बनी। पारिस्थितिकविदों ने एक रोचक अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें स्वास्थ्य को मनुष्य और उसके पर्यावरण के बीच एक परिवर्तनशील संतुलन के रूप में देखा गया और बीमारी को मानव-संरचना का पर्यावरण के साथ कुसंतुलन (खराब संतुलन) के रूप में देखा गया। **डुबास** ने स्वास्थ्य को इस प्रकार परिभाषित किया है: “स्वास्थ्य का अभिप्राय कष्ट एवं बेचैनी की आपेक्षिक अनुपस्थिति (अपेक्षाकृत न होना) और इष्टतम सक्रियता सुनिश्चित करने के लिए पर्यावरण के साथ सतत अनुकूलन और समायोजन से है।”

मानव, पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक अनुकूलन न केवल बीमारी होने बल्कि खाद्यान्न की उपलब्धता और जनसंख्या विस्फोट का भी निर्धारण करते हैं। पारिस्थितिकी अवधारणा में दो मुद्दे उठाए गए हैं, दोषयुक्त मनुष्य और दोषयुक्त पर्यावरण। इतिहास गवाह है कि प्राकृतिक पर्यावरण के साथ मनुष्य के अनुकूलन से मानव की उत्तरजीविता में वृद्धि हो सकती है और आधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं के बिना भी बेहतर जीवन जीया जा सकता है।

2.3.3 मनोवैज्ञानिक अवधारणा :

सामाजिक विज्ञान में सम-सामयिक घटनाक्रम बताते हैं कि स्वास्थ्य केवल एक जैव-चिकित्सकीय चमत्कार नहीं है बल्कि इस पर सम्बन्धित व्यक्ति के सामाजिक मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्य को परिभाषित करने और मापने में इन कारकों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसलिए स्वास्थ्य जैविक तथ्य और सामाजिक तथ्य दोनों ही हैं।

2.3.4. साकल्यवादी (होलिस्टिक) अवधारणा

साकल्यवादी प्रतिमान उपरोक्त सभी अवधारणाओं का मिला-जुला रूप है। यह स्वास्थ्य पर सामाजिक, राजनीतिक और पर्यावरणीय प्रभाव को स्वीकार करता है। इसमें अलग-अलग तरीके से स्वास्थ्य को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है पर सबका सार यही है कि यह एक एकीकृत या बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसमें सम्पूर्ण व्यक्ति की उसके पर्यावरण के संदर्भ में तन्दुरुस्ती शामिल है। यह दृष्टिकोण हमारे पूर्वजों के दृष्टिकोण से मेल खाता है उनका मानना था कि स्वस्थ पर्यावरण में, स्वस्थ परिवार में स्वास्थ्य शरीर में, स्वस्थ मन, यही सम्पूर्ण स्वास्थ्य है। साकल्यवादी विचारधारा कहती है कि समाज के सभी क्षेत्र, विशेषकर कृषि, पशुपालन, खाद्यान्न, उद्योग, शिक्षा, आवास, लोक कार्य, संचार आदि स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालते हैं। इसमें स्वास्थ्य संवर्धन और संरक्षण पर जोर दिया गया है।

2.4 स्वास्थ्य के निर्धारक

यह कथन सत्य है कि मनुष्य क्या बन सकता है और किस बीमारी का शिकार बन सकता है ये दोनों ही बातें दो कारकों पर निर्भर करती हैं, पहला अनुवांशिक (जैनेटिक) कारक और पर्यावरणीय कारक जिसमें वह रहता है। इन दोनों कारकों में परस्पर-क्रिया होती है और ये परस्पर-क्रिया स्वास्थ्य संवर्धन या स्वास्थ्य-विनाशन दोनों का कारण बन सकती हैं। अतः इस अवधारणा के अनुसार, व्यक्तिगत स्वास्थ्य और पूरे समुदाय के स्वास्थ्य को ऐसी ही अनेक परस्पर-क्रियाओं का परिणाम माना जा सकता है।

(i) जैविक निर्धारक

प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक विशेषताओं का कुछ सीमा तक निर्धारण, गर्भधारण के समय, उसके जीन्स की प्रकृति द्वारा होता है। आनुवंशिक संरचना अद्वितीय होती है, गर्भधारण के पश्चात् इसे बदला नहीं जा सकता। अब, अनेक रोगों के बारे में पता चला है कि इनके मूल में अनुवांशिक कारण होते हैं। गुण-सूत्र (क्रोमोसोम) संबंधी दोष, उपापचय (मेटाबॉलिज्म) त्रुटि, मानसिक पिछड़ापन (रिटोर्डेशन), कुछ प्रकार की डायबिटीज आदि इसके उदाहरण हैं। इसलिए, स्वास्थ्य-स्तर आंशिक रूप से मनुष्य की अनुवांशिक संरचना पर निर्भर करता है।

अब, चिकित्सा-अनुवांशिकी ने अनेक प्रकार की बीमारियों की रोकथाम और इलाज और इस तरह बेहतर दवाईयों तथा लम्बे स्वस्थ जीवन की उम्मीद जगा दी है। ज्ञान के इस विशाल क्षेत्र में अभी बहुत काम होना बाकी है। यह विशेष रूप से अनुवांशिक जांच-पड़ताल (स्क्रीनिंग) और जीन थेरेपी में अहम् भूमिका निभाता है। अतः अनुवांशिक नजरिए से स्वास्थ्य को मनुष्य की उस स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो उसकी अनुवांशिक संरचना में गम्भीर दोष अथवा विक्षिप्तता का रूप लेने वाले लक्षणों के सदृश जीनों की गैर-मौजूदगी तथा गुणसूत्र केन्द्रक (कैरयोटाइप) में गुणसूत्र (क्रोमोसोम) पदार्थ की कुल मात्रा के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विपथन (ऐबेरेशन) पर निर्भर करती है। अथवा सकारात्मक रूप में कहा जाए तो स्वास्थ्य, अनुवांशिक संरचना में सामान्य लक्षणों के सदृश जीनों की उपस्थिति तथा सामान्य गुण-सूत्र की उपस्थिति पर आधारित होता है।”

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने जिस “सामान्य स्वास्थ्य” (पॉजिटिव हैल्थ) की वकालत की है उसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपनी अनुवांशिक विरासत की क्षमताओं, जहां तक सम्भव हो, पूरी तरह से अभिव्यक्त करने में सक्षम होना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य उसकी अनुवांशिक क्षमताओं को फेनोटिपिक (अनुवांशिक लक्षणों की पर्यावरण के साथ अन्तःक्रिया से उत्पन्न नजर आने वाले लक्षण) वास्तविकताओं में रुपान्तरित करने वाले पर्यावरण के साथ स्वस्थ सम्बन्ध या अच्छे सम्बन्ध बना कर रहे।

(ii) व्यावहारिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां:

“जीवन शैली” शब्द अपेक्षाकृत एक विस्तृत अवधारणा है। आमतौर पर “लोगों के रहन-सहन का तरीका” व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। यह सभी प्रकार के सामाजिक मूल्य आचार-व्यवहार और कार्य-कलाप दर्शाता है। इसमें संस्कृति और व्यावहारिक पैटर्न तथा आजीवन व्यक्तिगत आदतों (जैसे कि धूम्रपान, शराब की लत) का मिश्रण होता है। ये वो आदतें हैं जो सामाजिकीकरण की प्रक्रिया से विकसित हुई हैं। व्यक्ति माता-पिता, हम-उम्र व्यक्तियों या सहकर्मियों, मित्रों तथा भाई-बहनों और विद्यालय एवं जन-सम्पर्क माध्यमों के जरिए सामाजिक सम्पर्क के द्वारा जीवन शैली के बारे में अपनी समझ बनाता है।

स्वास्थ्य के लिए जरूरी है कि स्वस्थ जीवन शैली को बढ़ावा दिया जाए। अनेक सबूतों से ऐसे संकेत मिले हैं कि स्वास्थ्य और जीवन शैली के बीच एक सह-सम्बन्ध है। विशेष रूप से विकसित देशों में, वर्तमान की बहुत सी स्वास्थ्य समस्याएं (जैसी कि कॉरोनेरी हार्ट डिजीज, मोटापा, फेफड़ों का कैंसर, नशे की लत) जीवन शैली में बदलाव से जुड़ी हैं। भारत जैसे विकासशील देशों में, जहां पारम्परिक जीवन-शैली अभी भी मौजूद है, बीमारी और मौत के जोखिम, साफ-सफाई (स्वच्छता), कुपोषण, व्यक्तिगत स्वच्छता (आरोग्यता), बुनियादी मानवीय आदतों, प्रथाओं और सांस्कृतिक पद्धति से जुड़े हैं। यह उल्लेखनीय है कि सभी जीवन शैलियां नुकसानदायक नहीं हैं।

(iii) पर्यावरण :

हिप्पोक्रेटस (पांचवी सदी के एक ग्रीक चिकित्सक का नाम) पहला चिकित्सक था जिसने बीमारी को पर्यावरण यानि, जलवायु, पानी, हवा आदि से जोड़ा था। कई सदियों के बाद पैटनकॉफर ने जर्मनी में बीमारी और पर्यावरण के सह-सम्बन्ध की अवधारणा को फिर से जीवन्त किया। पर्यावरण को “आन्तरिक” और “बाह्य” दो श्रेणियों में बांटा गया है। “प्रत्येक घटक और अवयव, प्रत्येक टिश्यू, प्रत्येक अंग और अंग प्रणाली तथा शारीरिक तंत्र के अन्दर परस्पर तालमेल से इनके कार्यकरण को मनुष्य का आन्तरिक पर्यावरण नाम दिया गया है। आन्तरिक पर्यावरण आन्तरिक औषधियों के कार्य क्षेत्र में आता है।

बाह्य पर्यावरण अथवा बृहद पर्यावरण में वे चीजें शामिल हैं, जिनके सम्पर्क में मनुष्य गर्भधारण के पश्चात् आता है। इसे “वह सभी कुछ जो व्यक्ति के अन्दर निहित तंत्र व्यवस्था के लिए अजनबी हैं” के रूप में परिभाषित किया गया है। इन्हें शारीरिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक घटकों के नाम से विभाजित किया जा सकता है। इनमें से कोई भी एक अथवा सभी मनुष्य की बीमारी के प्रति इसकी अतिसंवेदनशीलता (ससेप्टेबिलिटी) को प्रभावित कर सकते हैं। कुछ मरक-विज्ञानी (एपिडेमियोलॉजिस्ट) ने व्यक्तिगत पर्यावरण को “सूक्ष्म पर्यावरण” (या घरेलू पर्यावरण) नाम दिया है। इसमें व्यक्ति विशेष का रहन-सहन और जीवन शैली अर्थात् खानपान की आदत, अन्य व्यक्तिगत

आदतें (अर्थात् धूम्रपान अथवा मदिरापान) स्वापक या नशीले पदार्थों का इस्तेमाल आदि शामिल है। पेशे से संबंधित पर्यावरण, सामाजार्थिक पर्यावरण तथा नैतिक पर्यावरण की चर्चा भी आम है।

यह एक पुख्ता तथ्य है कि पर्यावरण का इस माहौल में रहने वालों पर शारीरिक, मानसिक और सामाजिक तन्दुरुस्ती पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इन पर्यावरणीय कारकों में आवास, जलापूर्ति, मानसिक तनाव, और पारिवारिक ढांचे से लेकर सामाजिक तथा आर्थिक सहयोग प्रणाली और समुदाय के स्वास्थ्य संगठनों तथा समाज-कल्याण सेवाओं तक सभी कुछ शामिल है। पर्यावरणीय घटक (शारीरिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक) पूरी तरह से अलग-अलग घटक नहीं हैं। ये एक-दूसरे से अटूट रूप से जुड़े हैं, वास्तविक हैं और मानवीय पर्यावरण को समग्र नजरिए से देखने में उपयोगी हैं, बशर्ते कि हम पर्यावरण का जनसमुदाय के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव को गहराई से समझें। यदि पर्यावरण व्यक्ति के अनुकूल है तो वह अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का पूरा उपयोग कर सकता है। आज दुनियां में, परिवार और पर्यावरणीय स्वास्थ्य को बढ़ावा देना और इनका संरक्षण करना एक अहम मुद्दा है।

(iv) सामाजार्थिक परिस्थितियां:

यह बहुत पहले से ज्ञात है कि सामाजार्थिक परिस्थितियां मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। विश्व के अधिकतर लोगों का स्वास्थ्य-स्तर मुख्यतया उनके सामाजार्थिक विकास अर्थात् प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद, शिक्षा, पोषक आहार, रोजगार, आवास, देश की राजनीतिक प्रणाली आदि पर निर्भर करता है। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं:

(क) **आर्थिक स्तर** : सामान्य अर्थ व्यवस्था किस प्रकार काम कर रही है इसका सर्वाधिक मान्य पैमाना प्रति व्यक्ति, जी एन पी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद) है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अधिकांश विकासशील देशों में, रुग्णता दर में कमी लाने, उत्तरजीविता बढ़ाने और जीवन स्तर उन्नत बनाने में आर्थिक प्रगति ने प्रमुख भूमिका निभाई है। आर्थिक स्तर, समुदाय में, खरीद शक्ति, जीवन स्तर, जीवन की गुणवत्ता, परिवार का आकार और बीमारियों का पैटर्न तथा दुराचारी व्यवहार का निर्धारण करता है। यह स्वास्थ्य सेवाएं प्राप्त करने में भी अहम भूमिका निभाता है। लेकिन विडम्बना यह है कि समृद्धि भी बीमारी का कारण बन सकती है। इसका उदाहरण समाज के समृद्ध समूह में कॉरोनरी हृदय-रोगों, डायबिटीज और मोटापा जैसे रोगों की उच्च दर है।

(ख) **शिक्षा** : स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाला दूसरा बड़ा कारक शिक्षा (विशेषकर महिला शिक्षा) है। विश्व में निरक्षता दर का गरीबी, कुपोषण, खराब स्वास्थ्य, शिशु एवं बाल मृत्यु दर से गहरा नाता है।

अध्ययनों से पता चला है कि स्वास्थ्य सुविधाओं की उपलब्धता की स्थिति कैसी भी हो, गरीबी के कारण स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव को शिक्षा कुछ हद तक कम कर देती है। भारत का छोटा सा

राज्य केरल, इसका ज्वलंत उदाहरण है। वर्ष 2012 में जहां पूरे भारत की शिशु मृत्यु दर 42 थी, वही इसकी तुलना में केरल में यह दर मात्र 12 थी। केरल में शिशु मृत्यु दर के कम होने का मुख्य कारण यहां महिला साक्षरता दर 91.98 प्रतिशत होना है जबकि पूरे भारत की समग्र महिला साक्षरता दर 65.46 प्रतिशत है।

(ग) **पेशा या व्यवसाय** : किसी उत्पादक कार्य में नियोजन स्वस्थ जीवन में सहायक होता है। आमतौर पर बेरोजगारों में बीमारी और मृत्यु की घटनाएं ज्यादा देखी गई हैं। कई लोगों के लिए, नौकरी जाने का मतलब आय और दर्जे की हानि हो सकती है और यह मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक क्षति का कारण बन सकता है।

(घ) **राजनीतिक व्यवस्था** : स्वास्थ्य देश की राजनीतिक व्यवस्था से भी जुड़ा है। बहुधा, स्वास्थ्य से संबंधित प्रौद्योगिकियों को लागू करने में तकनीकी कारण की बजाय राजनीतिक फ़ैसले ज्यादा बाधक होते हैं। संसाधनों के आबंटन, श्रम शक्ति से संबंधित नीति, प्रौद्योगिकी के चयन और समाज के विभिन्न वर्गों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता और अभिगम्यता का स्तर आदि इस बात का उदाहरण है कि राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार स्वास्थ्य सेवाओं का स्वरूप ढाल सकती है। स्वास्थ्य पर खर्च किया जाने वाला जीएनपी का प्रतिशत राजनीतिक कटिबद्धता का मात्रात्मक परिचायक है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य देखभाल पर प्रत्येक देश के जीएनपी का कम से कम 5 प्रतिशत लक्ष्य तय किया है। लेकिन, भारत स्वास्थ्य और परिवार कल्याण पर अपने जीएनपी का लगभग 2 प्रतिशत व्यय करता है। आवश्यकता है राजनीतिक कटिबद्धता की और ऐसे नेतृत्व की जो केवल आर्थिक विकास की तरफ ही नहीं बल्कि सामाजिक विकास की तरफ भी ध्यान देती हो। यदि स्वास्थ्य के खराब पैटर्न को बदलना है तो समुदाय विशेष की समग्र सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था में बदलाव लाना होगा। लोगों के कार्यकरण तथा रहन-सहन के पर्यावरण में स्वास्थ्य के लिए हानिकारक कारकों को मिटाना होगा।

(v) **स्वास्थ्य सेवाएं:**

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण शब्द का दायरा बहुत व्यापक है इसमें बीमारियों के ईलाज, बीमारियों की रोकथाम, स्वास्थ्य संवर्धन के लिए व्यक्तिगत और सामुदायिक सेवाओं का एक विशाल क्षेत्र शामिल है। स्वास्थ्य सेवाओं का उद्देश्य जन-समुदाय के स्वास्थ्य स्तर में सुधार लाना है। उदाहरण के लिए बच्चों का टीकाकरण (प्रतिरक्षण) खास बीमारियों के होने/फैलने को रोक सकता है। स्वच्छ जल की उपलब्धता जल-जनित (पानी से होने वाली) बीमारियों के कारण मौतों और रुग्णता को रोक सकती है। गर्भवती महिलाओं और शिशुओं की देखभाल मातृक (मैटर्नल) और शिशु रुग्णता तथा मृत्यु दर में कमी लाने में सहायक हो सकती है। स्वास्थ्य सेवाएं तभी कारगर होंगी, जब ये सेवाएं समाज के अंतिम छोर तक पहुंचे, समान रूप से इनका वितरण हो, लागत के तौर पर देश और समुदाय की पहुंच में हो और सामाजिक तौर पर स्वीकार्य हों। स्वास्थ्य सेवाएं जिसे अब

“प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल” नाम से जाना जाता है, के घटकों में उपरोक्त सभी शामिल हैं। स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर स्वास्थ्य के एक साधन के रूप में माना जाए। स्वास्थ्य सेवाओं को सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए भी आवश्यक माना जाए। पर हमें यह ध्यान रखना होगा कि “बेहतर देखभाल से अच्छा स्वास्थ्य नहीं बनता।” हालांकि, जीएनपी और जन्म के समय उत्तरजीविता के बीच एक मजबूत सह-सम्बन्ध है, लेकिन चिकित्सा सुविधाओं की बहुलता और जन्म के समय उत्तरजीविता के बीच कोई उल्लेखनीय सह-सम्बन्ध नहीं है।

कारगर स्वास्थ्य सेवाओं से ज्यादा से ज्यादा हम केवल अच्छी देखभाल की उम्मीद कर सकते हैं। मरक विज्ञान (एपिडेमियोलॉजि) की अवधारणा कहती है कि स्वास्थ्य सेवाएं, तकनीकी रूप से चाहे कितनी भी परिष्कृत अथवा किफायती क्यों न हों, जब वे स्वास्थ्य उन्नत बनाएंगी तभी वे प्रासंगिक कहलाएंगी।

(vi) अन्य कारक :

हम औद्योगिक क्रान्ति के बाद के युग से सूचना के युग से गुजर रहे हैं और सूचना तथा संचार के क्षेत्र में दो परस्पर जुड़ी क्रान्ति के शुरुआती दिनों का अनुभव ले रहे हैं। एक समय था, चिकित्सा के बारे में जानकारी प्राप्त करना आसान नहीं था, किन्तु इन प्रौद्योगिकियों में विकास के चलते चिकित्सा के क्षेत्र में तत्काल जानकारी उपलब्ध कराना बहुत आसान हो गया है। विश्व भर में जानकारी के आदान-प्रदान में इनका योगदान अभूतपूर्व है। ये प्रौद्योगिकियां अनेक चिकित्सकों, स्वास्थ्य पेशेवरों, जैव-चिकित्सा वैज्ञानियों और शोधकर्ताओं, जन सम्पर्क माध्यमों (मीडिया) और सर्व-साधारण की जरूरतों को पूरा कर रही हैं। औपचारिक स्वास्थ्य देखभाल सेवा प्रणाली तथा अन्य कई प्रणालियां भी जनसमुदाय के स्वास्थ्य में सहयोग दे रही हैं, इनमें खाद्य और कृषि, शिक्षा, उद्योग, सामाजिक कल्याण, गामीण विकास के अलावा आर्थिक और सामाजिक नीतियां जो जीवन स्तर को उन्नत बनाने में मदद देंगी, शामिल हैं। इनमें रोजगार के अवसर, बेहतर पारिश्रमिक, प्री-पेड चिकित्सा कार्यक्रम और पारिवारिक सहयोग प्रणालियां भी शामिल हैं। संक्षेप में, केवल औषधि को ही जन-समुदाय के स्वास्थ्य और खुशहाली का श्रेय नहीं दिया जा सकता। जन-साधारण के स्वास्थ्य में बेहतरी के अन्य सभी क्षेत्रों के परस्पर योगदान की क्षमता को भी अब ज्यादा स्वीकार्य या मान्य समझा जा रहा है।

स्वास्थ्य संवर्धन संबंधी उद्घोषणा:

विश्व स्वास्थ्य संगठन के जुलाई 1997 में आयोजित सम्मेलन की इस उद्घोषणा में, 21वीं शताब्दी में स्वास्थ्य संवर्धन के ध्येय और लक्ष्य की तस्वीर पेश की गई थी। इसमें माना गया है कि स्वास्थ्य के निर्धारक, 21वीं शताब्दी में नई चुनौतियां, स्वास्थ्य के लिए मूलभूत परिस्थितियां और संसाधन, शांति, आश्रय (आवास), शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक संबंध, खाद्य, आय, महिला सशक्तिकरण, स्थायी पारिस्थितिकी, संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग, सामाजिक न्याय, मानव अधिकारों का सम्मान और समानता को शामिल किया गया है। कुल मिलाकर यही कहा गया है कि स्वास्थ्य को सबसे ज्यादा खतरा गरीबी से है।

शहरीकरण, वृद्ध लोगों की जनसंख्या में वृद्धि, पुरानी बीमारियों की बहुत अधिक व्याप्तता जैसे आबादी संबंधी रुझान सभी देशों के लिए नई समस्याएं खड़ी कर रहे हैं। बढ़ती आराम-तलबी, एन्टीबायोटिक तथा अन्य आम औषधियों का निष्प्रभावी होना, स्वापक औषधियों और नशीले पदार्थों (ड्रग) का अधिक उपयोग अर्थात् नशे की लत एवं नागरिक एवं घरेलू हिंसा जैसे अन्य सामाजिक, व्यवहार लाखों-करोड़ों लोगों के स्वास्थ्य और खुशहाली के लिए खतरा बन रहे हैं। नई और फिर से उभरती संक्रामक बीमारियां तथा मानसिक स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याओं में वृद्धि पर तत्काल कदम उठाने की आवश्यकता है। यह महत्वपूर्ण है कि स्वास्थ्य संवर्धन से जुड़े जरियों को इस तरह विकसित किया जाए कि वे स्वास्थ्य के निर्धारकों में निहित चुनौतियों का सामना कर सकें। स्वास्थ्य के लिए उभरते खतरों से निपटने के लिए विभिन्न क्षेत्रों, स्थानीय समुदायों और परिवार के अन्दर अन्तर्निहित क्षमताओं को आगामी वर्षों में उभारना होगा।

ओटावा चार्टर में स्वास्थ्य संवर्धन में कार्रवाई के पांच प्रमुख क्षेत्रों को शामिल किया गया है। ये क्षेत्र हैं—

- क) स्वस्थ सामाजिक नीति बनाएं।
- ख) स्वास्थ्य के अनुकूल वातावरण का निर्माण करें।
- ग) स्वास्थ्य के लिए सामुदायिक प्रयासों को मजबूत बनाएं।
- घ) व्यक्तिगत कौशल का विकास करें, और
- ङ) स्वास्थ्य सेवाओं का पुनः विन्यास (री-ओरिएण्ट) करें।

(क) स्वस्थ सामाजिक नीति बनाएं : स्वास्थ्य संवर्धन का दायरा स्वास्थ्य देखभाल से ज्यादा है। यह सभी सैक्टरों और सभी स्तरों के नीति-निर्माताओं के एजेन्डा (कार्यवृत्त) में स्वास्थ्य को शामिल करता है, उन्हें निर्देश देता है कि वे अपने फैसलों के स्वास्थ्य संबंधी परिणामों के प्रति सचेत रहे और स्वास्थ्य के प्रति अपना दायित्व स्वीकार करें।

(ख) स्वास्थ्य के अनुकूल वातावरण का निर्माण करें : विशेषकर प्रौद्योगिकी, कार्य, ऊर्जा उत्पादन और शहरीकरण के क्षेत्रों में तेजी से बदलते माहौल का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का व्यवस्थित आकलन अत्यावश्यक है और इस आकलन के बाद ऐसे कदम उठाए जाएं जो लोगों के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हों। स्वास्थ्य-संवर्धन से जुड़ी किसी भी कार्यनीति में प्राकृतिक और मानव निर्मित वातावरण तथा प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण अवश्य सुनिश्चित किया जाए।

(ग) स्वास्थ्य के लिए सामुदायिक प्रयासों को मजबूत बनाएं : स्वास्थ्य संवर्धन प्राथमिकताएं तय करने, फैसले लेने, नियोजन संबंधी कार्यनीतियां बनाने और इन्हें लागू करने में कारगर और ठोस सामुदायिक प्रयासों के जरिए कार्य करता है ताकि बेहतर स्वास्थ्य का लक्ष्य हासिल किया जा सके। इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य सामुदायिक सशक्तिकरण है।

बहुत पहले चिकित्सा से जुड़े इतिहासकार, हैनरी सिगेरिस्ट ने कहा था कि “लोगों का स्वास्थ्य लोगों की ही चिन्ता का विषय होना चाहिए। उन्हें इसके लिए संघर्ष करना चाहिए और योजना बनानी चाहिए। बीमारी के खिलाफ और स्वास्थ्य के लिए युद्ध केवल चिकित्सक ही नहीं लड़ेंगे। यह आम-जन का युद्ध है, इसमें पूरे जन-समुदाय को लामबंद किया जाना चाहिए।”

3.राज्य का दायित्व :

स्वास्थ्य की जिम्मेदारी केवल व्यक्तिगत और सामुदायिक प्रयासों तक ही सीमित नहीं है। सभी सभ्य समाजों में राज्य अपने नागरिकों की खुशहाली और स्वास्थ्य का दायित्व अपने ऊपर लेता है। भारत के संविधान में प्रावधान है कि स्वास्थ्य राज्य का दायित्व है। इससे संबंधित अंश राज्य नीति दिशा-निर्देशक सिद्धान्तों में देखे जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं—

“राज्य विशेषकर यह सुनिश्चित करने की दिशा में नीतियां बनाएगा— कि “श्रमिकों, पुरुष एवं महिलाओं के स्वास्थ्य और क्षमता तथा बच्चों की नाजुक उम्र का दुरुपयोग न हो और नागरिक आर्थिक आवश्यकताओं के कारण मजबूर होकर ऐसे व्यवसाय जो उनकी आयु अथवा क्षमता के अनुकूल न हों, में न जाएं और बचपन तथा किशोरावस्था का शोषण और नैतिक तथा दैहिक अपसर्जन न हो। राज्य अपनी आर्थिक और विकासात्मक क्षमता की सीमाओं के अन्दर, कार्य और शिक्षा का अधिकार तथा बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी और विकलांगता तथा मातृत्व राहत के मामलों एवं अनर्जित अभावों के मामले में लोक सहायता का अधिकार सुनिश्चित करने का कारगर प्रावधान करेगा। राज्य कार्य तथा मातृत्व राहत के लिए न्यायोचित और मानवीय परिस्थितियां उपलब्ध कराने का प्रावधान करेगा। राज्य अपने नागरिकों का पोषण स्तर तथा जीवन स्तर ऊंचा बनाने एवं नागरिकों के स्वास्थ्य में सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में शामिल करेगा।”

—भारत का संविधान, भाग-4

भारत ने 1978 अल्मा-अटा उद्घोषणा तथा 2000 के सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों पर हस्ताक्षर किए हैं संसद द्वारा 1983 में, तथा 2002 में एवं 2017 में अनुमोदित राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति के परिणाम स्वरूप स्वास्थ्य देखभाल को महत्व देते हुए स्वास्थ्य सेवाओं का राष्ट्र-व्यापी तंत्र स्थापित करने में राज्य की सहभागिता और ज्यादा बढ़ी है।

4.अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व:

मानव जाति के स्वास्थ्य से सम्बन्धित लक्ष्यों को हासिल करने के लिए सभी सरकारों, जन समुदायों तथा संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत तथा इससे बाहर के सभी संगठनों का सहयोग अपेक्षित होगा। इस सहयोग में विशेषज्ञों का आदान-प्रदान, औषधियों की उपलब्धता और आपूर्ति, संचारी रोगों पर नियंत्रण के लिए क्षेत्रीय बैठकें जैसे विषय शामिल हैं। टीसीडीसी (विकासशील देशों में तकनीकी सहयोग, आसियान (दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों का संगठन) और एसएमआरपी (दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय

सहयोग संगठन) ऐसे ही महत्वपूर्ण क्षेत्रीय सहयोग तंत्र हैं। स्वास्थ्य संवर्धन और बीमारियों के नियंत्रण के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उदाहरण के तौर पर चेचक नियंत्रण, “सभी के लिए स्वास्थ्य” परियोजना तथा धूम्रपान और एड्स के खिलाफ अभियान आदि का उल्लेख किया जा सकता है। आज, स्वास्थ्य सेवाओं के वितरण में स्वास्थ्य तथा “सामाजिक न्याय” से जुड़े मामलों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझ-बूझ और ज्यादा व्यापक हुई है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कायम करने में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने प्रमुख भूमिका निभाई है। अपने संवैधानिक अधिदेश के तहत, विश्व स्वास्थ्य संगठन, स्वास्थ्य से जुड़े अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में निदेशक और समन्वयक प्राधिकरण की भूमिका निभाता है।

2.5: स्वास्थ्य और विकास

इस तथ्य का अब सभी स्वीकार करने लगे हैं कि “सामाजार्थिक विकास के लिए स्वास्थ्य अत्यावश्यक है।” 1960 के दशक में यह आम धारण थी कि विकासशील देशों में लोगों के स्वास्थ्य-स्तर में सुधार के लिए सामाजार्थिक विकास जरूरी नहीं है और जन-स्वास्थ्य के आधुनिक साधन मात्र से ही तेजी से पर्याप्त प्रगति हासिल की जा सकती है। इस प्रकार की सोच में, विकास प्रक्रिया में मनुष्य की भूमिका को बहुत कम करके आंका गया था। 1973-77 की अवधि के दौरान इस धारणा पर पुनः गहराई से विचार किया गया। आर्थिक सिद्धान्त में बहुत से बदलाव किए गए। यह स्पष्ट होता गया कि केवल आर्थिक विकास से ही गरीबी, भुखमरी, कुपोषण और बीमारी जैसी समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। इसके स्थान पर “गेर आर्थिक” मुद्दे (यानि शिक्षा, उत्पादक रोजगार, आवास, समानता, स्वतंत्रता और सम्मान, मानव कल्याण) विकासात्मक कार्य नीतियों में प्रमुख उद्देश्यों के रूप में उभरे।

कुछ विकासशील देशों (श्रीलंका, कोस्टारिका और भारत में केरल राज्य) ने आश्चर्यजनक तरीके से यह प्रदर्शित किया कि स्वास्थ्य विकास का एक भाग है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में किए जा रहे प्रयासों को शिक्षा, सामाजिक कल्याण और भूमि-सुधार जैसे अन्य क्षेत्रों में विकास के जरिए मजबूती प्रदान करके यह उपलब्धि हासिल की जा सकी। स्वास्थ्य और विकास के बीच सम्बन्ध को स्पष्टतया स्थापित किया जा चुका है, दोनों ही एक-दूसरे के प्रारम्भ बिन्दु हैं। चूंकि स्वास्थ्य विकास का अभिन्न अंग है, इसलिए समाज के सभी क्षेत्रों का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में, अब स्वास्थ्य सेवाओं को केवल चिकित्सा उपायों के एक समूह मात्र के रूप में नहीं माना जाता बल्कि इसे समग्र सामाजार्थिक प्रणाली के एक उपांग के रूप में समझा जाता है। अंतिम निष्कर्ष यही है कि मानव स्वास्थ्य और खुशहाली विकास के अन्तिम लक्ष्य हैं।

केरल राज्य से सीख

केरल भारत के दक्षिणी छोर पर स्थिति एक राज्य है, जिसकी आबादी तीन करोड़ तैंतीस लाख साठ हजार और जनसंख्या घनत्व 858 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी. है। केरल राज्य बहुत ही घना शायद बंगलादेश से भी ज्यादा घना बसा हुआ है। इसकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 83,725/- रु. (2011-12) है जो 60,603/- रु. के राष्ट्रीय औसत से अधिक है। केरल ने स्वास्थ्य और सामाजिक विकास के कतिपय महत्वपूर्ण उपायों के मामले में सभी भारतीय राज्यों को पीछे छोड़ दिया है। इसे निम्नलिखित तालिका में दिखाया गया है—

तालिका: केरल और अखिल भारतीय स्वास्थ्य सांख्यिकी की तुलना

	केरल	अखिल भारतीय
मृत्यु दर/1000 (2012)	6.9	7.0
ग्रामीण जन्म दर (2012)	15.1	23.1
शिशु मृत्यु दर (2012)	12.0	42.0
वार्षिक वृद्धि दर, प्रतिशत (2012)	0.8	1.45
जन्म के समय उत्तरजीविता (2011-15) (अनुमान) पुरुष	73.2	67.3
महिला	77.6	69.1
साक्षरता दर, प्रतिशत (2011)	90.92	74.04
महिला साक्षरता दर (2011)	91.98	65.46
विवाह के समय औसत आयु, महिला (2012)	22.9	21.2
प्रति व्यक्ति आय (2011-12)	83,725 रु.	60,603 रु.

समता-मूलक सामाजार्थिक विकास की दिशा में मजबूत राजनीतिक कटिबद्धता के साथ, आय के सामान्य स्तर से भी स्वास्थ्य का स्तर हासिल किया जा सकता है। इसलिए देश में स्वास्थ्य के स्तर का अनुमान लगाने के लिए केरल को एक पैमाना माना जा सकता है।

अध्ययनों से पता चला है कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रयासों को अन्य क्षेत्रों में विकास के द्वारा साथ-साथ मजबूती प्रदान की गई थी। साक्षरता (विशेषकर महिला साक्षरता) ने स्वास्थ्य स्थिति में सुधार लाने में अहम भूमिका निभाई है। स्वास्थ्य सुविधाओं के अधिकाधिक उपयोग का श्रेय साक्षरता को दिया जा सकता है। समाज कल्याण के लिए चलाए गए दीर्घकालिक कार्यक्रमों ने न केवल शिक्षा का स्तर उठाया, बल्कि सामाजिक बुनियादी ढांचे के साथ-साथ परिवहन तंत्र का भी विकास किया, जिससे सेवाओं तक पहुंच आसान बनी। भूमि सुधारों से गरीब लोगों को परिवार स्तर पर खाद्यान्न उत्पादन के लिए भू-संसाधन उपलब्ध कराए। केरल ने यह सिद्ध किया है कि गरीब राज्य

कम लागत पर अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं लेकिन इसके लिए दृढ़ राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबद्धता जरूरी है।

2.6: स्वास्थ्य विकास

स्वास्थ्य विकास को “जन समुदाय के स्वास्थ्य स्तर में सतत् प्रगामी सुधार की प्रक्रिया” के रूप में परिभाषित किया गया है। मानव खुशहाली का बढ़ता स्तर इसका प्रतिफल कहलाता है, केवल बीमारी के बोझ में कमी से ही नहीं, बल्कि संतोषजनक आर्थिक कार्यकलाप और सामाजिक एकीकरण के लिए आवश्यक सामान्य शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति से भी इसकी पहचान होती है।

चिकित्सा देखभाल के प्रावधान से पृथक स्वास्थ्य विकास की अवधारणा, हालिया वर्षों की राजनीतिक सोच का परिणाम है। यह इस मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित है कि अपने लोगों के स्वास्थ्य का जिम्मा सरकार पर है और साथ ही लोगों का भी यह अधिकार और कर्तव्य होना चाहिए कि वे व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से अपने स्वयं के स्वास्थ्य के विकास में सहभागी बनें। स्वास्थ्य सामाजिक और आर्थिक विकास का परिणाम भी है और इस विकास में योगदानकर्ता भी है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था ने अपने कार्यक्रमों और नीतियों में स्वास्थ्य विकास पर निरन्तर जोर दिया है। इसके लिए विश्व बैंक का एक उदाहरण दिया जा सकता है। बैंक आर्थिक विकास से संबंधित कार्यक्रमों के स्वास्थ्य से जुड़े घटक के लिए निधियां उपलब्ध करा रहा है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) भी विश्व बैंक की तरह स्वास्थ्य विकास में बढ़-चढ़ कर रुचि ले रहा है।

2.7 सारांश

इकाई के अध्ययन के उपरान्त—

1. आप स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार व माडलों की अवधारणा के बारे में स्पष्ट हो चुके हैं।
2. स्वास्थ्य के निर्धारित वेरियेबल्स व सामाजिक व आर्थिक कारकों के बारे में परिचित हो चुके हैं।
3. इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप स्वास्थ्य व विकास के बीच परस्पर सम्बन्धों को पहचान चुके हैं।
4. साथ ही आप स्वास्थ्य विकास की अवधारणा के बारे में स्पष्ट हो चुके हैं।

2.8 शब्दावली

स्वास्थ्य के प्रतिमान (Health Models) : स्वास्थ्य विभिन्न प्रतिमानों में जैव चिकित्सा प्रतिमान (मॉडल) की शानदार सफलता से चिकित्सा प्रौद्योगिकी के द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य से जुड़ी कुछ प्रमुख समस्याओं जैसे— कुपोषण, दुर्घटना, नशे की लत, मानसिक रोग, पर्यावरणीय प्रदूषण, पुरानी बीमारियां तथा जनसंख्या विस्फोट इत्यादि का निदान नहीं हो पाया है। अतः स्वास्थ्य की निरन्तरता हेतु अन्य प्रतिमानों (मॉडल्स) जैसे— पर्यावरण मॉडल (पारिस्थिकीय), मनोवैज्ञानिक मॉडल तथा

होलिस्टिक मॉडल पर भी ध्यान गया है। क्योंकि स्वास्थ्य जैविक तथा सामाजिक तथ्य दोनों का ही विषय हैं।

होलिस्टिक (Holistic) : साकल्यवादी (होलिस्टिक) प्रतिमान सभी अवधारणाओं का मिला-जुला रूप है। यह स्वास्थ्य पर सामाजिक, राजनीतिक और पर्यावरणीय प्रभाव को स्वीकार करता है। इसमें अलग-अलग तरीके से स्वास्थ्य को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। साकल्यवादी विचारधारा कहती है कि समाज के सभी क्षेत्र, विशेषकर कृषि, पशुपालन, खाद्यान्न, उद्योग, शिक्षा, आवास, लोक कार्य, संचार आदि स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालते हैं। इसमें स्वास्थ्य संवर्धन और संरक्षण पर जोर दिया गया है।

2.9 अभ्यास प्रश्न

1. आर. डुबोस की पुस्तक का नाम क्या है?

(अ) मैन एडेप्टिंग	(ब) टूवार्ड्स ए न्यू डैफिनेशन ऑफ हैल्थ
(स) सोसियोलॉजी ऑफ हैल्थ	(द) हैल्थ फार आल
2. स्वास्थ्य के प्रमुख प्रतिमान हैं?

(अ) 3	(ब) 5	(स) 4	(द) 6
-------	-------	-------	-------
3. स्वास्थ्य संवर्धन के ओटावा चार्टर में कितने क्षेत्रों को शामिल किया गया है?

(अ) 7	(ब) 5	(स) 6	(द) 4
-------	-------	-------	-------
4. केरल राज्य में प्रति व्यक्ति आय है—

(अ) 60,603 /—	(ब) 55,290 /—	(स) 83,725 /—	(द) 1 लाख से अधिक
---------------	---------------	---------------	-------------------

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

- | | | | |
|--------|--------|--------|--------|
| 1. (अ) | 2. (स) | 3. (ब) | 4. (स) |
|--------|--------|--------|--------|

2.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7. डुबोस, आर. (1965), मैन एडेप्टिंग, न्यू हैवेन, येले यूनी. प्रेस
8. डुबोस, आर. (1969), डब्लूएचओ क्रोनिकल, 23:499
9. डोनाल्ड, सी.ए. एट एल (1978), सोसल हैल्थ, इन: कॉन्सैप्टुलाइजेशन एण्ड मेजरमेंट ऑफ हैल्थ फार एडल्ट्स इन द हैल्थ इन्श्युरेन्स स्टडी, सान्ता मोनिका, सीए, रैन्ड कार्पोरेशन
10. जुकानोविच, वी एण्ड माच इ पी (1975), अल्टरनेटिव एप्रोचेज टू मीटिंग बेसिक हैल्थ नीड्स इन डवलपिंग कन्ट्रीज, ए ज्वाइंट यूनीसेफ/डब्लूएचओ स्टडी
11. नागपाल, आर. एण्ड सैल, एच. (1985), सब्जैक्टिव वैलबिडिंग, रैगुलर हैल्थ पेपर नं. 7 डब्लूएचओ— सियरो, नई दिल्ली

- 12- के. पार्क (2015), पार्क'स टैक्स्ट बुक ऑफ सोशियल एण्ड प्रीवेंटिव मेडीसिन 23 एडीशन, बनारसी दास भनोट पब्लिशर्स .

2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9. अहमद, एण्ड कोल्हो (1979), टू वर्ड्स ए न्यू डैफिनेशन ऑफ हैल्थ, प्लेयूम, एन वाई
10. बनर्जी (1985), हैल्थ एण्ड फ़ैमिली प्लानिंग सर्विस इन इंडिया, लोकपक्ष, नई दिल्ली
11. आईसीएसएसआर एण्ड आईसीएमआर (1981), हैल्थ फार आल, ऐन अल्टरनेटिव स्ट्रटेजी, वोलन्ट्री हैल्थ एसोसिएशन ऑफ इंडिया, नई दिल्ली
12. टवॉडल, ए सी एण्ड हैसलर, आर एम (1977), सोसियोलॉजी ऑफ हैल्थ, सैन्ट लुइस, मोसबी
13. लास्ट, जे एम (1983), ए डिक्सनरी ऑफ इपिडिमीयोलॉजी, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस
- 14- रेटक्लिफ, जॉन (1984), इन: प्रैक्टिसिंग हैल्थ ऑफ ऑल, डेविड मोरले, एट एल (एडि), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- 15- मोरिस, डी एन एण्ड निचेल, वी एस (1982), मिजरिंग द कंडीशन ऑफ इंडियाज पुअर्स, पीक्यूएलआई, प्रोमिला एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
16. नोबल, जॉन (1976), प्राइमरी केयर एण्ड प्रैक्टिस ऑफ मेडिसिन, लिटिल ब्राउन, बोस्टन

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वास्थ्य के प्रकार व प्रतिमान (मॉडल्स) पर एक निबन्ध लिखिए?
2. स्वास्थ्य के प्रमुख निर्धारकों को स्पष्ट कीजिए?
3. स्वास्थ्य के सामाजिक व आर्थिक निर्धारकों को विस्तार पूर्वक बतायें?
4. स्वास्थ्य सम्बन्धी उद्घोषणा के प्रमुख अवयवों को स्पष्ट करें?
5. स्वास्थ्य और विकास के पारस्परिक सम्बन्ध तथा स्वास्थ्य विकास के प्रमुख पहलुओं का वर्णन करिये?

इकाई 3: स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक : सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक
(Factors Affecting Health: Social, Economical and Cultural)

इकाई की रूपरेखा (Outline of Unit)

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 सामाजिक और सांस्कृतिक वेरिएबल्स का स्वास्थ्य पर प्रभाव

(i) सामाजिक स्तर और स्वास्थ्य

(ii) शैक्षिक स्तर

(iii) आय

(iv) पेशागत या व्यवसायगत स्तर

(v) सामाजिक नेटवर्क, सामाजिक सहयोग और स्वास्थ्य

(vi) कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल और स्वास्थ्य

(vii) असामाजिक माहौल (पर्यावरण) द्वारा प्रभावित स्वास्थ्य के पहलू

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्न

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 उद्देश्य

स्वास्थ्य के बारे में आधिकारिक आंकड़े जुटाने और इन्हें संरक्षित रखने का कार्य जब से शुरू हुआ है, उससे पहले भी सामाजिक-आर्थिक स्तर (एसईएस) और गरीबी जैसे कुछ सामाजिक परिवर्ती (वेरिएबल्स) और स्वास्थ्य के बीच एक सह-सम्बन्ध था, ऐसे ठोस सबूत हैं। पिछले 30 वर्षों के दौरान सामाजिक नेटवर्क और सामाजिक सहयोग अथवा व्यवसाय या कार्य-जनित तनाव जैसे अन्य वेरिएबल्स का स्वास्थ्य के साथ सम्बन्ध के बारे में अनेक सबूत जुटाए जा चुके हैं।

इस इकाई का उद्देश्य उन सामाजिक वेरिएबल्स के बारे में जानकारी उपलब्ध कराना है, जिन पर स्वास्थ्य में इनके योगदान (इनपुट) के नजरिए से शोध किया जा चुका है। और साथ ही इन वेरिएबल्स को मापने के तरीकों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी निष्कर्षों से प्रत्येक वेरिएबल को जोड़ने वाले अनुभवजन्य सबूतों को समझाना है।

3.2 प्रस्तावना

स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारक आजीवन अनेक स्तरों पर स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के तौर पर गरीबी को ही लीजिए। यह एक ऐसा अनुभव है जो परिवारों के अन्दर या समुदाय या समूह, जिसमें वह रहता है जैसे अनेक स्तरों पर व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। इसके अलावा ये अलग-अलग स्तर के प्रभाव एक साथ और एक-दूसरे के साथ परस्पर-क्रिया के द्वारा व्यक्तियों के स्वास्थ्य का स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति गरीब परिवार में पल-बढ़ रहा है तो उसके स्वास्थ्य पर गरीबी का प्रभाव तब और बढ़ जाता है जब वह परिवार किसी लाभ वंचित समुदाय (जहाँ अन्य परिवार भी गरीब हैं) के बीच रह रहा हो और यदि यह परिवार किसी मध्य-वर्गीय समुदाय के बीच रह रहा है तो स्वास्थ्य पर उस गरीबी का प्रभाव अपेक्षाकृत कम होगा। इसके अतिरिक्त, गरीबी जीवन के अलग-अलग चरणों (अर्थात् शैशवकाल और बाल्यावस्था, गर्भावस्था के दौरान या वृद्धावस्था के दौरान) में अलग-अलग प्रभाव डालती है।

स्वास्थ्य अनेक कारकों द्वारा निर्धारित होता है। इनमें अनुवांशिक विरासत, व्यक्तिगत व्यवहार, बेहतर स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं की उपलब्धता तथा बाह्य पर्यावरण (जैसे हवा, पानी की गुणवत्ता और आवासीय परिस्थितियाँ) आदि शामिल हैं। इसके अलावा, अनेक शोधों के द्वारा स्वास्थ्य तथा सामाजिक और आर्थिक कारकों के बीच सम्बन्ध का भी पता लगाया गया है।

3.3 सामाजिक और सांस्कृतिक वेरिबल्स का स्वास्थ्य पर प्रभाव

स्वास्थ्य से संबंधित सामाजिक और सांस्कृतिक वेरिबल्स के प्रभाव में दोनों आयाम यानि समय (जीवन के महत्वपूर्ण चरण और संचित असुरक्षा के प्रभाव) तथा स्थान (अनेक स्तर की असुरक्षा) शामिल हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्ती (वेरिबल्स) जिन संदर्भों में स्वास्थ्य संबंधी निष्कर्षों को प्रभावित करने के लिए कार्य करते हैं, उन्हें मूलतया: सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण कहा जाता है।

हालिया वर्षों में समाज विज्ञानियों और समाज मरक-विज्ञानियों (एपिडेमियोलॉजिस्ट) ने स्वास्थ्य के पूर्ववृत्त अर्थात् स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक वेरिबल्स को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया है। इन वेरिबल्स में सामाजिक-आर्थिक स्तर (एसईएस), नस्ल/प्रजाति, महिला-पुरुष की भूमिका, आप्रवासन का स्तर और संस्कृति-संक्रमण, गरीबी और अपवंचन, सामाजिक तंत्र और सामाजिक सहयोग, कार्यकरण के लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण, और आय-वितरण, सामाजिक सम्बद्धता, सामाजिक पूंजी और सामूहिक क्षमता जैसी सामाजिक वातावरण की विशेषताएं शामिल हैं। स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारकों के बारे में आधुनिक शोध कार्यों का व्यापक विवरण मौजूदा पाठ्य-पुस्तकों में उपलब्ध है। इस अध्याय में कुछ चुनींदा सामाजिक

वेरिबल्स-एसईएस, कार्यकरण का मनोवैज्ञानिक वातावरण और सामाजिक तंत्र/ सामाजिक सहयोग के बारे में शोध-निष्कर्षों पर प्रकाश डाला गया है। इन वेरिबल्स को इसलिए चुना गया है, क्योंकि इनका स्वास्थ्य के साथ गहरा सम्बन्ध है, इन वेरिबल्स को मापने के विश्वसनीय तथा तथ्यपूर्ण तरीके उपलब्ध हैं, और यह मानने के अनेक कारण हैं कि ये वेरिबल्स स्वास्थ्य स्तर को प्रभावित करने के लिए व्यवहार तथा विरासत में मिली विशेषताओं के साथ परस्पर क्रिया करते हैं।

(i) सामाजार्थिक स्तर और स्वास्थ्य : सदियों से यह मान्यता चली आ रही है कि स्वास्थ्य और एसईएस के बीच एक सह-सम्बन्ध है। अलग-अलग समाजों में और विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य निष्कर्षों के लिए, स्वास्थ्य के क्षेत्र में सामाजिक-आर्थिक अन्तर बहुत व्यापक और विशाल है तथा निरन्तर बने हुए हैं। समाज विज्ञान में, एसईएस को तीन अलग-अलग संकेतकों यानि शैक्षिक स्तर, आय और व्यवसाय-स्तर के द्वारा मापा जाता है। इसके लिए, इनका अलग-अलग और एक साथ भी उपयोग किया जाता है। हालांकि ये संकेतक सामान्य तौर पर एक-दूसरे से जुड़े हैं लेकिन प्रत्येक संकेतक सामाजिक स्थिति के एक खास पहलू की जानकारी जुटाता है और एक विशिष्ट कार्य-प्रणाली (मैकेनिज्म) के जरिए प्रत्येक संकेतक स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य-व्यवहार के साथ सम्भवतः जुड़ा हुआ है।

(ii) शैक्षिक स्तर: किसी की शैक्षिक योग्यता को आंकने के लिए आमतौर पर दो प्रश्न पूछे जाते हैं—

- (1) कितने वर्ष की स्कूली शिक्षा पूरी की है और;
- (2) कौन सी शैक्षिक उपाधियां हासिल की हैं।

शिक्षा की गुणवत्ता भी स्वास्थ्य के लिए प्रासंगिक हो सकती है, लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह आकलन कितना सटीक है। शोध कार्यों, दस्तावेजों ने स्वास्थ्य-निष्कर्षों यानि मृत्यु दर, रुग्णता, स्वास्थ्य की स्थिति और कार्यकरण की सीमितताओं को शिक्षा से जोड़ा है। निम्न शैक्षिक स्तर और खराब स्वास्थ्य का नाता आजीवन बना रहता है। उदाहरण के लिए 12 वर्ष या इससे कम की स्कूली शिक्षा प्राप्त काकेशियाई (काकेशियन) माता के नवजात शिशु की उसके पहले जन्मदिन से पूर्व मृत्यु की संभावना, 16 वर्ष या अधिक की स्कूली शिक्षा प्राप्त माता की तुलना में 2.4 गुना ज्यादा होती है। माता की शिक्षा और शिशु मृत्यु दर के बीच सम्बन्ध को, "तिर्यक (ग्रेडिएण्ट) के रूप में व्यक्त किया गया है यानि यदि शैक्षिक स्तर कम है तो शिशु-मृत्यु की संभावना ज्यादा होगी। शैक्षिक विषमताओं का यह पैटर्न सभी नस्लों/प्रजातियों जैसे अफ्रीकी-अमेरिकन, हिस्पानिक, अमेरिकन-इंडियन और एशियाई/प्रशान्त द्वीपीय शिशुओं में देखा गया है। शैक्षिक स्तर का यह रुझान जीवन के सभी चरणों जैसे कि बाल्यावस्था-स्वास्थ्य (धूम्रपान, एकाकी जीवन शैली और मोटापा, रक्त में लड (सीसा) का बढ़ा हुआ स्तर), प्रौढ़ावस्था-स्वास्थ्य (25 से 64 वर्ष की आयु के बीच मृत्यु दर) और वृद्धावस्था स्वास्थ्य (डायबिटीज और उच्च तनाव की वजह से कार्यकरण सीमित हो जाना) में भी देखा गया है।

इन पर्यवेक्षित आंकड़ों में शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच नजर आने वाला सह-सम्बन्ध का मतलब 'कारण-कार्य' वाला सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, निम्न शैक्षिक स्तर और प्रौढ़ावस्था के दौरान असामायिक मृत्यु का ज्यादा जोखिम (अलग-अलग देशों में किए गए अध्ययन में भी) यह सम्बन्ध हो सकता है, आंशिक रूप से "कार्य-कारण" के विपरीत प्रभाव दिखाए यानि बचपन के दौरान गम्भीर बीमारी की वजह से वह व्यक्ति अपनी अपेक्षित स्कूली शिक्षा किशोरावस्था में पूरी न कर सका हो और केवल इसी वजह से असामायिक मृत्यु के उच्च जोखिम वाली श्रेणी में आ गया हो। अब इसके विपरीत नजरिए से देखते हैं, शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच का सह-सम्बन्ध एक तीसरे वेरिएबल (परिवर्ती) जैसे कि "योग्यता" के द्वारा प्रभावित हो और आंशिक रूप से एक भ्रामक निष्कर्ष दे। "योग्यता" शैक्षिक और स्वास्थ्य-स्तर दोनों का एक प्राथमिक साझा कारण है। हालांकि, इसकी सम्भावना बहुत कम है, लेकिन कुछ चरम मामलों में यदि शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच सह-सम्बन्ध को इस "भ्रामक" स्थिति के साथ पूरी तरह से कारण-स्वरूप ले लिया जाए तो व्यक्ति का शैक्षिक-स्तर सुधार उस व्यक्ति के स्वास्थ्य-सुधार में कोई सहायता नहीं करेगा।

तथापि, सभी साक्ष्य या सबूत यह अवश्य दर्शाते हैं कि शिक्षा स्वास्थ्य में सुधार का एक कारक परिवर्ती है। संयुक्त राज्य अमरीका में एक स्वाभाविक नीतिगत परीक्षण किया गया था, इसमें अलग-अलग समय में अलग-अलग स्थानों के लिए अनिवार्य स्कूली शिक्षा का विधान पारित किया गया। इस परीक्षण से संकेत मिले कि उच्च शैक्षिक स्तर बेहतर स्वास्थ्य (कम मृत्यु दर) से जुड़ा है। इसके अलावा, स्कूल-पूर्व शिक्षा के भी कुछ यादृच्छ परीक्षण किए गए। ऐसा ही एक परीक्षण हाई/स्कोप पेरी प्री-स्कूल परियोजना नाम से किया गया। इससे किशोरावस्था और वयस्क अवस्था में भी शिक्षा के लाभ जैसे कि किशोरावस्था में गर्भवती हो जाने के मामलों में कमी, हाईस्कूल में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या में गिरावट, बेहतर आय और रोजगार की संभावनाएं (ये सभी स्वस्थ सुधार में सहायक हो सकते हैं) जैसे निष्कर्ष सामने आए। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि स्कूली शिक्षा और स्वास्थ्य के प्रभाव और स्कूली शिक्षा के स्तर तथा विरासत में मिली विशेषताओं के बीच परस्पर-क्रिया को दर्शाता है।

ऐसे अनेक कारणात्मक तरीकों की संकल्पना की गई है जिसके द्वारा उच्च स्तर की स्कूली शिक्षा स्वास्थ्य-परिणामों को बेहतर बना सकती है। इसमें स्वास्थ्य संवर्धन को बढ़ावा देने वाला ज्ञान और और कौशल हासिल करना (यानि बेहतर स्वास्थ्य के तौर-तरीके अपनाना); "स्वास्थ्य-जागरुकता" को बढ़ावा देना, और स्वास्थ्य-देखभाल सेवाओं तक आसान पहुंच; समाज में बेहतर दर्जा और सम्मान; और साथ ही उच्च स्कूली शिक्षा के मामले में महारत और नियंत्रण का आत्मविश्वास (यह एक मनोवैज्ञानिक पहलू है); आय और रोजगार की सम्भावनाओं पर शिक्षा का अप्रत्यक्ष प्रभाव शामिल है। हालांकि पुष्ट तौर पर यह नहीं कहा जा सकता है कि इनमें से कौन सा रास्ता स्वास्थ्य के लिए ज्यादा अहम है लेकिन स्वास्थ्य के बेहतर स्तर से जुड़ी स्कूली शिक्षा के समग्र पैटर्न में ये सभी

अपना योगदान दे सकते हैं। इसके अलावा, सबूतों से ऐसे संकेत मिले हैं कि वंचित वर्ग के बच्चों के स्वास्थ्य में सुधार के लिए एक साधन के तौर पर स्कूल-पूर्व शिक्षा तक पहुंच को आसान बनाना भी महत्वपूर्ण है।

(iii) आय : शैक्षिक स्तर का आकलन करने की तुलना में आय का आकलन करना जटिल है। आय की जानकारी जुटाने के लिए आयोजित सर्वेक्षणों की प्रश्नावली तैयार करते समय यह ध्यान रखा जाय कि इसमें निम्नलिखित तत्व अवश्य शामिल हों

(क) टाइम फ्रेम—उदाहरण के लिए मासिक, वार्षिक अथवा जीवनकाल के दौरान (आमतौर पर आय के आकलन की समय-सीमा जितनी कम होती है, त्रुटियों की सम्भावना उतनी ज्यादा होती है);

(ख) स्रोत, जैसे कि मजदूरी और वेतन, स्वरोजगार से आय, किराया, ब्याज और लाभांश, पेंशन, और सामाजिक सुरक्षा, बेरोजगारी भत्ता, निर्वाह-भत्ता और नगदी की बजाय कोई अन्य तरीका जैसे भोजन के कूपन (यह तरीका अमरीका में प्रचलित है);

(ग) माप की इकाई यानि आकलित आय व्यक्तिगत है या पूरे परिवार की है (परिवार के मामले में परिवार के आकार को समायोजित किया जाना चाहिए) और

(घ) यह आय सकल आय है या शुद्ध आय है (कर तथा ट्रान्सफर भुगतान आदि शामिल हैं या नहीं)। इसके अलावा, इसमें आय आकलन त्रुटियों की सम्भावना ज्यादा (शैक्षिक स्तर की तुलना में) होने के अलावा जनसाधारण द्वारा आय की जानकारी देने से इन्कार करने के संभावना भी ज्यादा होती है।

जहां तक शिक्षा का सम्बन्ध है, अधिकांश शोध एवं सर्वेक्षण अध्ययनों ने स्वास्थ्य और शिक्षा के बीच सह-सम्बन्धों को पुख्ता तौर पर साबित किया है। उदाहरण के लिए पैनल स्टडी ऑफ इन्कम डायनामिक्स में शैक्षिक स्तर और व्यावसायिक स्तर को स्थिर मानने के बावजूद, यह पाया गया कि काम करने की आयु समूह में शामिल वयस्कों में मौत का 3.6 गुना जोखिम के उपरांत पारिवारिक आय से जुड़ा हुआ था। इस अध्ययन में शीर्ष (1984 में 70,000 डॉलर) और सबसे नीचे (15,000 डॉलर) की आय को तुलना के लिए शामिल किया गया था। आय और मृत्यु दर के बीच सह-सम्बन्ध को "तिर्यक (ग्रेडिएन्ट) के रूप में व्यक्त किया गया है (एडलर, 1984)। इसका तात्पर्य यह है कि खराब स्वास्थ्य का जोखिम केवल सरकार द्वारा तय गरीबी रेखा से नीचे के लोगों तक ही सीमित नहीं है। बल्कि व्यक्ति-विशेष के स्वास्थ्य में सुधार की संभावना (यानि असामयिक मृत्यु न होना) आय के स्तर में प्रगामी वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है (यद्यपि यह सह-सम्बन्ध आय के निम्न स्तर पर ज्यादा ढलवां नजर आता है और आय मध्यिका (मीडियन) स्तर से लगभग दुगनी होने पर यह "निर्यक" समतल हो जाता है। अलग-अलग डाटा-सेटों द्वारा तथापि स्वास्थ्य/आय के बीच

सह-सम्बन्ध के परीक्षण संकेत देते हैं कि आय का निम्न स्तर स्वास्थ्य के खराब स्तर का कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए पैनल स्टडी और इन्कम डायनामिक्स तथा नेशनल हेल्थ इन्टरव्यू सर्वे से यह तथ्य सामने आया है कि हालांकि, बच्चे परिवार की आय में आमतौर पर कोई योगदान नहीं दे लेकिन उनका स्वास्थ्य काफी कुछ परिवार की आय पर निर्भर करता है। इसके अलावा, बच्चों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाला यह प्रभाव उम्र बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता जाता है और किशोर या वयस्क होने पर उनका स्वास्थ्य स्पष्ट तौर पर खराब हो जाता है।

एक वैकल्पिक संभावना यह है कि आय और स्वास्थ्य के बीच सह-सम्बन्ध को एक तीसरे परिवर्ती जैसे कि विरासत में मिली योग्यता या क्षमता के द्वारा व्यक्त किया जाय। यह तीसरा परिवर्ती सामाजार्थिक परिवर्तनशीलता और स्वास्थ्य संरक्षण के तौर-तरीकों से जुड़ा है। तथापि, विरासतीय योग्यता भी आय/स्वास्थ्य के बीच सह-संबंध के लिए पूरी तरह जिम्मेदार नहीं मानी जा सकती। यदि आय/स्वास्थ्य के बीच सह-सम्बन्ध के लिए केवल विरासतीय क्षमता या योग्यता को जिम्मेदार माना जाए तो वे बच्चे जिनके वास्तविक माता-पिता कोई और हैं तथा किसी अन्य ने उन्हें गोद ले लिया है, ऐसी स्थिति में इन बच्चों के स्वास्थ्य और पारिवारिक आय के बीच कोई सह-सम्बन्ध की उम्मीद नहीं की जा सकती है (इस मामले में यह माना गया है कि गोद लेने वाले माता-पिता बच्चे की सामाजार्थिक परिस्थितियां तथा पृष्ठभूमि देखकर बच्चा गोद ले रहे हैं)। लेकिन राष्ट्रीय स्वास्थ्य सर्वेक्षण में यह पाया गया कि गोद लिए गए बच्चों को जन्म देने वाले मां-बाप द्वारा पाले-पोषे गए बच्चों के स्वास्थ्य पर पारिवारिक आय का एक जैसा प्रभाव पड़ा है (अध्ययन, 2002)। स्वास्थ्य के सह-सम्बन्ध से जुड़े अन्य प्रकार के परीक्षणों- जैसे कि अनुमानों के लिए परिवर्ती साधनों का इस्तेमाल (ऐटनर, 1996) और स्वाभाविक परीक्षणों के ऑब्जर्वेशन, जिनके निष्कर्षों में आय में बहिर्जातीय वृद्धि पायी गई (कॉस्टेलो, 2003), में भी यही निष्कर्ष मिले कि स्वास्थ्य-स्तर सुधार में उच्च आय के प्रभाव को "कारण-स्वरूप" माना जा सकता है। आय को स्वास्थ्य से जोड़ने वाले "कारण-स्वरूप" तरीके शिक्षा को स्वास्थ्य से जोड़ने वाले तरीकों से भिन्न हो सकते हैं। निश्चय ही व्यक्ति अपनी आय के द्वारा स्वास्थ्य संरक्षण के लिए आवश्यक विभिन्न वस्तुएं और सेवाएं (पोषक आहार, आवास गर्म रखने की सुविधा, स्वास्थ्य बीमा) खरीदने में सक्षम होता है। इसके अलावा, सुरक्षित आय व्यक्ति में अपने आसपास के वातावरण पर नियंत्रण और स्वामित्व का मनोवैज्ञानिक भाव पैदा करती है। यह भी देखा गया है कि यदि आय अच्छी हो तो व्यक्ति का व्यवहार भी स्वस्थ (जैसे कि सीट बेल्ट पहनना, घर में धूम्रपान न करना आदि) होता है, इस व्यवहार के लिए कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती है (हालांकि स्वास्थ्य और आय के बीच इन रिश्तों में निहित "कारण-स्वरूप" तंत्र क्या है, यह स्पष्ट नहीं है, लेकिन अनुमान है कि "पर्याप्त संसाधन न होने पर माता-पिता में वह उत्साह नहीं रहता जो उन्हें अपने बच्चों को जोर-जबरन सीट बेल्ट बांधने की ऊर्जा दे। गरीब

माता-पिता गरीबी से जुड़े तनाव और अवसाद से पार पाने के लिए घर में भी धूम्रपान कर सकते हैं)।”

सामाजिक स्वास्थ्य से जुड़े विद्वानों के बीच यह बहस अभी भी जारी है कि स्वास्थ्य के लिए निरपेक्ष आय ज्यादा अहम है या सापेक्ष आय। निरपेक्ष आय का सिद्धान्त कहता है कि व्यक्तिगत स्तर की स्वस्थता उसकी अपनी और केवल अपनी (निरपेक्ष) आय पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, गरीबी से संबंधित अनेक परिभाषाओं में निरपेक्ष रूप से अभिव्यक्त न्यूनतम जीवन स्तर के लिए आवश्यक जरूरतों को पूरा न कर पाने की अवधारणा को आधार बनाया गया है। इसके विपरीत, आय का सापेक्ष सिद्धान्त कहता है कि व्यक्ति विशेष की आय और उसके आसपास के लोगों की आय के बीच सापेक्ष अन्तर उस व्यक्ति के स्वास्थ्य का निर्धारण करता है।

सापेक्ष आय के सिद्धान्त को अनुभवजन्य शोध में अपनाया गया है। इसके लिए सापेक्ष वंचन (व्यक्तिगत स्तर पर) के पैमाने और आय असमानता (सामुदायिक स्तर पर) के सकल पैमाने को जरिया बनाया गया है। सापेक्ष वंचन पैमाने में लोगों को उनकी आय, पेशा और आवासीय समुदाय के रूप में अलग-अलग समूहों में रखा गया और इन समूहों में शामिल लोगों की आय के बीच अन्तर को आंका गया है और तुलना की गई है। निरपेक्ष आय और स्वास्थ्य के बीच संबंध में अन्तरनिहित “कारण-स्वरूप” तंत्र स्वास्थ्य-संरक्षण के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं और सेवाओं तक पहुंच की क्षमता से जुड़े हैं। सापेक्ष आय की अवधारणा में आय को व्यक्ति-विशेष की सामाजिक तुलना और साथ ही उपभोग मानक स्तर हासिल न कर पाने की वजह समाज में पूर्ण सहभागिता न होने से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक तनाव के माध्यम से स्वास्थ्य से जोड़ा गया है। अनेक सबूतों से ऐसे संकेत मिले हैं कि सापेक्ष वंचन (लोगों में आंका गया) और स्वास्थ्य के खराब परिणाम के बीच सह-सम्बन्ध विद्यमान है। तत्संबंधित एक अध्ययन में आय के सामाजिक वितरण (सापेक्ष वंचन का एक सकल सूचकांक) को व्यक्ति-विशेष स्वास्थ्य-परिणाम से जोड़ने का प्रयास किया गया है, हालांकि, इस क्षेत्र के निष्कर्षों पर विवाद जारी है (सुब्रमनियन और कवाची, 2004, लिन्च एट एल, 2004)।

स्वास्थ्य अनुसंधान में पारिवारिक आय जैसे परिवृत्य के अलावा विरासत में प्राप्त सम्पत्ति सहित अन्य सम्पत्ति, बचत, अपना घर या अपना वाहन जैसे अन्य परिवृत्य भी उपयोगी हो सकते हैं (बर्कमैन और मैकिन टायर, 1997)। आय एक निर्धारित अवधि में संसाधनों के प्रवाह का परिचायक है और सम्पदा किसी एक निर्धारित समय-काल में सम्पत्तियों (देनदारियां हटाकर) का संकलन है और इस प्रकार आर्थिक संग्रहण का परिचायक है। अध्ययनों में सम्पदा का आकलन विशेष महत्व रखता है। इसमें उन परिसम्पत्तियों का आकलन किया जाता है जो व्यक्ति ने अपने सक्रिय जीवनकाल में अर्जित की हैं और सेवानिवृत्त होने के बाद अपनी इन बचतों पर निर्भर है। उदाहरण के लिए, पैनल स्टडी ऑफ इन्कम डायनामिक्स में पाया गया कि करोपरान्त पारिवारिक आय और सेवानिवृत्ति की आय के

उपरान्त वाले लोगों में मृत्यु दर के बीच कमजोर सह-संबंध है, जबकि सम्पदा आकलन से संकेत मिलते हैं कि इसका मृत्यु के जोखिम के साथ मजबूत सह-संबंध है (डंकन, एट एल, 2002)।

अंततः आय, गरीबी और अपवंचन के पैमाने का विस्तार किया गया है तथा इसमें एक और आयाम “स्थान” जोड़ा गया है। बहुस्तरीय अध्ययन अभिकल्पों का उपयोग करने वाले शोध कार्यों में आर्थिक स्तर की आसपास के वातावरण के परिणाम-रूप में संकल्पना की गई है (कवाची और बर्कमैन, 2003)। इन अध्ययनों से पता चला है कि वंचित (अत्यंत गरीब) बस्तियों में निवास करने से व्यक्तिगत एसईएस (सामाजिक आर्थिक स्तर) के प्रभाव से परे स्वास्थ्य को अतिरिक्त जोखिम का सामना करना पड़ता है। अभी हाल ही में आवास तथा शहरी विकास विभाग ने बस्ती बदलने का स्वास्थ्य पर प्रभाव के बारे में एक यादृच्छ (रैण्डम) परीक्षण कराया था। इस अध्ययन का शीर्षक था अवसर की ओर अग्रसर होना। इस अध्ययन के निष्कर्ष पर्यवेक्षण के द्वारा जुटाई गई जानकारी के अनुरूप थे यानि एक गरीब बस्ती से निकल कर अपेक्षाकृत समृद्ध बस्ती में बसने से किशोरों के मानसिक स्वास्थ्य में तथा मोटापे की समस्या में उल्लेखनीय सुधार आया (क्लिंग एट एल, 2004)। गरीब बस्तियों में भौतिक, सामाजिक और सेवा से जुड़ा माहौल अनुकूल नहीं होता है, ये बस्तियाँ हैवी ट्रेफिक वाले आवागमन मार्गों के आसपास बसी होती है, इसलिए यहां वायु प्रदूषण बहुत अधिक होता है, यहां किराना स्टोर अस्पताल और शारीरिक गतिविधियों के लिए सुरक्षित स्थल जैसी सुविधाओं की कमी होती है, सामाजिक अव्यवस्था का खतरा बना रहता है (कवाची और बर्कमैन, 2003)। दूसरे शब्दों में, स्वास्थ्य निर्माण के लिए व्यक्ति-विशेष के परिवार का माहौल सामाजिक और आर्थिक रूप से प्रासंगिक तो होना ही चाहिए पर साथ ही जिस बस्ती या समुदाय में वह रह रहा है उसका सकल सामाजिक परिदृश्य भी स्वास्थ्य निर्माण के अनकूल होना चाहिए।

(iv)पेशागत या व्यवसायगत स्तर : समाज विज्ञानी सामाजिक आर्थिक स्तर के तीसरे मानक घटक, जिसे पेशागत या व्यवसायगत स्तर कहा जाता है, का भी आकलन करते हैं। संक्षिप्त रूप में कहा जाए तो इस घटक में प्रतिष्ठा का स्तर, अधिकार, शक्तियां तथा श्रम बाजार में विभिन्न पदों से जुड़े अन्य संसाधन शामिल हैं। आय की तुलना में व्यवसायगत स्तर को ज्यादा अहमियत प्राप्त है क्योंकि इसे आर्थिक संसाधनों तक स्थायी पहुंच उपलब्ध होती है।

स्वास्थ्य के लिए प्रासंगिक व्यवसाय के पहलुओं को आंकने के उद्देश्य से अलग-अलग विषयगत विद्वानों ने तीन प्रमुख परम्परागत तरीकों को अपनाया है। पारम्परिक पेशागत स्वास्थ्य के क्षेत्र में, शोधकर्ताओं ने रासायनिक, जहरीले पदार्थों अथवा शरीर को नुकसान पहुंचाने वाले कार्यों जैसे जॉब के शारीरिक पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया है (स्लोट, 1987)। व्यवसायगत स्वास्थ्य मनोविज्ञान और सामाजिक मरकविज्ञान के क्षेत्र में; शोधकर्ताओं ने कार्य के मनोवैज्ञानिक वातावरण, जॉब सुरक्षा के आकलन, जॉब की मनोवैज्ञानिक मांग तथा कार्य-प्रक्रिया पर नियंत्रण की पहचान तय करने पर

ध्यान केन्द्रित किया है (कारजेक और थिओरेल, 1990)। और अन्त में, समाजशास्त्रीय परम्परा में, व्यवसायगत स्तर जिसमें वस्तुपरक संकेतक (अलग-अलग कार्यों के लिए अपेक्षित शैक्षिक योग्यता) और व्यक्तिपरक संकेतक (व्यवसायगत पदानुक्रम में अलग-अलग कार्यों से जुड़ी प्रतिष्ठा का स्तर) दोनों ही पर ध्यान केन्द्रित किया गया है (बर्कमैन एण्ड मैकिनटायर, 1997)।

व्यवसायगत स्तर के आकलन के लिए आजकल अनेक वैकल्पिक तरीके मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, एडवर्ड वर्गीकरण (अमरीकी जनगणना ब्यूरो, 1963)। यह शारीरिक और गैर-शारीरिक व्यवसाय के बीच पेशागत अन्तर पर आधारित स्कीम है। वर्गीकरण यह प्रदर्शित करने के लिए उपयोग किया गया था कि जो बच्चे अपनी बाल्यावस्था में शारीरिक श्रम करने वाले परिवारों में पले-बढ़े हैं (गैर-शारीरिक श्रम वाले परिवारों की तुलना में), उन्हें किशोरावस्था या वयस्क आयु में हृदय रोग से पीड़ित होने की सम्भावना ज्यादा होती है। इसमें वे व्यक्ति शामिल नहीं हैं, जिन्होंने स्वयं अपने बूते पर सामाजिक, आर्थिक दर्जा हासिल कर लिया है (ग्लिकमैन एट अल, 1995)। डन्कन सामाजिक-आर्थिक सूचकांक (एसईआई) एक ऐसा वैकल्पिक तथा आमतौर पर उपयोग किया जाने वाला सूचकांक है जिसमें पेशागत प्रतिष्ठा को प्रत्येक पेशे से संबंधित शैक्षिक और आय-स्तर से जोड़ा गया है। सामाजिक-आर्थिक सूचकांक (एसईआई), जिसमें 0 से लेकर 100 तक का एक पैमाना है, इसे डंकन ने 1961 में तैयार किया था। इसमें 1947 के राष्ट्रीय अभिव्यक्ति अनुसंधान केन्द्र अध्ययन (नेशनल ओपिनियन रिसर्च सेन्टर स्टडी) के आंकड़ों का इस्तेमाल किया गया था। इस अध्ययन ने प्रतिनिध्यात्मक व्यवसायों की सापेक्ष प्रतिष्ठा रैंकिंग के बारे में जन-साधारण की राय बताई थी। इसके बाद इस रैंकिंग को जनसाधारण द्वारा परिभाषित व्यवसायों से जुड़े शैक्षिक तथा आय स्तर के बारे में अमरीकी जनगणना सूचना के साथ जोड़ा गया था। इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक-आर्थिक संकेतक से प्राप्त निष्कर्षों को अनेक बार अद्यतन बनाया जा चुका है (बर्गार्ड एट अल, 2003)। बिस्कॉन्सिन हाईस्कूल 1957 में शिक्षा प्राप्त पुरुष और महिलाओं (1992-1993 में 53 या 54 वर्ष की आयु) के बारे में विस्कॉन्सिन लॉगिट्यूडनल सर्वे में, डंकन एसईआई के स्कोर स्वास्थ्य, अवसाद, मनोवैज्ञानिक स्वस्थता और धूम्रपान का स्तर के बारे में स्वयमेव दी गई जानकारी के विलोम रूप से जुड़े थे। (मरमॉट एट एल, 1997)

शिक्षा और आय, दोनों का व्यवसायगत दर्जे के साथ सह-सम्बन्ध यह आंशिक रूप से विपरीत "कार्य-करण" प्रभाव दर्शा सकता है। यानि, खराब स्वास्थ्य (अवसाद या शराब का आदी होना) व्यवसायगत दर्जे में पतन ओर समाज में उत्थान की बाधा का प्रमुख कारण है। व्यक्ति-विशेष की व्यवसाय-पसंद भी स्वास्थ्य स्तर को प्रभावित करने वाले अन-आकलित परिवृत्य (जैसे योग्यता या क्षमता) को दर्शा सकती है। हालांकि नौकरी जाने (फैक्ट्री बन्द हो जाने के बारे में अध्ययन) का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले खराब प्रभाव को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है (कैल और जोन्स, 2000)। लेकिन इसकी तुलना में कुछेक शोध कार्यों ने व्यवसायगत प्रतिष्ठा और स्वास्थ्य पर पड़ने

वाले प्रभाव जैसे परिवृत्यों का “कारण-स्वरूप” प्रभाव भी दर्शाया है। जैसा कि उपर उल्लेख किया गया है, व्यवसायगत-स्तर को मापने वाले डंकन एसईआई (सामाजार्थिक संकेतक) जैसे पैमाने प्रतिष्ठा मापने वाले पैमाने और शिक्षा तथा आय के संकेतकों को मिला-जुला कर उपयोग करते हैं, जबकि शिक्षा और आय, स्वतंत्र रूप से (अलग-अलग) स्वास्थ्य स्तर को प्रभावित करते हैं। इसके अलावा, व्यवसायगत स्तर को मापने के लिए ईष्टतम समय-काल कौन सा होना चाहिए, इस बारे में भी अनिश्चितता है क्योंकि लोग अपने जीवनकाल में व्यवसाय बदलते रहते हैं। लोग अपने कैरियर के शुरुआती समय में समाज में अपने उत्थान को ध्यान में रखकर नौकरी बदलते रहते हैं, जबकि कैरियर के आखिरी वर्षों में इस बदलाव का कारण पेशे के दबाव को झेलने में अक्षमता भी हो सकता है (बर्गार्ड एट अल, 2003)। इस कारण से, किसी व्यक्ति का उसकी मृत्यु या बीमारी शुरु होते समय अंतिम पेशा, हो सकता हो, कि उसके व्यावसायिक कैरियर का सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय न हो। कुछ अध्ययनों में, मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन काल में उसके व्यवसायगत स्तर का उसके स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का आकलन किया गया है (बर्गार्ड एट अल, 2003); हालांकि कुछ तथ्यों से संकेत मिलते हैं कि कैरियर के अलग-अलग समयकाल में निरंतर व्यवसायगत निम्न दर्जा अथवा समय बीतने के साथ व्यवसायगत दर्जे में गिरावट का स्वास्थ्य के खराब परिणामों से सह-सम्बन्ध है।

व्यवसायगत स्तर को स्वास्थ्य निष्कर्षों से लिंक करने वाले जरिए शिक्षा या आय को स्वास्थ्य से लिंक करने वाले जरियों से बिल्कुल अलग हैं। पहला, व्यवसाय में यदि दर्जा ऊंचा होगा तथा रसायन, जहरीले पदार्थों के सम्पर्क में आने या शारीरिक नुकसान पहुंचने का जोखिम भी कम होगा। उच्च दर्जे वाले कार्यों में वहां का कार्यकरण वातावरण भी मनोवैज्ञानिक नजरिए से स्वस्थ होगा (कारसेक और थिओरल, 1990), नियंत्रण का स्तर भी ऊंचा होगा और साथ ही कौशल उपयोग के ज्यादा अवसर मिलेंगे (एकाधिकार की कमी)। आत्म नियंत्रण का भाव, दैनिक तनाव से निपटने में सहायक होता है और धूम्रपान या शराब की लत जैसी हानिकारक आदतों के पनपने की सम्भावना कम होगी। इसमें कोई शक नहीं कि पेशागत स्तर और स्वास्थ्य के बीच मध्य-मार्ग, उच्च आय तथा समाज में शक्तिशाली सम्पर्क जैसे अनेक संसाधनों तक पहुंच के अप्रत्यक्ष प्रभाव के बीच से गुजरता है।

संक्षेप में, ऐसे अनेक पुख्ता सबूत हैं जो एसईएस के प्रमुख संकेतकों को स्वास्थ्य-निष्कर्षों से जोड़ते हैं। शिक्षा, आय और व्यवसाय व्यक्ति-विशेष के स्वास्थ्य निष्कर्षों को ढालने में उसके जीवनकाल के दौरान सामाजिक संगठन (परिवार, आस-पड़ोस और उससे परे) के अनेक स्तरों पर एक दूसरे के साथ सह-क्रिया करते हैं।

(v) सामाजिक नेटवर्क, सामाजिक सहयोग और स्वास्थ्य : स्वास्थ्य का एक अनन्य निर्धारक हमारा समाज के अन्य लोगों के साथ सम्पर्क की सीमा, मजबूती और गुणवत्ता है। हमें स्वास्थ्य के

सामाजिक सम्पर्क की अहमियत को मान्यता एमिल दुर्खीम की कृतियों के समय से नजर आती है। हाल ही में जॉन बाउलबी (1969) ने कहा था कि सुरक्षित सामाजिक अनुरक्ति केवल, भोजन, स्नेह और अन्य भौतिक संसाधनों के लिए ही नहीं बल्कि प्रेम, सुरक्षा तथा मानव के सामान्य विकास के लिए आवश्यक अन्य अभौतिक संसाधनों के लिए भी जरूरी है (बर्कमैन और ग्लास, 2000)। जीवन के कुछ काल रिश्ते और सम्बन्ध बनाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं (फोनागी, 1996)। अनुरक्ति सिद्धान्त के अनुसार, शैशवकाल के दौरान सुरक्षित अनुरक्ति, नजदीकी प्रभावशाली रिश्ते कायम करने की मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती है। सामाजिक रिश्तों को वर्गीकृत करने में दो सामाजिक परिवृत्य काफी अहम हैं : सामाजिक नेटवर्क (तंत्र) और सामाजिक सहयोग। व्यक्ति-केन्द्रित सामाजिक संबंधों के जाल को सामाजिक नेटवर्क कहते हैं (बर्कमैन और ग्लास, 2000)। इसके आकलन में सामाजिक रिश्तों का ढांचागत पहलू शामिल है, जैसे कि आकार (नेटवर्क में शामिल सदस्यों की संख्या), घनिष्टता (सदस्य किस सीमा तक एक-दूसरे से जुड़े हैं), सम्बद्धता (ये सम्बन्ध किस दर्जे के हैं यानि कार्य से जुड़े या पास-पड़ोस से जुड़े) और समरूपता (सदस्य किस सीमा तक एक-दूसरे के समान हैं)। इसके आकलन में अन्य पहलू भी शामिल किए जा सकते हैं जैसे कि सम्पर्क की बारम्बारता, अन्योन्यता की सीमा और अवधि। सामाजिक नेटवर्क से लोगों को प्राप्त होने वाली विविध प्रकार की सहायता को सामाजिक सहयोग कहा गया है। इसे तीन अलग-अलग खण्डों में बांटा जा सकता है : साधनात्मक, भावनात्मक और सूचनात्मक सहयोग। साधनात्मक या साधन संबंधी सहयोग वह सहयोग है जो समाज के सदस्य अपने सामाजिक नेटवर्क से प्राप्त करते हैं जैसे कि नगद ऋण, श्रम आदि ठोस संसाधन। भावनात्मक सहयोग में कम प्रत्यक्ष लेकिन उतनी ही महत्वपूर्ण सहायता को शामिल किया गया है। इस सहयोग से लोगों को महसूस होता है कि उनका भी कोई अपना है और उनसे प्रेम करता है (जैसे कि एक-दूसरे पर भरोसा करना, समस्याओं पर चर्चा करना)। सूचनात्मक सहयोग : स्वास्थ्य, खुराक के बारे में सलाह या कैंसर की जांच की नई प्रणाली के बारे में नुस्खे जैसी बहुमूल्य सूचना के रूप में लोगों को मिलने वाली सहायता को सूचना सहयोग कहा गया है। सामाजिक नेटवर्क और सामाजिक सहयोग को आंकने के लिए अनेक सूत्र मौजूद हैं। इनमें से अनेक सूत्रों को मनोमति की कसौटी पर परीक्षण तथा पुनः परीक्षण से कसा जा चुका है और इन्हें विश्वसनीय पाया गया है एवं निष्कर्षों में अच्छी निरन्तरता देखी गई है। लेकिन इनकी यह कह कर आलोचना भी की जाती है कि इनमें सुस्थापित "खरे मानकों" की कमी है। चूंकि वर्तमान में अलग-अलग मानकों का उपयोग किया जा रहा है, इसलिए विभिन्न अध्ययन-निष्कर्षों की तुलना करना कठिन है।

सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग तथा स्वास्थ्य का सम्बन्ध दो तरीकों से परस्पर है। पहला, कोई बड़ी बीमारी (व्यक्ति में एचआईवी या अवसाद जैसे गम्भीर रोग का पता लगना) सामाजिक नेटवर्क और सामाजिक सहयोग में बदलाव का सम्भावित कारण बन सकता है। अवसाद का एक

विशेष लक्षण है कि व्यक्ति समाज से कटने लगता है, जबकि किसी व्यक्ति के एचआईवी से ग्रस्त होने का पता लगने पर उसके समाज के लोग उससे बचने की कोशिश करते हैं (इसका कारण इस रोग से जुड़ा कलंक है) या उसे सहयोग देने में जुट जाते हैं। दूसरा, सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग स्वास्थ्य निष्कर्षों पर एक साथ सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव डाल सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि उस व्यक्ति के सामाजिक दायरे में इंजेक्शन द्वारा नशीले पदार्थ के लती लोग शामिल हैं तो यह नेटवर्क स्वास्थ्य-संवर्धन वाला नहीं होगा। इसी प्रकार गाली-गलौज करने वाले दम्पति अथवा गाली-गलौज करने वाले माता-पिता नकारात्मक सामाजिक सहयोग का कारण बन सकते हैं। सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग तथा स्वास्थ्य के बीच सह-सम्बन्ध मिजाज (स्वभाव) अथवा व्यक्तित्व जैसा तीसरा परिवृत्य भ्रामक निष्कर्ष दर्शा सकता है।

कारणात्मक निष्कर्षों में त्रुटियों (अन्तर्जातियता अथवा परिवर्त्य रूझान को शामिल न करने के कारण) से पार पाने का सबसे ठोस तरीका यह है कि नियंत्रित परिस्थितियों में यादृच्छ (रैण्डम) परीक्षण किए जाएं। लेकिन, अभी तक इस सामाजिक सहयोग प्रावधान के यादृच्छ परीक्षणों के मिले-जुले निष्कर्ष ही प्राप्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, म्योकार्डियल इन्फैरेक्शन (राइटिंग कमेटी फॉर दी इएनआरआईसीएचडी इन्वेस्टीगेटर्स, 2003), स्ट्रोक (हृदयघात) तथा मेटास्टेटिक ब्रेस्ट कैंसर (गुडविन एट अल, 2001), जैसी गम्भीर बीमारियों के बाद हाल ही में बड़े पैमाने पर किए गए यादृच्छ परीक्षणों में नैदानिक निष्कर्षों (बेहतर उत्तरजीविता अथवा शारीरिक कार्यकरण में सुधार) के बारे में कोई लाभदायक प्रभाव प्राप्त नहीं हुए। लेकिन इन परीक्षणों के आधार पर यह कहना गलत होगा कि स्वास्थ्य पर सामाजिक सहयोग का कोई कारणात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, विशेष रूप से यह उल्लेख किया गया है कि सामाजिक सहयोग के बारे में पर्यवेक्षण (ऑब्जर्वेशन) सम्बन्धी ज्यादातर साक्ष्य स्वाभाविक रूप से बनने वाले नेटवर्कों से प्राप्त सहयोग को केन्द्र में रखते हैं जबकि अधिकांश सामाजिक सहयोग अजनबियों (अर्थात् मरीज को सहारा देने वाला समूह) के माध्यम से प्रदान करने के प्रयास किए जाते हैं (कोहेन एट एल, 2000)। इन परीक्षणों के माध्यम से किया गया "उपचार (ट्रीटमेंट)" हो सकता है कि, कम अवधि वाला और अपर्याप्त "खुराक (डोज)" वाला हो और इसका प्रभाव नैदानिक-निष्कर्षों पर पड़ा हो। मूल सार यह है कि सामाजिक सहयोग को मजबूत करने (नैदानिक-निष्कर्षों को प्रभावित करने के लिए) वाले उपाय अभी तलाशे जाने हैं (कोहेन, एट अल, 2000)।

मैकेनिज्म (तंत्र व्यवस्था) के नजरिए से हालिया शोधों से पता चला है कि सम्बद्ध कारक (एफिलिएटिव) व्यवहार का एक आधार प्राणिशास्त्र में निहित है। एनिमल मॉडल्स माता के अपने शिशु के प्रति स्नेह और जोड़ों में रहने जैसे विभिन्न सामाजिक व्यवहार सहज बनाने में न्यूरोपेप्टाइड ऑक्सीटॉसिन की भूमिका की ओर इशारा करते हैं (जैक एट एल, 2004)। यह देखा गया है कि सामाजिक सहयोग और ऑक्सीटॉसिन दवा देने से जन-संबोधन (पब्लिक स्पीकिंग) की झिझक कम

हुई है (हैनरिक एट अल, 2003)। न्यूरो-अर्थशास्त्र के उभरते क्षेत्र में, हाल ही में यह दिखाया गया कि नाक के द्वारा ऑक्सीटॉसिन दवा शरीर में प्रवेश कराने पर लोगों में परस्पर विश्वास में काफी वृद्धि हुई और फलस्वरूप सामाजिक परिचर्चा के फायदों में काफी बढ़ोत्तरी हुई (कोसफेल्ड एट अल, 2005)। यदि ऑक्सीटॉसिन वास्तव में समाज के अनुकूल व्यवहार के लिए जिम्मेदार एक जैविक तत्व है, तो ये शुरुआती निष्कर्ष सामाजिक सहयोग और स्वास्थ्य के सह-सम्बन्ध में अनुवांशिक-पर्यावरण की पड़ताल करने के लिए परीक्षण तथा प्रयोगशाला-आधारित अध्ययनों की उम्मीद जगाते हैं।

सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव की जांच-पड़ताल सामुदायिक स्तर पर भी की जा सकती है। सामाजिक सहक्रिया का एक समृद्ध नेटवर्क होने की वजह से समुदाय तथा अन्य सामाजिक समूहों (जैसे कि कार्यस्थल) के सदस्यों को उपलब्ध संसाधनों को "सामाजिक पूंजी" की अवधारणा के रूप में परिभाषित किया गया है (कवाची एट अल, 2004)। सामाजिक पूंजी के आकलन में दो घटकों पर विशेष जोर दिया गया है। सामाजिक पूंजी के ढांचागत घटक में सह-सम्बद्धता सम्बन्धी कड़ियों (लिंक) की सीमा और प्रगाढ़ता तथा समाज में कार्य-कलाप (यानि नागरिक संस्थानों की संख्या, अनौचारिक सामाजिक स्नेहशीता के उपाय, नागरिक सहयोग के संकेतक) शामिल हैं। संज्ञानात्मक घटक, विश्वास, आदान-प्रदान और अन्योन्यता (रेसीप्रोकैटी) के बारे में लोगों की अवधारणा का आकलन करता है (हरफम एट अल., 2002)। अनेक बहुस्तरीय अध्ययनों में यह पाया गया है कि सामाजिक पूंजी के सामुदायिक स्टॉक और व्यक्ति-विशेष के स्वास्थ्य निष्कर्षों (जैसे कि मृत्यु दर स्व-आकलित (सेल्फ रेटेड) स्वास्थ्य, स्वास्थ्य से जुड़ी कुछ आदतों), व्यक्ति विशेष की सामाजार्थिक विशेषताओं के बीच एक सह-सम्बन्ध है (कवाची एट अल, 2004)। हालांकि, इस क्षेत्र में कार्य-कारण संबंध के बारे में अभी विवाद है (पर्सी एण्ड स्मिथ, 2003), लेकिन प्रतीत होता है कि ऐसे आधार मौजूद हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जो समुदाय सामाजिक रूप से जितना ज्यादा जुड़ा होगा (सामाजिक पूंजी का ज्यादा स्टॉक इसका सबूत है) वह अपने सदस्यों की स्वास्थ्य रक्षा में और अपने सदस्यों के पथ-विमुख व्यवहार यानि बच्चों द्वारा धूम्रपान, मदिरापान को नियंत्रित करने में उतना ही ज्यादा सक्षम होगा और साथ ही परस्पर फायदे के लिए सामूहिक कदम (उदाहरण के लिए सामूहिक स्थलों पर धूम्रपान निषेध करने का आदेश) भी उठा सकेगा। इसलिए सम्भवतः सामाजिक पूंजी और सामाजिक जुड़ाव "सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण या माहौल" की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं जो अन्ततः स्वास्थ्य उपलब्धता के पैटर्न को प्रभावित करती हैं।

(vi) कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल और स्वास्थ्य : कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल, विशेषकर कार्य-संबंधित तनाव अनेक प्रकार के स्वास्थ्य-निष्कर्षों जैसे कि हृदय रोग, माशपेशियों की खराबी और मानसिक रोग आदि का कारण बन सकता है (मर्मोट और विल्किन्सन, 2006)। शोध कार्यों में

कार्य से जुड़े तनाव के दो स्वरूपों (मॉडल) पर विशेष ध्यान दिया गया है : कार्य की मांग-नियंत्रण स्वरूप (कारसेक और थिओरेल, 2000) और प्रयास-पुरस्कार असंतुलन स्वरूप (सीगरिष्ट एट एल., 1986)। मांग नियंत्रण स्वरूप (मॉडल) बताता है कि उच्च मनोवैज्ञानिक और कम नियंत्रण (फैसले लेने और अपने कौशल का उपयोग करने का अधिकार न होना) श्रमिकों के लिए तनाव का कारण बनता है और यहीं से बीमारी (जैसा कि उच्च मानसिक तनाव और हृदय रोग) की शुरुआत होती है (मरमॉट और विल्किंसन् 2006)। समुदाय आधारित अध्ययनों के लिए जॉब (कार्य) की मांग और जॉब नियंत्रण को मापने के लिए एक-एक प्रश्नावली तैयार कर ली गई है और इसकी विश्वसनीयता की पुष्टि भी हो चुकी है।

कार्य-तनाव के मांग-नियंत्रण मॉडल के विपरीत, सीग्रिस्ट द्वारा विकसित प्रयास-पुरस्कार असंतुलन मॉडल कहता है कि यदि कार्य से जुड़ी लागत (उच्च स्तर के प्रयास) के अनुरूप पुरस्कार (नगद राशि, प्रोत्साहन और कैरियर में प्रगति के अवसर) न हों तो कार्य के ऐसे हालात स्वास्थ्य निष्कर्षों पर विपरीत प्रभाव डालते हैं (सीग्रिस्ट एट अल, 1986)। जॉब डिमान्ड मॉडल (कार्य-मांग मॉडल) की तरह ही इसके लिए भी एक विश्वनीय प्रश्नावली तैयार कर ली गई है। जॉब-डिमान्ड मॉडल और एफर्ट-रिवार्ड इम्बैलेन्स मॉडल (प्रयास-पुरस्कार असंतुलन मॉडल) दोनों से ही यह पता लगा है कि अलग-अलग देशों में किए गए सर्वेक्षणों से हृदय रोग तथा अन्य स्वास्थ्य निष्कर्षों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

कार्य-तनाव और स्वास्थ्य के बीच संबंध अन्योन्याश्रित (रिसीप्रोकल) होता है। लेकिन, उदाहरण के लिए, बीमारी के गुप्त लक्षण नजर आने पर श्रमिक कम तनाव वाले कार्य को चुन सकता है। सैद्धान्तिक रूप से समय-समय पर अलग-अलग देशों में श्रमिकों का सावधानीपूर्वक अनेक बार आकलन करके इस मुद्दे को सुलझाया जा सकता है। वही दूसरी तरफ, इस क्षेत्र में अन्य परिवर्तनों के रूझान की अनदेखी से कारणात्मक निष्कर्षों में त्रुटियां समस्या पैदा कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ लोग अपने मिजाज, व्यक्तित्व और अडिजलपन के आधार पर पेशे का चयन करते हैं, वहीं अन्य लोग इन्हीं कारणों की वजह से कम तनाव वाला कार्य चुनते हैं। यदि इस तीसरे परिपृत्त्य की अनदेखी की जाएगी तो स्वास्थ्य-निष्कर्षों पर कार्य की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के प्रभाव का आकलन त्रुटिपूर्ण होगा। इसलिये कार्य की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के बारे में भावी शोध कार्यों में इन परिपृत्त्यों पर नियंत्रण के साथ व्यक्ति विशेष की विरासतीय विशेषताओं और कार्य की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के बीच संभावित परस्पर-क्रिया की जांच की जानी चाहिए तभी स्वास्थ्य और बीमारी के अलग-अलग पैटर्न तय किए जा सकेंगे।

(vii) असामाजिक माहौल (पर्यावरण) द्वारा प्रभावित स्वास्थ्य के पहलू : सम्भवतः सामाजिक परिवृत्त्य निदान शास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में स्वास्थ्य-निष्कर्षों को प्रभावित करते हैं : रोग के जड़ जमाने

(प्रसव—पूर्व से प्रारम्भ होकर पूरे जीवन काल में अपना प्रभाव बढ़ाते हुए) से लेकर शनैः—शनैः विकराल रूप लेते हुए, उत्तरजीविता (बीमारी के बाद बच जाना) तक। रोग की वृद्धि के दौरान प्रत्येक चरण में, सामाजिक परिवृत्य अलग—अलग तरीके से स्वास्थ्य—निष्कर्षों को प्रभावित कर सकते हैं। रोग प्रारम्भ होने से पहले, सामाजिक परिवृत्य माता—पिता के माध्यम से संक्रमण के जोखिम, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक अथवा लाभदायक आदतें अपनाने या विपरीत परिस्थितियों से समायोजन की क्षमता आदि को प्रभावित कर सकते हैं। रोग लग जाने के बाद, सामाजिक परिवृत्य उपचार तक अलग—अलग पहुंच, उपचार जारी रखने, समायोजक व्यवहार के जरिए अथवा प्रतिरक्षण—निगरानी और कोशिकाओं की मरम्मत क्षमता पर सीधा प्रभाव डाल कर रोग बढ़ने (या रोग ठीक होने) की दर निर्धारित कर सकते हैं।

यहां यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण होगा कि सामाजिक—पर्यावरण के परिवृत्य और स्वास्थ्य—निष्कर्षों के बीच सह—सम्बन्ध रोग प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में अलग—अलग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, स्तन कैंसर और मेलानोमा जैसे कैंसर की घटनाएं सामाजार्थिक रूप से सम्पन्न लोगों में ज्यादा पाई गई है। जो इस समूह में निहित जोखिम कारकों का सामाजार्थिक वितरण दर्शाता है। स्तन कैंसर के मामले में, सामाजार्थिक रूप से सम्पन्न महिलाओं में इस रोग की अधिकता को आंशिक रूप से इस तरह समझा जा सकता है कि इस समूह में मासिक धर्म कम उम्र में शुरू हो जाता है, अधिक उम्र में पहला प्रसव होता है और उर्वरता दर कम होती है। वहीं दूसरी तरफ, कैंसर का निदान होने के बाद उत्तरजीविता दर भी सामाजार्थिक रूप से सम्पन्न महिलाओं में ज्यादा है, इसका कारण है— कैंसर का शुरुआती चरण में ही पता लग जाना और बेहतर इलाज (लोचनर और कवाची, 2000)। इसी प्रकार पर्यवेक्षण (ऑब्जर्वेशन) द्वारा जुटाए गए सबूत कहते हैं कि बड़ी बीमारी के बाद उत्तरजीविता तथा कार्य—करण संबंधी बेहतर स्वास्थ्य लाभ में सामाजिक सहयोग की मजबूत भूमिका होती है, लेकिन बीमारी के आपतन इन्सीडेंस) को रोकने में इसकी भूमिका से जुड़े तथ्य अपेक्षाकृत एक जैसे नहीं हैं (जहां सामाजिक नेटवर्क की भूमिका अपेक्षाकृत ज्यादा मजबूत होती है।) (सीमैन, 1998)।

जीवनकाल के दौरान ऐसे भी अहम चरण हो सकते हैं, जब वृद्धावस्था में स्वास्थ्य—निष्कर्षों पर सामाजिक पर्यावरण का ज्यादा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, बार्कर का सिद्धान्त, कोरोनेरी हृदय रोग और कुछ प्रकार के कैंसरों के लिए प्रसवपूर्व अवधि को ज्यादा जिम्मेदार मानता है (बार्कर और बैगबी, 2005)। इसके अलावा, सामाजिक—पर्यावरणीय परिस्थितियां जीवनकाल के दौरान सघन होती चली जाती हैं। उदाहरण के लिए निरन्तर गरीबी, कभी गरीबी तो कभी गरीबी से बाहर की स्थिति की तुलना स्वास्थ्य के लिए ज्यादा हानिकारक होती है। इसलिए स्वास्थ्य के पैटर्न को समझने के लिए सामाजिक परिवृत्यों के परिवर्तनशील पक्षों का अध्ययन करना और भी रोचक होगा। अन्ततः सामाजिक—पर्यावरण से जुड़ी परिस्थितियां बार—बार पैदा हो सकती हैं क्योंकि माता—पिता अपनी असुविधाएं अपने बच्चों को दे जाते हैं। उदाहरण के लिए, गरीब परिवारों में बीमार बच्चे होने

की ज्यादा संभावना होती है (कटलर और लेरस-म्यूनी, 2006)। बचपन की बीमारी आगे चल कर पीड़ित बच्चे की शैक्षिक तथा व्यवसायगत गतिशीलता (मोबिलिटी) को प्रभावित कर सकती हैं। बीमारी के जोखिम को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाने और प्रसारित करने के मामले में, यह सामाजिक तंत्र (मैकेनिज्म) अनुवांशिक तंत्र से हट कर है। हो सकता है कि ये दोनों तंत्र पूरे जीवनकाल के दौरान स्वास्थ्य के पैटर्न को ढालने में परस्पर-क्रिया करते हों।

3.4 सारांश

इकाई के अध्ययन के पश्चात् हम स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक कारकों से परिचित हो चुके हैं हम जान चुके हैं कि विभिन्न सामाजिक कारण जैसे व्यक्तियों का शैक्षिक स्तर, उनका पेशा या रोजगार, उनकी आय, उनका सामाजिक नेटवर्क तथा सामाजिक सहयोग, पेशा या कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल इत्यादि अनेक कारक व वैरिएबल्स हैं, जो सभी किसी न किसी रूप में स्वास्थ्य हेतु उत्तरदायी होते हैं।

3.5 शब्दावली

- परिवर्ती (Variables):** सामुदाय में स्वास्थ्य हेतु विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक कारकों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के परिवर्ती हैं, जो कि स्वास्थ्य हेतु उत्तरदायी हो सकते हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्ती (Variable) जिन संदर्भों में स्वास्थ्य सम्बन्धी निष्कर्षों को प्रभावित करने के लिए उत्तरदायी हैं, मूलतः इसे सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण कहा जाता है।
- सामाजिक नेटवर्क (Social-Network):** व्यक्ति केन्द्रित सामाजिक सम्बन्धों के जाल को सामाजिक नेटवर्क कहा जाता है। सामाजिक नेटवर्क से लोगों को प्राप्त होने वाली विभिन्न प्रकार की सहायता को सामाजिक सहयोग कहा गया है। सामाजिक नेटवर्क मजबूत होने पर सामुदाय के स्वास्थ्य में धनात्मक प्रभाव पड़ता है।

3.6 अभ्यास प्रश्न

- समाज विज्ञानों में एसईएस (सामाजिक स्तर) को कितने संकेतकों से मापा जाता है?
(अ) 2 (ब) 5 (स) 3 (द) 4
- शैक्षिक योग्यता को मापने के लिए मुख्यतः कितने प्रश्न पूछे जाते हैं?
(अ) 3 (ब) 2 (स) 4 (द) 5
- 'सुरक्षित सामाजिक अनुरक्ति केवल भोजन, स्नेह और अन्य भौतिक संसाधनों के लिए ही नहीं बल्कि प्रेम/सुरक्षा तथा मानव के सामान्य विकास के लिए आवश्यक अन्य अभौतिक संसाधनों के लिए भी जरूरी है' किसने कहा है?
(अ) बर्कमैन (ब) दुर्खीम (स) पारकिंशन (द) जॉन बाउलवी

4. कार्य सम्बन्धित तनाव अनेक प्रकार के स्वास्थ्य निष्कर्षों जिसे कि हृदय रोग, मांशपेशियों की खराबी और मानसिक रोग आदि का कारण बन सकता है। किसने यह निष्कर्ष निकाला?
- (अ) मर्मोट एवं बिल्किसन (ब) सीगारिष्ठ एट एल
(स) कारसेक एवं थिऔरेल (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

1. स 2. ब 3. द 4. अ

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एडलर एन, एट एल, सोसियोइकोमिक स्टेट्स एण्ड हैल्थ : द चैलेंजेस ऑफ डिग्रेडियेंट्स. अमेरिकन साइकोलोजिस्ट, 1994; 49 (1) : 15–24
2. एटोनोवस्की ए., सोसियल क्लास, लाइफ एक्सपेंटेन्सी एण्ड ओवरआल मोर्टलिटी. मिलबैंक मेमोरियल फंड, क्वाटरली 1967; 45 (2) : 31–73
3. बर्कमैन एल, कवाची आई, एडीटर्स. सोसियल इंपिडिमियोलॉजी, न्यूयार्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000
4. बर्कमैन एल, मैकिनटायर एस, दि मेजरमेंट ऑफ सोसियल क्लास इन हैल्थ स्टेडीज : ओल्ड मीजर्स एण्ड न्यू फोरमूलेशन्स. इन कांगविहास एम, पियर्स एन, सूसर एम, लॉफेटा पी. (एडीटर्स) सोशल इक्विलिटीज एण्ड कैंसर, लियोन फ्रांस : आईएआरसी, साइंटिफिक पब्लिकेशन्स, नं. 138 : 1997 पी.पी. 31–64
5. बुरगार्ड एस, स्टीवर्ट जे स्वावाटेज जे, आक्यूपेशनल स्टेट्स, सानफ्रांसिस्को, सीए : मेकार्थर नेटवर्क ऑन एस.ई.एस. एण्ड हैल्थ, 2003
6. कोहेन एस, अंडरवुड एलजी, गोटफिन सीएच, सोसियल सपोर्ट मीजरमेंट एण्ड इंटरवेन्शन, न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000
7. कवाची आई बर्कमैन एल. सोसियल टाइज एण्ड मेंटल हैल्थ, जरनल ऑफ अर्बन हैल्थ, 2001 : 78 (3) : 458–467
8. लिंच जे, काप्लान जी, सोसियो इकोनोमिक पोजिशन इन : बर्कमैन एल, कवाची आई (एडीटर्स) सोसियल इंपिडिमियोलॉजी, न्यूयार्क आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000, पृ0 13–35
9. मारमोट एम, रिफ सीडी, वमपास, एलएल, सिफले एम, मार्क्स एनएफ. सोसियल इन इक्विलिटीज इन हैल्थ : नेक्स्ट क्वेश्चन्स एण्ड कनवर्जिंग इविडेंस. सोसियल साइंस एण्ड मेडिसिन, 1997; 44 (6) : 901–910
10. सीगारिष्ठ जे, सीगारिष्ठ के., वेबर आई ; सोसियोलोजिकल कान्सेप्ट्स इण्ड इंटीयोलॉजी ऑफ क्रोनिक डीजिजेस : द केस ऑफ इस्केमिक हार्ट डिजिज. सोसियल साइंस एण्ड मेडिसिन. 1986 ; 22 (2) : 247–253

-
11. सुब्रमनियन एसबी, कवाची आई. इन्कम इन्डक्यूटी एण्ड हैल्थ : ह्वाट हेव वी लर्न सो फॉर? इपिडिमियोलोजिकल रिव्यूज. 2004 ; 26 : 78-91
-

3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. बर्कमैन एल, ग्लास टी. सोसियल इंटीग्रेसन; सोसियल नेटवर्क्स सोसियल सपोर्ट एण्ड हैल्थ इन बर्कमैन एल, कवाची आई (एडिटर्स) सोसियल इपिडिमियोलॉजी न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी: 2000
 2. कवाची आई, बर्कमैन एल एफ. नेबरहुड एण्ड हैल्थ. न्यूयार्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003
 3. मारमोट एमजी, बिलकिन्सन आरडी (एडिटर्स), सोसियल डिटरमिनेंट्स ऑफ हैल्थ : आक्सफोर्ड, इंग्लैण्ड : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006
-

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. सामाजार्थिक और सांस्कृतिक वैरिएबल्स को स्पष्ट कीजिए?
2. सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैरिएबल्स का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव को उदाहरण सहित समझाईये?
3. सामाजिक नेटवर्क, सामाजिक सहयोग एवं स्वास्थ्य के परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए?
4. कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल तथा स्वास्थ्य पर इसके प्रभाव पर टिप्पणी कीजिए?

इकाई 4: सामाजिक मरक-विज्ञान (संक्रामक रोग-विज्ञान) और स्वास्थ्य स्तर
(Social Epidemiology and Health Status)

इकाई की रूपरेखा (Outline of Unit)

- 4.1: उद्देश्य
- 4.2: प्रस्तावना
- 4.3 सामाजिक मरक-विज्ञान का विकास
- (i) परिभाषा
- (ii) रोग-बारम्बारता
- (iii) रोग-प्रसार या वितरण
- (iv) रोग के निर्धारक
- 4.4: आपतन
- 4.5: व्यापकता
- 4.6: संक्रामक रोग-विज्ञान संबंधी पद्धतियां
- 4.7: विवरणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान
- 4.8: विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान
- 4.9: स्वास्थ्य स्तर
- 4.10: भारत में स्वास्थ्य स्तर
- 4.11: आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था
- 4.11.1: आर्थिक व्यवस्था
- 4.11.2: राजनीतिक व्यवस्था
- 4.12: शब्दावली
- 4.13: अभ्यास प्रश्न
- 4.14: संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.15: सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.16: निबंधात्मक प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप;

1. सामाजिक मरक-विज्ञान (संक्रामक रोग विज्ञान) के विकास व परिभाषा से अवगत होंगे।
2. सामाजिक मरक-विज्ञान की विषय वस्तु को जान पायेंगे।

3. आपतन (Incidence) को समझ सकेंगे तथा इसके उपयोग के बारे में जान पायेंगे।
4. व्यापकता (Prevalence) को समझ सकेंगे तथा आपतन व व्यापकता के बीच सम्बन्ध से भी अवगत होंगे।
5. विवरणात्मक व विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान के अध्ययन के विभिन्न अवयवों को समझ सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

सामाजिक मरक रोग विज्ञान को संक्रामक रोग विज्ञान की उस शाखा के रूप में परिभाषित किया गया है, जो स्वास्थ्य के सामाजिक प्रसार और सामाजिक निर्धारकों का अध्ययन करती है (बर्कमैन और कवाची, 2000) चूंकि सामाजिक सम्बन्धों के संदर्भ में मानव जीवन के सभी पहलू परस्पर गुथे हुए हैं, इसलिए सभी कल्पनीय संक्रामक रोग, जिनके सम्पर्क में मनुष्य आ सकता है, सामाजिक कारकों से जुड़े हैं। इस व्यापक अर्थ में, सभी संक्रामक रोग सामाजिक संक्रामक रोग है (कॉफमैन और कूपर, 1999), लेकिन सामाजिक संक्रामक- रोग विज्ञान विषय स्वास्थ्य के निर्धारकों का सुस्पष्ट विश्लेषण करता है।

यह विचार कि सामाजिक परिस्थितियां स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं, नया नहीं है। चाडविक क्लिन ने 1965 में श्रमिक वर्ग की अस्वच्छ परिस्थितियों के बारे में लिखा था और बताया कि सघन आबादी, उमस और गंदगी किस प्रकार उनकी कम उत्तरजीविता (कम आयु) का कारण बन रही है। दुरखीम (1996) ने बताया कि सामाजिक मानदण्ड और परिस्थितियां जनसाधारण में आत्महत्या के जोखिम को प्रभावित करती हैं। सामाजिक मरक विज्ञान शोध के लिए नए-नए प्रश्न उठाकर, इन अध्ययनों के आधार पर अपना विकास और विस्तार करता है। शोध के नए तरीकों का उपयोग करता है और सरकार के नीतिगत एजेंडे को प्रभावित करता है।

4.3 सामाजिक मरक-विज्ञान (संक्रामक रोग-विज्ञान) का विकास

मरक विज्ञान 19वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया था। इसका श्रेय उन शास्त्रीय अध्ययनों को जाता है, जिन्होंने जीवन-रक्षा में प्रमुख योगदान दिया था। उल्लेख मिलता है कि अर्ल ऑफ शैफ्टेसबरी की अध्यक्षता में, 1850 में लन्दन में एपिडेमियोलॉजिकल सोसायटी का गठन किया गया था। जीवाणु-विज्ञान के त्वरित विकास ने विश्वविद्यालयों में संक्रामक रोग-विज्ञान को विकसित नहीं होने दिया।

संयुक्त राज्य अमरीका में, हालांकि मरक विज्ञान (संक्रामक रोग-विज्ञान) को विभाग का दर्जा नहीं मिला था, लेकिन विनस्लॉ और सेगविक ने छात्रों को यह विषय पढ़ाया था। 1927 में, अमरीका में डब्ल्यू.एच फ्रॉस्ट संक्रामक रोग-विज्ञान के पहले प्रोफेसर बने। बाद में लन्दन विश्वविद्यालय में मेजर ग्रीन वुड संक्रामक रोग विज्ञान के पहले प्रोफेसर बने। मरक रोग-विज्ञान अथवा संक्रामक रोग-विज्ञान

का पिछले कुछ दशकों में तेजी से विकास हुआ है। अब यह पुख्ता तौर चिकित्सा विज्ञान का एक अंग बन गया है। हिपीक्रेट्स से लेकर आज तक, इस विषय के जितने भी विद्वान हुए हैं, सभी ने इसकी अलग-अलग परिभाषा दी है। इनकी एक संक्षिप्त सूची नीचे दी गई है :

1. चिकित्सा-विज्ञान की वह शाखा, जो संक्रामक रोगों का उपचार करती है ।
(पार्किन, 1873)
2. संक्रामक रोगों की व्यापक घटना का विज्ञान है ।
(फ्रॉस्ट, 1927)
3. कोई भी रोग जो व्यापक रूप से घटित हो, का अध्ययन है ।
(ग्रीन वुड, 1934)
4. मनुष्यों में रोग-बारम्बरता का प्रसार और इसके कारणों (निर्धारणों) का अध्ययन है ।
(मैकमोहन, 1960)

(i) परिभाषा :

जॉन एम. लास्ट ने संक्रामक रोग विज्ञान को इस प्रकार परिभाषित किया है :

“किसी विशिष्ट जन-समुदाय में स्वास्थ्य से संबंधित अवस्थाओं अथवा घटनाओं का प्रसार तथा इसके निर्धारकों का अध्ययन और इस अध्ययन का स्वास्थ्य नियंत्रण में अनुप्रयोग”

संक्रामक रोग की ये विविध परिभाषाएं इस विषय वस्तु के व्यापक दायरे का परिचय देती हैं। इस विषय-वस्तु में उन रोगों को शामिल किया गया है जो महामारी के रूप में फैलते हैं तथा जिनकी प्रकृति संक्रामक है। अभी हाल ही में पुराने रोगों (क्रॉनिक डिप्थीरिया) और मानसिक स्वास्थ्य को भी इसमें शामिल कर लिया गया है। आधुनिक मरक-रोग विज्ञान के दायरे में स्वास्थ्य से जुड़ी अवस्थाओं, घटनाओं और जन-समुदाय में घटित “जीवन-तथ्यों” को भी ला दिया गया है। इसमें जन-साधारण द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली स्वास्थ्य सेवाओं का अध्ययन, इनके प्रभाव-आकलन के तरीके शामिल हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य की तरह ही, संक्रामक रोग-विज्ञान, बहुधा व्यक्ति-विशेष के स्वास्थ्य की बजाय समग्र समाज के स्वास्थ्य से ज्यादा संबंधित है।

हालांकि ऐसी कोई भी एक परिभाषा नहीं है जिस पर सभी मरक रोग-विज्ञानी सहमत हों। लेकिन तीन घटक सभी में एक जैसे हैं। पहला- रोग की बारम्बरता का अध्ययन, दूसरा- वितरण या प्रसार का अध्ययन, और तीसरा- निर्धारकों का अध्ययन। इनमें से प्रत्येक घटक एक महत्वपूर्ण संदेश देता है।

(ii) रोग-बारम्बरता :

संक्रामक रोग विज्ञान में बारम्बरता, विकलांगता अथवा मृत्यु, दर और अनुपात के रूप में (जैसे कि व्याप्तता दर, आपतन दर, मृत्यु दर आदि) इस सूचना का सार-संक्षेप अन्तर्निहित है। अतः रोग की बारम्बरता का पैमाना दर या अनुपात है। ये दर या अनुपात सम्भावित कारणात्मक कारकों के

सम्बन्ध में अलग-अलग जन समुदायों अथवा इसी समुदाय के उप-समूहों में रोग की बारम्बारता की तुलना के लिए जरूरी हैं। इस प्रकार की तुलनाओं से रोग के कारकों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है। स्वास्थ्य समस्याओं पर नियंत्रण अथवा इनकी रोकथाम के लिए कार्यनीतियां बनाने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है।

संक्रामक रोग विज्ञान का सामुदायिक स्वास्थ्य के स्तर और स्वास्थ्य से संबंधित घटनाओं के आकलन (यानि स्वास्थ्य- आवश्यकताओं, मांग, कार्यकलाप, स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के उपयोग आदि का आकलन) और रक्तचाप, सीरम कोलेस्ट्रॉल, लम्बाई, वजन आदि परिवृत्तियों के साथ भी यही सरोकार है। इस रूप में, संक्रामक रोग विज्ञान मात्रात्मक विज्ञान की खूबियां रखता है। रोग तथा स्वास्थ्य-संबंधित घटनाक्रमों के आकलन से जुड़ी अधिकांश विषय-वस्तु जैव-सांख्यिकी के कार्यक्षेत्र में आती है, जो संक्रामक रोग विज्ञान का बुनियादी साधन है।

(iii) रोग-प्रसार या वितरण :

यह सभी जानते हैं कि मनुष्यों में सभी का स्वास्थ्य एक समान नहीं होता या एक समान रोगी नहीं होते। संक्रामक रोग- विज्ञान का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि किसी समुदाय में रोग के प्रसार या वितरण का एक पैटर्न होता है और यह कि ये पैटर्न कारक संबंधी परिकल्पना को जन्म दे सकता है।

संक्रामक रोग विज्ञान का एक महत्वपूर्ण कार्य समय, स्थान और व्यक्ति के अनुसार जनसमुदाय के विभिन्न उप-समूहों में इस वितरण पैटर्न का अध्ययन करना है। यानि, संक्रामक रोग विज्ञानी यह पता लगाता है कि एक निश्चित समयावधि में रोग बढ़ा है या घटा है, क्या अन्य भौगोलिक क्षेत्रों की तुलना में किसी खास भौगोलिक क्षेत्र में रोग की प्रचण्डता ज्यादा है, क्या रोग ज्यादातर पुरुषों या किसी खास आयु-वर्ग में ज्यादा होता है, और क्या रोग से ग्रस्त व्यक्तियों का व्यवहार उन व्यक्तियों से भिन्न है, जो रोग-ग्रस्त नहीं है। संक्रामक रोग विज्ञान इन अन्तरों अथवा पैटर्न का अध्ययन करता है, जो रोग के नियंत्रण अथवा रोकथाम के उपाय सुझा सकते हैं। इस अध्ययन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष कारण-विज्ञान परिकल्पना या सिद्धान्त तैयार करना है। संक्रामक रोग विज्ञान के इस पहलू को "व्याख्यात्मक संक्रामक रोग विज्ञान" कहते हैं।

(iv) रोग के निर्धारक :

संक्रामक रोग विज्ञान की एक खास विशेषता है कि यह कारक विज्ञान की परिकल्पना का परीक्षण करता है और बीमारी के निहित कारणों (अथवा जोखिम कारकों) का पता लगाता है। इसके संक्रामक रोग सम्बन्धी सिद्धान्तों और पद्धतियों का उपयोग करना होता है। संक्रामक रोग विज्ञान के इस पहलू को "विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग-विज्ञान" कहते हैं। विश्लेषणात्मक कार्यनीतियों से वैज्ञानिक रूप से पुष्ट स्वास्थ्य- कार्यक्रम, उपाय, नीतियां तैयार करने में मदद मिलती है। हालिया वर्षों में, विश्लेषणात्मक अध्ययनों से फेफड़ों के कैंसर और हृदय-धमनी रोग जैसी क्रॉनिक बीमारियों के निर्धारकों या कारणों को समझने में बहुत सहायता मिली है।

4.4 आपतन (Incidence) :

आपतन को "एक विशिष्ट समय-काल के दौरान किसी निर्धारित जनसमुदाय में रोग के नए मामलों" की दर के रूप में परिभाषित किया गया है। इसका फार्मूला (सूत्र) इस प्रकार है :-

एक निर्धारित समय काल में किसी विशिष्ट रोग के नए मामलों की संख्या

आपतन = निर्धारित अवधि के दौरान रोग के जोखिम में शामिल \times 1000 आबादी

उदाहरण के लिए, 30,000 आबादी वाले किसी जन समुदाय में एक वर्ष में रोग के 500 नए मामले सामने आए हैं ता आपतन दर होगी— $500 / 30,000 \times 1000 = 16.7$ प्रति 1000 प्रतिवर्ष।

टिप्पणी : अन्तिम रूप से आपतन दर अभिव्यक्त करते वक्त समय की इकाई अवश्य शामिल की जानी चाहिए।

उपरोक्त परिभाषा से देखा जा सकता है कि आपतन निम्नलिखित का संदर्भ देती है :-

- (क) केवल नए मामले
- (ख) एक निर्धारित अवधि के दौरान (आमतौर पर एक वर्ष)
- (ग) एक विशिष्ट आबादी अथवा "जोखिमग्रस्त आबादी", जब तक अन्य निर्धारक न तय कर लिए हों।
- (घ) यह प्रति 1000 आबादी में एक निर्धारित अवधि के दौरान रोग की नई घटनाओं अथवा नए चक्र को भी संदर्भित कर सकती है।

उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को वर्ष में दो बार सामान्य सर्दी-जुखाम हो सकता है। यदि वह दो बार पीड़ित हुआ है, तो यह कहा जाएगा कि उसने वर्ष के दौरान बीमारी के दो चक्रों या घटनाओं का योगदान दिया है। इस मामले में आपतन दर (चक्र) = एक निर्धारित अवधि के दौरान बीमारी शुरू होने के चक्रों की संख्या, इस अवधि के दौरान जोखिम ग्रस्त होने वाले व्यक्तियों की संख्या का माध्य (मीन) \times 1000। आपतन किसी जनसमुदाय में रोग के नए मामले घटित होने की दर का आकलन करता है। रोग की अवधि इसे प्रभावित नहीं करती है। आपतन का उपयोग आमतौर पर केवल रोग की गम्भीर हालातों में ही किया जाता है।

4.4.1 आपतन (इन्सीडेंस) दर का उपयोग:

स्वास्थ्य संकेतक के रूप में, आपतन दर (क) बीमारियों के नियंत्रण, और (ख) रोग कारकता, रोग मूलकता, रोग के प्रसार तथा रोकथाम तथा उपचार संबंधी उपायों की कारगरता की जांच एवं शोध हेतु कार्रवाई के लिए उपयोगी होती है। उदाहरण के लिए, यदि आपतन दर बढ़ रही है तो यह वर्तमान नियंत्रण या रोकथाम कार्यक्रम की असफलता अथवा असरहीनता या रिपोर्टिंग तौर-तरीकों में सुधार का संकेत हो सकती है। रोग की आपतन दर में बदलाव या उतार-चढ़ाव का मतलब, बीमारी के कारकों में बदलाव यानि वाहक (एजेंट), रोग का घर (होस्ट) और पर्यावरणीय विशेषताओं में बदलाव भी हो सकता है। अलग-अलग सामाजार्थिक समूहों और भौगोलिक क्षेत्रों से प्राप्त आपतन

दरों में अन्तर के विश्लेषण से प्रदत्त स्वास्थ्य- सेवाओं की कारगरता के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है।

4.5 व्यापकता (Prevalence)

“रोग व्यापकता” शब्द किसी विशिष्ट जनसमुदाय में किसी निर्धारित समय में अथवा समयावधि के दौरान सभी मौजूदा मामलों (पुराने और नए) को संदर्भित करता है। व्यापकता की व्यापक परिभाषा इस प्रकार है— किसी खास समय-काल में (अथवा खास अवधि के दौरान) रोग के लक्षण रखने वाले या रोगग्रस्त लोगों की कुल संख्या को उसी अवधि के दौरान या रोग की मध्यावधि के दौरान रोग के लक्षण प्रकट होने के जोखिम या रोगग्रस्त होने की संभावना वाली जनसंख्या से विभाजित करके व्यापकता की गणना की जाती है। हालांकि इसे दर के रूप में व्यक्त किया जाता है, लेकिन व्यापकता दर वास्तव में अनुपात है। व्यापकता दो प्रकार की होती है :-

- (क) समय-बिन्दु व्यापकता
- (ख) समय बिन्दु व्यापकता

4.5.1 समय बिन्दु व्यापकता : किसी रोग की समय बिन्दु व्यापकता को किसी एक समया बिन्दु (समय-काल) पर सभी वर्तमान मामलों (रोगियों पुराने या नए) की संख्या के रूप में परिभाषित किया गया है। यहां जो “बिन्दु” शब्द का उपयोग किया जा रहा है। वह एक दिन “अनेक दिन” अथवा “कुछ सप्ताह” भी हो सकता है। यह समय बिन्दु निर्धारण इस बात पर निर्भर करेगा कि जन-समुदाय के प्रतिदर्श या नमूना के परीक्षण में कितना समय लगा। समय-बिन्दु व्यापकता का फार्मूला (सूत्र) यह है— एक निर्धारित समय-बिन्दु पर किसी विशिष्ट रोगग्रस्त व्यक्तियों (पुराने ओर नए दोनों) की संख्या $\times 100$ । उसी समय बिन्दु पर जनसमुदाय की कुल अनुमानित आबादी को ध्यान में रखते हुए, जब “व्यापकता दर” वाक्यांश का बिना किसी अन्य खासियत या कारण” बताए उपयोग किया जाए तो इसे “समय बिन्दु” माध्य (मीन) के रूप में माना जाएगा।

यह समय बिन्दु व्यापकता आयु, लिंग और अन्य संगत कारकों अथवा लक्षणों के अनुसार विशिष्ट हो सकती है।

4.5.2 समयावधि व्यापकता : यह एक अपेक्षाकृत कम उपयोग किया जाने वाला तरीका है। यह निर्धारित अवधि (यानि वार्षिक व्यापकता) के दौरान सभी वर्तमान मामलों यानि रोगियों (पुराने और नए) की बारम्बरता का आकलन करता है। इसे निर्धारित जन-समुदाय के संदर्भ में व्यक्त किया जाता है। इसमें वे सभी मामले शामिल हैं जो पहले से मौजूद थे लेकिन निर्धारित वर्ष में नए मामले सामने आए। समयावधि व्यापकता का फार्मूला इस प्रकार है :-

किसी निर्धारित समयावधि अन्तराल के दौरान मौजूदा मामलों (पुराने और नए) की संख्या $\times 100$ मध्यान्तर के दौरान जोखिम संभावित जनसंख्या का अनुमान

4.5.3 आपतन और व्यापकता के बीच सम्बन्ध :

व्यापकता दर की अपनी सीमाएं होती हैं, इसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। यह बीमारी के कारक—विज्ञान या कारणों का अध्ययन करने के लिए एक आदर्श तरीका नहीं है। हमने देखा है कि आपतन और अवधि ये दो कारक रोग की व्यापकता तय करते हैं। आपतन रोग होने जुड़ा है जबकि अवधि उन कारकों से जुड़ी है जो रोग के दौरान उसकी प्रगति (कोर्स) को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में अवधि के घटक प्रगतिकारक कारणों को दर्शाते हैं और आपतन कारण संबंधी घटकों को दर्शाते हैं इसलिए कारक—विज्ञान की परिकल्पना के परीक्षण और फॉर्म्यूलेशन (सूत्रीकरण) में आपतन दर का ईष्टतम उपयोग किया जाना चाहिए। जब आपतन दर उपलब्ध न हो तो व्यापकता दर (जो सुलभता से उपलब्ध है) का उपयोग किया जा सकता है, लेकिन “अवधि” घटक के योगदान का आकलन करना ही होगा।

4.5.4 व्यापकता का उपयोग :

- (क) व्यापकता से समुदाय में स्वास्थ्य/रोग की प्रचण्डता का अनुमान लगाने और ज्यादा—जोखिम वाले जनसमुदाय का पता लगाने में सहायता मिलती है।
- (ख) व्यापकता दरें प्रशासनिक तथा नियोजन, जैसे कि हॉस्पिटल में बिस्तरों, श्रम शक्ति की आवश्यकता, पुनर्वास सुविधाओं आदि के प्रयोजन के लिए विशेष रूप से उपयोगी होती है।

4.6 संक्रामक रोग—विज्ञान संबंधी पद्धतियां

संक्रामक रोग विज्ञानी का मुख्य कार्य उन लोगों में रोग घटित होने का अध्ययन करना है, जो अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के कारकों और परिस्थितियों के सम्पर्क में आते हैं, इनमें से कुछ की रोग—कारकों में भूमिका हो सकती है। नैदानिक (क्लीनीसियन) अथवा प्रयोगशाला अन्वेषक रोग—जनक परिस्थितियों का सटीक तरीके से आवधिक अध्ययन कर सकते हैं। लेकिन संक्रामक—रोग विज्ञानी के साथ ऐसा नहीं है। उसे रोग से जुड़े कारक—विज्ञान का अन्वेषण करने में सावधानीपूर्वक तैयार की गई शोध कार्यनीतियों का उपयोग करना होता है।

संक्रामक रोग—विज्ञान से संबंधित पद्धतियों को पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन और परीक्षात्मक अध्ययन के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है और इन वर्गीकरणों को आगे उप—वर्गों में बांटा जा सकता है।

4.6.1. पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन :

- (क) विवरणात्मक अध्ययन
- (ख) विश्लेषणात्मक अध्ययन
 - i) अध्ययन की एक इकाई के रूप में जनसमुदाय को लेकर, पर्यावरण अथवा सह—सम्बन्धात्मक अध्ययन

- (ii) बड़े जनसमुदाय के मामले में प्रतिनिध्यात्मक नमूनों का अध्ययन।
- iii) व्यक्तियों को अध्ययन की इकाई मान कर, रोग-नियंत्रण अथवा रोकथाम और व्यक्तियों को अध्ययन की इकाई मानकर, रोग संदर्भ।
- iv) व्यक्तियों को अध्ययन की इकाई मानकर, अनुवर्ती विश्लेषण।

4.6.2. परीक्षण अध्ययन (सुधारात्मक अध्ययन) :

- (क) मरीजों को नियंत्रित परीक्षण इकाई के रूप में मानकर यादृच्छिक (रैण्डम) अथवा नैदानिक अध्ययन।
- (ख) स्वस्थ लोगों को अध्ययन की इकाई मानकर फील्ड परीक्षण।
- (ग) उपचारात्मक सुविधाओं से युक्त समुदायों को अध्ययन की इकाई मानकर सामुदायिक परीक्षण अथवा सर्वेक्षण।

इन अध्ययनों अथवा पद्धतियों को पूरी तरह से अलग-अलग या स्वतंत्र नहीं माना जा सकता, ये एक-दूसरे के पूरक हैं।

पर्यवेक्षणात्मक अध्ययनों में प्रकृति को अपना काम करने दिया जाता है। अन्वेषक के साधन या तौर-तरीके इसमें दखल नहीं देते। वर्णनात्मक अध्ययन किसी जनसमुदाय में रोग घटित होने का केवल विवरण प्रदान करता है। जबकि विश्लेषणात्मक अध्ययन इससे आगे बढ़कर स्वास्थ्य स्तर तथा अन्य परिवृत्यों के बीच सह-संबंध का विश्लेषण करता है। परीक्षण अथवा उपचारात्मक अध्ययन किसी रोग के निर्धारकों को अथवा रोग की प्रगति को बदलने का सक्रिय प्रयास करता है और ये परीक्षण अन्य वैज्ञानिक परीक्षणों की तरह ही होते हैं। लेकिन इन परीक्षणों में अतिरिक्त सावधानी बरतनी पड़ती है, क्योंकि परीक्षण में शामिल लोगों का स्वास्थ्य दांव पर लगा होता है यादृच्छिक नियंत्रित परीक्षण एक प्रमुख परीक्षण अभिकल्प (डिजाइन) है, इसमें स्वयं मरीज को अध्ययन-विषय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। फील्ड परीक्षण और सामुदायिक परीक्षण अन्य प्रकार के परीक्षण अध्ययन हैं, जिनमें भाग लेने वाले लोग स्वस्थ व्यक्ति या समुदाय होते हैं।

संक्रामक रोग विज्ञान सम्बन्धी सभी अध्ययनों में, अन्वेषित रोग तथा रोग के सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति की सुस्पष्ट पूर्ण जानकारी होना अनिवार्य है। यदि इनके बारे में सुस्पष्ट पूर्ण जानकारी नहीं होगी तो आंकड़ों से निष्कर्ष हासिल करने में बहुत ज्यदा मुश्किल का सामना करना पड़ सकता है।

4.7 विवरणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान

मानवता का सर्वश्रेष्ठ अध्ययन मनुष्य ही है। इस वक्तव्य में, रोग के सम्भावित कारकों के सम्पर्क में आने वाले लोगों अथवा जनसमुदाय पर पर्यवेक्षण के सर्वश्रेष्ठ उपयोग के महत्व पर बल दिया गया है। बर्किट द्वारा अफ्रीका में किए गए अतिसावधानीपूर्ण पर्यवेक्षण के फलस्वरूप अंततः एप्स्टीन-बार वायरस (ईबीवी) को कारण-विज्ञानी कारक (सम्भवतः मलेरिया के संक्रमण जैसे अन्य कारकों ने इस वायरस का अनुकूलन किया था) के रूप में बर्किट लिम्फोमा नामक कैंसर का दोषी पाया गया।

न्यूगिनी में "कुरु" के संक्रामक रोग विज्ञानी अध्ययन के फलस्वरूप मनुष्यों में क्रॉनिक अपसर्जक स्नायुविज्ञानी विकार (क्रॉनिक डिजनरेटिव न्यूरोलॉजिकल डिसऑर्डर) के कारण के रूप में विषाणु के मंद संक्रामक (स्लो वायरस इन्फेक्शन) का पता लगा ("कुरु" एक विरासतीय न्यूरोलॉजिकल विकार)। यह सूची अन्तहीन है।

संक्रामक रोग विज्ञान अन्वेषण में विवरणात्मक अध्ययन आमतौर पर सबसे पहला चरण होता है। इन अध्ययनों में जन-समुदाय का पर्यवेक्षण किया जाता है और उन लक्षणों की पहचान की जाती है जो प्रश्नगत-रोग से जुड़े प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के अध्ययनों में बुनियादी तौर पर नीचे दिए गए प्रश्न पूछे जाते हैं :

- (क) बीमारी कब होती है
 - समय वितरण
- (ख) यह कहां होती है
 - स्थान वितरण
- (ग) रोग किन लोगों को होता है
 - व्यक्ति वितरण

विवरणात्मक अध्ययन में शामिल विभिन्न प्रक्रियाओं को नीचे रेखांकित किया गया है :-

1. अध्ययन हेतु जनसमुदाय परिभाषित करना
2. अध्ययन-गत रोग को परिभाषित करना
3. बीमारी को निम्न के द्वारा वर्णित करना
 - (क) समय
 - (ख) स्थान
 - (ग) व्यक्ति
4. बीमारी के मापक
5. ज्ञात संकेतकों के साथ तुलना करना
6. कारण-विज्ञान संबंधी परिकल्पना (सिद्धान्त) तैयार करना।

4.8 विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान

संक्रामक रोग विज्ञान संबंधी अध्ययन का दूसरा प्रमुख चरण विश्लेषणात्मक अध्ययन है। विरणात्मक अध्ययनों, जिनमें पूरे जनसमुदाय को लिया जाता है, के विपरीत, विश्लेषणात्मक अध्ययन में उस जनसमुदाय के व्यक्ति को केन्द्र में रखा जाता है।

इसका उद्देश्य सिद्धान्त गढ़ना नहीं बल्कि जांच करना होता है। हालांकि विश्लेषणात्मक अध्ययनों में व्यक्तियों का आकलन किया जाता है, लेकिन निष्कर्ष व्यक्तिगत नहीं बल्कि उस पूरे समुदाय के लिए होते हैं, जिससे वह व्यक्ति अध्ययन के लिए चुना गया है।

विश्लेषणात्मक अध्ययनों में दो अलग-अलग प्रकार के पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन किए जाते हैं :

- (क) रोग (व्यक्तिगत) नियंत्रण अध्ययन।
- (ख) प्रतिनिध्यात्मक अध्ययन।

इस प्रत्येक अध्ययन अभिकल्प (डिजाइन) से यह तय किया जा सकता है कि :-

- (क) किसी रोग और सम्भावित कारक के बीच कोई सम्बन्ध है या नहीं;
- (ख) यदि है, तो यह सम्बन्ध कितना मजबूत है।

4.9 स्वास्थ्य स्तर

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1948 में स्वास्थ्य को इस प्रकार परिभाषित किया था :-

“स्वास्थ्य केवल रोग-विहीनता की स्थिति ही नहीं है बल्कि शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से सम्पूर्ण स्वास्थ्य की स्थिति है।”

स्वास्थ्य को व्यक्ति के शारीरिक बनावट (ढांचे) और कार्य तथा रोग अथवा रोग के लक्षणों की मौजूदगी अथवा गैर-मौजूदगी (स्वास्थ्य स्तर); उसके लक्षण तथा वे क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते हैं अर्थात् स्वास्थ्य स्तर की स्थिति व्यक्ति के सामान्य जीवन को किस सीमा तक प्रभावित कर सकती हैं, जीवन-गुणवत्ता के रूप में समझा जा सकता है।

- (क) स्वास्थ्य-स्तर के पैमाने या मापक

स्वास्थ्य-स्तर को रोगमूलक और नैदानिक पैमानों के जरिए आंका जा सकता है और आमतौर पर निदान-विज्ञानी (क्लीनिशियन) द्वारा इसका पर्यवेक्षण किया जाता है अथवा साधनों (उपकरणों) का इस्तेमाल करके स्वास्थ्य स्तर का आकलन किया जा सकता है।

रोग मापकों के प्रकार :

- संकेत- रक्त-चाप, तापमान, एक्स-रे, ट्यूमर का आकार
- लक्षण- रोग-विशिष्ट चैक-लिस्ट
- सह-रुग्णता- चार्ल्सन सूचकांक, सह-अस्तित्व वाले रोग हेतु आईसीईडी-सूचकांक (रोग की गम्भीरता और कार्यात्मक गम्भीरता दोनों का पर्यवेक्षण करता है), प्रतिकूल घटनाक्रम- दर्द, रक्तस्राव, पुनः भर्ती, जटिलताएं (सर्जिकल जटिलताओं के लिए क्लैवीन-डिन्डो वर्गीकरण का उपयोग)।

नए खोजे गए पैमानों की बजाय, हमेशा मौजूदा पैमानों का ही उपयोग करना अच्छा होता है क्योंकि ये पैमाने कसौटी पर खरे उतर चुके होते हैं। विश्वसनीयता, वैधता और प्रभावशीलता के मामले में खरे सिद्ध हो चुके मौजूदा मानकीकृत पैमानों का ही उपयोग करें। पैमानों का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित मानकों को लागू करें :

साइकोमेट्रिक मानक :

- **स्वीकार्यता**— मापक पैमाने में न्यूनतम या अधिकतम रुझान के बिना एक मापक सीमा (रेन्ज) होनी चाहिए।
- **विश्वसनीयता**— परीक्षण पुनः परीक्षण (परीक्षण और पुनः परीक्षण करने पर एक ही स्कोर प्राप्त होगा), इन्टररेटर (यदि दो व्यक्ति किसी एक ही व्यक्ति का अलग-अलग आकलन करें तो एक जैसा स्कोर निकलना चाहिए— कप्पा द्वारा मापा गया कप्पा स्टैटिस्टिक (कप्पा स्टैटिस्टिक इन्टर-रेट विश्वसनीयता को मापने का एक फार्मूला है। कप्पा— (पर्यवेक्षकों के बीच पर्यवेक्षित अनुरूपता % में— अपेक्षित संयोगवश अनुरूपता % में) / (100% - केवल संयोगवश अपेक्षित अनुरूपता % में)। आन्तरिक सुसंगति (क्रॉनबैच अल्फा— किसी चीज के आकलन के लिए जब प्रश्नावली का उपयोग किया जाता है यानि आक्सफोर्ड हिप स्कोर— इसमें प्रत्येक उत्तर के लिए कोई अंकीय मान दिया जाता है और इन सभी अंकीय मानों का योग संख्यात्मक अधिमान दर्शाता है। इन पैमानों में आन्तरिक सुसंगति होनी चाहिए, अर्थात् सभी पैमाने एक ही चीज का आकलन करें। क्रॉनबैच अल्फा किसी पैमाने की आन्तरिक सुसंगति के लिए एक गुणांक (कोफिसिएट) है।)
- **वैधता**— संवेदनशीलता (जो सही तौर पर रोग से सम्बन्ध रखते हैं, उनका पता लगाएं) और विशिष्टता (जो सही तौर पर रोग से संबंधित न हो, उनका पता लगाएं)
- **प्रतिक्रियाशीलता**— कोई पैमाना या मापक नैदानिक (क्लीनिकली) रूप से सार्थक बदलावों का किस सीमा तक पता लगा सकता है।

व्यावहारिक मानक

यदि इन आकलनों का नैदानिक कार्यों के एक भाग के रूप में नेमी (रुटीन) उपयोग किया जाना है तो—

- ये आकलन प्रासंगिक/सुसंगत होने चाहिए
- ये आकलन संक्षिप्त और आसानी से उपयोग लायक होने चाहिए।
- नेमी उपयोग के लिए व्यवहार्य होने चाहिए।

यदि मौजूदा पैमाने का उपयोग करना सम्भव न हो तो दूसरा बेहतर तरीका यह होगा कि मौजूदा पैमाने का अनुकूलन करें। लेकिन इस अनुकूलित पैमाने की विश्वसनीयता, वैधता और प्रतिक्रियाशीलता का नई परिस्थितियों में पुनः मूल्यांकन अवश्य करें। अन्यथा, एक नया पैमाना विकसित करना होगा और उसकी विश्वसनीयता, वैधता और प्रतिक्रियाशीलता को परखना होगा।

परीक्षण की विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कारक

- पर्यवेक्षकों को प्रशिक्षण
- शब्दावलियाँ, मानक और प्रोटोकॉल सुस्पष्ट हों।
- नियमित पर्यवेक्षण और तकनीकों की समीक्षा
- खामियों के कारणों का पता लगाना और उन्हें दूर करना

वैधता बढ़ाने के तरीके

- नैदानिक सूचना जुटाने के लिए सुगठित और मानकीकृत प्रक्रिया
- स्कोरिंग तथा प्रतिपादन के मानकीकृत प्रोटोकॉल
- भली-भांति परखे गए उपकरणों (जिनकी विश्वसनीयता और वैधता के तथ्य मौजूद हों) का उपयोग
- सूचनाओं के बारे में प्रासंगिक रिपोर्ट प्राप्त करना।

वैधता और विश्वसनीयता के बीच सम्बन्ध :

जो किसी समूह या जन समुदाय के लिए वैध (मान्य) हो, जरूरी नहीं कि वह नैदानिक व्यवस्था में किसी व्यक्ति विशेष के लिए भी मान्य हो। यदि किसी टेस्ट (जांच) की विश्वसनीयता अथवा पुनः जांच योग्यता कमजोर होगी तो किसी व्यक्ति-विशेष के लिए इसकी वैधता (मान्यता) भी कमजोर होगी।

(ख) जीवन गुणवत्ता के मापक

जीवन गुणवत्ता व्यक्ति विशेष की आशाओं और आकांक्षाओं तथा उस व्यक्ति के वर्तमान अनुभवों के बीच अन्तर का आकलन है। स्वास्थ्य से जुड़ी जीवन गुणवत्ता मुख्यतया उन कारकों से सरोकार रखती है जो स्वास्थ्य देखभाल सेवा प्रदाताओं स्वास्थ्य देखभाल व्यवस्था के प्रभाव के दायरे में आते हैं।

- सीधे मरीज से पूछ कर या अन्य साधनों का उपयोग करके स्वास्थ्य से जुड़ी जीवन गुणवत्ता का आकलन किया जा सकता है। स्वास्थ्य से जुड़ी जीवन-गुणवत्ता को विभिन्न प्रकार के रोगों, चिकित्सा उपचार और जन समुदायों/सांस्कृतिक समूहों पर लागू किया जा सकता है या फिर, ये केवल कुछ विशिष्ट रोगों, प्रयासों अथवा जन-समुदायों को संदर्भित कर सकती है। कोई विशिष्ट रोग किसी जनसमुदाय-विशेष या उस रोग की चपेट में आये व्यक्तियों के लिए बहुत प्रासंगिक हो सकता है लेकिन सामान्य जन-समुदाय (जहां स्वास्थ्य-समस्या नहीं है) के साथ तुलना करना मुश्किल होता है। यदि ऐसी तुलना करना आवश्यक हो तो, जैनेटिक (जीन सम्बन्धी) उपकरण या साधन ज्यादा उपयोगी हो सकता है। जैनेटिक तथा अन्य विशिष्ट उपकरणों को एक-दूसरे के साथ संयोजित करके उपयोग में लाया जा सकता है।

- एचआरकोल आकलन ज्यादा उपयोगी हैं क्योंकि ये मरीजों को प्रभावित करने वाली अनेक समस्याओं की पुष्टि कर सकते हैं, तथा किसी भी ऐसी मौजूदा समस्या, जिसकी अन्यथा अनदेखी हो जाती, को सामने ला सकते हैं और उपचार की सफलता का पूर्वानुमान लगा सकते हैं।
- एचआरकोल आकलनों को गुणवत्ता समायोजित जीवन-वर्षों (क्यूएएलवाई) की गणना करने के लिए, एक खास स्वास्थ्य स्तर में समय के पैमानों के साथ संयोजित किया जा सकता है।
जन समुदाय-विशिष्ट टूल (उपकरण) :
- चाइल्ड हैल्थ एण्ड इलनेस प्रोफाइल (चिप या सीएचआईपी)- जन समुदाय या आबादी के विशिष्ट समूहों जैसे कि बच्चों अथवा उम्रदराज व्यक्तियों के लिए समूह-विशिष्ट साधन या उपकरण डिजाइन किए गए हैं। चिप में संतुष्टि, आराम, लचीलापन, जोखिम बचाव और उपलब्धि, इन पांच आयामों को शामिल किया गया है।

(ग) स्वास्थ्य-देखभाल के पैमाने :

स्वास्थ्य देखभाल क्षेत्र के निष्पादन के आकलन से सम्बन्धित पैमानों का विवरण "आपूर्ति और मांग के पैमाने" में दिया जा चुका है और सेवाओं की कारगरता, कार्य कुशलता तथा स्वीकार्यता का मूल्यांकन के लिए अध्ययन अभिकल्प तथा स्वास्थ्य देखभाल क्षेत्र का ढांचा, प्रक्रिया, सेवा-गुणवत्ता एवं प्रतिफल का भी विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। इनमें निम्नलिखित को शामिल किया जा सकता है :

- मरीज की संतुष्टि और अनुभव तथा मरीज द्वारा बताए गए परिणाम का आकलन। मरीजों के बारे में ऐसे कई जांचे-परखे सर्वेक्षण मौजूद हैं जिनका मरीजों की संतुष्टि और अनुभव जानने के लिए उपयोग किया जा सकता है। केअर क्वालिटी कमीशन और पिकर इन्स्टीट्यूट ने राष्ट्रीय स्तर पर निष्पादन की निगरानी के लिए इनका उपयोग किया है।
- दिशा-निर्देशों के कार्यान्वयन, उपचार के नवीनतम सबूत और मानक तथा रेफेराल (किसी बड़े अस्पताल के लिए रेफर करना) जैसी प्रक्रियाओं और प्रतिफलों के रूप में भी स्वास्थ्य-देखभाल की गुणवत्ता का आकलन किया जा सकता है। इसके अलावा केयर क्वालिटी कमीशन जैसी वाह्य एजेंसियां भी अपनी निगरानी, निरीक्षण प्रक्रिया द्वारा गुणवत्ता का आकलन कर सकती हैं।
- स्वास्थ्य-देखभाल संगठनों की गुणवत्ता और उत्पादकता (मरीजों की संख्या, भरती मरीजों की संख्या, प्रतीक्षा-समय) आमतौर पर इस्तेमाल किए जाने वाले पैमाने हैं।
- अब वित्तीय निष्पादन को स्वास्थ्य-देखभाल निष्पादन का एक महत्वपूर्ण पहलू माना जाता है।

4.10 भारत में स्वास्थ्य स्तर

भारत ने आजादी के बाद अत्यंत उम्मीदों और आकांक्षाओं के साथ आधुनिक विकास के रास्ते पर कदम बढ़ाया था। लेकिन आजादी के सात दशक बाद भी, भारत में स्वास्थ्य का स्तर श्रीलंका जैसे देशों से भी निम्न है। भारतीय आबादी का एक बहुत बड़ा भाग स्वास्थ्य के स्वीकृत मानकों से नीचे जीवन जी रहा है। इसका प्रमुख कारण व्यापक गरीबी कुपोषण, शिक्षा का निम्न स्तर, स्वच्छ जल की आपूर्ति न होना, आवास और स्वच्छता की कमी है। प्रश्न यह उठता है कि इस मौजूदा संकट का कारण क्या है और ऐसा क्यों है कि लगभग 70 प्रतिशत आबादी स्वास्थ्य के खराब हालातों में रह रही है। स्वास्थ्य-स्तर का निर्धारण सामान्यता सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारकों द्वारा होता है। गरीबी, कुपोषण, संदूषण और रूग्णता तथा मृत्यु की बढ़ती दर के बीच सीधा सम्बन्ध होता है। गरीबी बहुधा बीमारी का कारण होती है और बीमारी का पैटर्न तय करती है। इसलिए इस सम्बन्ध को “गरीबी के रोग” कहा गया है। यह एक ऐसा दुष्क्र है जिसमें गरीबी बीमारी पैदा करती है और बीमारी गरीबी का बोझ बढ़ाती है। स्वास्थ्य सिस्टम व्यक्ति-विशेष के वर्ग-स्तर और जाति स्तर पर बहुत ज्यादा आश्रित होता है। समाज का सामाजार्थिक ढांचा भी स्वास्थ्य संबंधी ऐजेन्डा और प्राथमिकताओं को स्वरूप देता है। स्वास्थ्य अध्ययन संकेत देते हैं कि गरीबी और असमानता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

4.11: आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था :

भारतीय स्वास्थ्य सिस्टम को ढालने वाले व्यावसायिक, वाणिज्यिक और वर्ग संबंधी हितों पर नजर डालें तो, हम ग्रामीण भारत में खराब-स्वास्थ्य और उच्च मृत्यु दर का कारण समझ जाएंगे। इसके अलावा, प्रश्न यह उठता है कि लोग अपर्याप्त स्वास्थ्य सिस्टम को स्वीकार क्यों कर लेते हैं? स्वीकार्यता का मुद्दा दो अहम प्रश्न खड़े करता है। पहला ऐसा क्यों है कि भारत में शासक वर्ग शारीरिक श्रम करने वाले गरीबों के स्वास्थ्य-स्तर के बारे में चिन्तित क्यों नहीं है? और दूसरा, आम लोग इसका विरोध क्यों नहीं करते तथा और ज्यादा उपयुक्त स्वास्थ्य सिस्टम के लिए संघर्ष क्यों नहीं करते?

4.11.1: आर्थिक व्यवस्था: श्रमिकों का स्वास्थ्य स्तर तात्कालिक अथवा मुख्य चिन्ता का विषय क्यों नहीं है। यह प्रश्न अत्यन्त अहम है क्योंकि यह समाज में श्रमिक वर्ग की स्थिति दर्शाता है। श्रमिकों के स्वास्थ्य में कोई खास रुचि नहीं है क्योंकि, मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में जन-साधारण के स्वास्थ्य की कोई अहमियत नहीं है। ग्रामीण स्वास्थ्य खराब है क्योंकि भारत में पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया के लिए कठोर श्रम करने वाले ग्रामीणों का स्वास्थ्य कोई अहमियत नहीं रखता।

चूंकि बेरोजगार-अर्ध-बेरोजगार श्रमिकों की भारत में भरमार है, इसलिए कोई श्रमिक अस्वस्थ या काम करने लायक नहीं है, इसका कोई फर्क नहीं पड़ता। समाज के हाशिये पर पड़े श्रमिक गरीब का स्वास्थ्य-स्तर यदि उसकी अप्रासंगिकता को दर्शाता है तो यह साथ ही यह भी दर्शाता है कि वह समाज में कितना शक्तिहीन है तथा अपनी हालत के खिलाफ आवाज उठाने में अक्षम है। जैसा कि नवारो ने कहा है— चिकित्सा व्यवसाय उस स्वास्थ्य सिस्टम का सह-प्रबंधक है, जिसका

बुनियादी ढांचा आर्थिक और सामाजिक पूर्व-धारणाओं तथा ताकतों, इस व्यवसाय से भी कहीं ज्यादा व्यापक हैं, के द्वारा तय किया जाता है।

4.11.2: राजनीतिक व्यवस्था : अब दूसरा प्रश्न, बहुसंख्य श्रमिक वर्ग स्वास्थ्य संसाधनों के वर्तमान ढांचे, नियंत्रण और वितरण का विरोध क्यों नहीं करता है? निश्चय ही जो लोग वर्तमान सरकार को सत्ता में लाए हैं, उन्हीं लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय संसाधनों का सुव्यवस्थित प्रवाह सुनिश्चित करना सरकार का दायित्व है। सरकार किसी नीति-विशेष को किस सीमा तक क्रियान्वित करे, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि सभी लोग मिलकर जवाबदेही के लिए सरकार पर कितना दबाव बना रहे हैं। बहुसंख्य लोगों की स्वास्थ्य-जरूरतों को वाणिज्यिक और/अथवा व्यवसायिक हितों की तुलना में ज्यादा तरजीह देने के प्रति यदि कोई राजनीतिक जवाबदेही नहीं है तो प्रश्न यह उठता है कि "क्यों नहीं"? बदलाव के लिए जरूरी कारगर दबाव की कमी के कारण बहुत जटिल है। इस शक्तिहीनता को समझने के लिए राजनीतिक/ निर्वाचन सिस्टम पर ही नहीं बल्कि गरीबों के दयनीय जीवन जैसे कारक जो आवाज नहीं उठाने देते तथा गरीबों को उनकी स्थिति के लिए जिम्मेदार मूल कारणों के प्रति जागरूक की बजाय दिग्भ्रमित करने या बदलाव के लिए इन लोगों के प्रयासों का दमन करने वाली सामाजिक ताकतों पर विचार करना होगा।

4.4 सारांश

उपरोक्त इकाई के अध्ययन के पश्चात् अब हम सामाजिक मरक-विज्ञान (संक्रामक रोग विज्ञान) की परिभाषा व विषय वस्तु तथा इसे विभिन्न प्रकारों से अवगत हो चुके हैं। साथ ही आपतन व व्यापकता व इनकी उपयोगिता से भी अवगत हो चुके हैं।

4.5 शब्दावली

आपतन (Incidence): एक विशिष्ट समय के दौरान किसी विशिष्ट जन समुदाय में रोग के नये मामलों की दर को आपतन कहते हैं।

व्यापकता (Prevalence): एक विशिष्ट समय में किसी विशिष्ट जन समुदाय में किसी निर्धारित समय में अथवा समयावधि के दौरान सभी मौजूदा (पुराने व नये) रोगियों की दर को व्यापकता कहते हैं।

4.6 अभ्यास प्रश्न

1. मरक-विज्ञान कौन सी शताब्दि में अस्तित्व में आया?
(अ) 17वीं शताब्दि (ब) 18वीं शताब्दि (स) 19वीं शताब्दि (द) 20वीं शताब्दि
2. संयुक्त राज्य अमेरिका को डब्लू एस फ्रास्ट संक्रामक रोग विज्ञान के पहले प्रोफेसर कब बने?
(अ) 1925 (ब) 1927 (स) 1929 (द) 1920
3. संक्रामक रोग विज्ञान की प्रचलित परिभाषा किस विद्वान की मानी जाती है?

(अ) पार्किन्स (ब) ग्रीनवुड (स) मैकमोहन (द) जान एम लास्ट

4. स्वास्थ्य स्तर मापने हेतु प्रचलित प्रमुख रूप से कितने रोग मापक हैं?

(अ) 3 (ब) 2 (स) 4 (द) 5

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

1. स 2. ब 3. द 4. अ

4.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एचेंसन, आर.एम. (1978), ब्रिटिश मेडिकल जरनल, 2 : 17-37
2. आस्टिन, डी.एफ एण्ड वार्नर, एस.वी. (1970), इपिडिमियोलॉजी फॉर द हैल्थ साइन्सेज, इलीनोइंस, सी.सी., थॉमस
3. वार्कर, डी.जे.पी. एण्ड जी. रॉस (1976), इपिडिमियोलॉजी इन मेडिकल प्रैक्टिस, चर्चिल लिग्विस्टन
4. फॉक्स, जे.पी. एट.एल. (1970), इपिडिमियोलॉजी : मैन एण्ड डिजीज, न्यूयार्क, मैकमिलन
5. लास्ट, जॉन एम. (एडि (1983), ए डिक्सनरी ऑफ इपिडिमियोलॉजी, ए हैण्डबुक स्पान्सर्ड बाई द आई.ई.ए., आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
6. लोवी, सी.आर. एण्ड जे. कोस्ट्राजेव्स्की (1973), इपिडिमियोलॉजी : ए गाइड टू टीचिंग मैथड्स, चर्चिल लिग्विस्टन
7. मैकमोहन, वी. एण्ड टी.एफ. पुघ (1970) इपिडिमियोलॉजी : प्रिंसीपल्स एण्ड मैथड्स, बोस्टन, लिटिल ब्राउन
8. मॉरिस जे.एन. (1975) यूजेस ऑफ इपिडिमियोलॉजी 3 एडि., लंदन, चर्चिल लिग्विस्टन
9. पार्क के. (2015), पार्क्स टैक्स बुक ऑफ सोशल एण्ड प्रिवेन्टिव मेडिसिन, 23 एडि., बनारसी दास भनोट पब्लिशर्स
10. रॉवर्ट्स, सी.जे. (1977) इपिडिमियोलॉजी फार क्लीनिसियंस, लंदन, पीतम मेडिकल
11. डब्लू.एच.ओ. (1981), हैल्थ फार ऑल, सीरियल नं. 4:1

4.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. एल्डरसन, एम. (1983), एन इन्ट्रोडक्सन टू इपिडिमियोलॉजी, 2 एडिसन, लंदन, मैकमिलन
2. लीलिनफील्ड, ए.एम. एण्ड लिलिनफील्ड, डी.ई. (1980), फाउन्डेशन ऑफ इपिडिमियोलॉजी, 2 एडीसन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
3. रोट, एल.एच. एट एल (1982), प्रिंसीपल्स ऑफ इपिडिमियालॉजी : ए सेल्फ टीचिंग गाइड, लंदन, एकेडेमिक प्रेस
4. डब्लू.एच.ओ. (1993), बेसिक इपिडिमियोलॉजी बाइ ब्यागलेहोले, आर. बोनिस, टी. केजलिस्ट्रोम
5. डब्लू.एच.ओ. (1982), द पैलेस ऑफ इपिडिमियोलॉजी इन लोकल हैल्थ वर्क, ऑफसेट पब्लिकेशन नं. 70, जेनेवा

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. मरक-विज्ञान (संक्रामक रोग विज्ञान) की परिभाषा एवं विषयवस्तु का वर्णन कीजिये?
2. सामाजिक मरक-विज्ञान किस प्रकार स्वास्थ्य के सामाजिक प्रसार एवं सामाजिक निर्धारकों का अध्ययन करता है?
3. मरक-रोग विज्ञान के प्रमुख तीन घटकों को स्पष्ट कीजिए?
4. आपत्तन एवं व्यापकता की परिभाषा व उपयोगिता का वर्णन कीजिये?

इकाई 5 :जरायु स्वास्थ्य (Geriatric Health)

इकाई की रूपरेखा (Outline of Unit)

- 5.1 उद्देश्य
- 5.2 प्रस्तावना
- 5.3 जरायु जननांकिकी
- 5.4 वृद्धजनों के अधिकार
- 5.5 वृद्धावस्था, स्वास्थ्य और विकास
- 5.6 राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (एनपीएचसीई)
- 5.6.1: एनपीएचसीई का ध्येय
- 5.6.2: एनपीएचसीई के विशिष्ट उद्देश्य
- 5.6.3: एनपीएचसीई के उद्देश्यों को प्राप्त करने की कार्यनीतियां
- 5.6.4: एनएचपीसीई से अपेक्षित परिणाम
- 5.6.5: एनपीएचसीई के अन्तर्गत सर्विस पैकेज
- 5.6.6: एनएचपीसीई के तहत सर्विस पैकेज अलग-अलग स्तरों पर उपलब्ध कराया जाना
- 5.6.7: एनएचपीसीई के कार्यान्वयन के लिए संस्थागत फ्रेमवर्क
- 5.7 सारांश
- 5.8 शब्दावली
- 5.9 अभ्यास प्रश्न
- 5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 5.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 5.12 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप;

1. जरायु (वृद्ध लोगों की) जनानिकी से अवगत होंगे।
2. वृद्ध लोगों के अधिकारों से परिचित हो सकेंगे।
3. वृद्धावस्था, स्वास्थ्य एवं विकास के परस्पर सम्बन्धों को जान पायेंगे।
4. राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (NIHCE) के उद्देश्यों तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु कार्यनीतियों से अवगत होंगे।

5. साथ ही इस कार्यक्रम के अन्य अवयवों को जान पायेंगे।

5.2 प्रस्तावना

वृद्धजनों की सबसे अहम समस्या स्वास्थ्य है। भारत जैसे विकासशील देशों में, वृद्धजनों में बीमारी और विकलांगता जैसी समस्याओं का जोखिम सबसे ज्यादा होता है। इनके लिए स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली की तत्काल आवश्यकता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के एक अनुमान के अनुसार 2015 तक कैंसर, हाइपरटेंशन, हृदय रोग, डायबिटीज जैसी पुरानी बीमारियों से मरने वालों की संख्या 35 मिलियन से बढ़कर 41 मिलियन हो जाएगी, यानि इन बीमारियों से होने वाली मौतों में 17 प्रतिशत का इजाफा होगा।

5.3: जरायु जननांकिकी

आयु वृद्धि एक प्राकृतिक घटना है। उत्तरजीवितता (चिरायु होना या लम्बी उम्र तक जीवित रहना) ने अनेक सामाजार्थिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को जन्म दिया है। उर्वरता दर में गिरावट के कारण 60 वर्ष या इससे अधिक की उम्र वाले लोगों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ (UN) का ध्यान खींचा है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा कराए गए एक अध्ययन के अनुसार 2050 तक वृद्धजनों की संख्या दो अरब तक पहुंच जाएगी। इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1939 में पहला विश्व सम्मेलन आयोजित किया था। इसमें अन्य बातों के साथ-साथ स्वास्थ्य और पोषण, परिवार, आय सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण के मुद्दों पर विशेष कदम उठाने का आहवान किया गया था। 1992 में आयु वृद्धि पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें आयुवृद्धि पर एक उद्घोषणा को अंगीकार किया गया था। 2002 में आयु वृद्धि के बारे में आयोजित दूसरे विश्व सम्मेलन में मैड्रिड अन्तर्राष्ट्रीय कार्य योजना को स्वीकार किया गया। इसमें विशेष रूप से स्वास्थ्य और वृद्धावस्था में स्वस्थता के लिए सभी स्तरों पर आचार-व्यवहार, नीतियों और तौर-तरीकों में बदलाव का आहवान किया गया।

वर्तमान शताब्दी में चर्चा का सबसे बड़ा मुद्दा आबादी के एक बहुत बड़े भाग का वृद्धावस्था को प्राप्त होना है। विशाल आबादी वाले भारत जैसे देश में 60 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक है। भारत में पिछले 50 वर्ष के दौरान वृद्ध आबादी तीन गुना बढ़ी है और निकट भविष्य में भी इसी तरह बढ़ती रहेगी। 2001 की जनगणना के अनुसार कुल आबादी में वृद्धजनों की हिस्सेदारी 7.7 प्रतिशत थी जो 2011 की जनगणना में बढ़ कर 8.6 प्रतिशत हो गई है। अनुमान है कि अगले चार दशकों यानि चार गणनाओं में आबादी इस प्रकार रहेगी— 133.32 मिलियन (2021), 178.59 मिलियन (2031), 236.01 मिलियन (2041) और 300.96 मिलियन (2051)। वृद्धजनों की आबादी में वृद्धि का कारण उर्वरता तथा मृत्यु दर में बदलाव है।

2001 में कुल आबादी में वृद्धजनों (60 वर्ष या इससे अधिक की आबादी का शेयर 7.7 प्रतिशत और 2011 में 8.6 प्रतिशत (104 मिलियन; 53 मिलियन महिला और 51 मिलियन पुरुष) था जो एक अनुमान के अनुसार वर्ष 2050 तक 19 प्रतिशत हो जाएगा। जनसंख्याविदों का अनुमान है कि केवल अगले 25–30 वर्षों में 65 वर्ष और इससे अधिक आयु के व्यक्तियों की संख्या 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों की तुलना में दोगुनी हो जाएगी। इसका मतलब है कि बाल चिकित्सकों की तुलना में जरायु चिकित्सकों की ज्यादा आवश्यकता होगी। इसलिए कई दशक पहले ही हमें इसकी तैयारी कर लेनी चाहिए। अनुमान बताते हैं कि 2050 में “वयोवृद्ध” यानि 80 वर्ष या इससे अधिक आयु के व्यक्तियों की संख्या 434 मिलियन तक पहुंच जाएगी यानि 2015 की तुलना में इनकी संख्या में तीन गुना वृद्धि हो जाएगी। वर्तमान में इस आयु के व्यक्तियों की संख्या में सबसे तेज वृद्धि हो रही है और इसी उम्र में रुग्णता (Morbidity) तथा पराश्रितता (Depandancy) बोज़ भी सबसे ज्यादा होता है।

भारत में वृद्धजनों से जुड़े आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2011 में 7 प्रतिशत वृद्धजन ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे थे। ग्रामीण क्षेत्रों में 66 प्रतिशत वृद्ध पुरुष और 28 प्रतिशत वृद्ध महिलाएं कार्यरत थीं, जबकि शहरी क्षेत्रों में केवल 46 प्रतिशत वृद्ध पुरुष और लगभग 11 प्रतिशत वृद्ध महिलाएं कार्यरत थी। हालांकि, वृद्धजनों में साक्षरता दर में वृद्धि का रुझान देखा जा रहा है, लेकिन वृद्धावस्था निर्भरता अनुपात जो 1961 में 10.9 प्रतिशत था वह भी बढ़कर 2011 में 14.2 प्रतिशत हो गया है। पूरे भारत के लिए, आर्थिक आत्मनिर्भरता के राज्यवार आंकड़े बताते हैं कि दूसरों पर पूरी तरह से निर्भर वृद्ध पुरुषों का अनुपात सबसे ज्यादा केरल में (43 प्रतिशत) और सबसे कम जम्मू-कश्मीर में (21 प्रतिशत) है।

जन्म और मृत्युदर में गिरावट और इसके फलस्वरूप जन्म तथा वृद्धावस्था के समय उत्तरजीविता में वृद्धि से जननांकिकी अंतरण का अन्तिम प्रतिफल अथवा जननांकिकी उपलब्धि माना जाता है। 2006–2011 के दौरान उत्तरजीवितता (अनुमानित जीवनकाल) पुरुषों के लिए 65.65 वर्ष और महिलाओं के लिए 67.22 वर्ष था, जबकि एक अनुमान के अनुसार 2011–16 के दौरान यह पुरुषों के मामले में 67.04 वर्ष और महिलाओं के मामले में 68.8 वर्ष हो जाएगी। सामाजिक स्तर चाहे कैसा भी हो, वृद्धावस्था में गैर-संचारी रोगों से ग्रस्त होना बहुत ज्यादा आम बात है और इसके लिए बहुत ज्यादा स्वास्थ्य सेवाओं और सामाजिक देखभाल की आवश्यकता होती है। बहुधा ये गैर-संचारी रोग (एनसीडी) विकलांगता का कारण बन जाते हैं, जिससे वृद्धजनों के दैनिक कार्यकलाप प्रभावित हो जाते हैं। इन लम्बी बीमारियों को मैनेज करना भी बहुत महंगा होता है। विशेषकर कैंसर का इलाज, जोड़ों को बदलना, हार्ट सर्जरी, न्यूरोसर्जिकल प्रक्रिया आदि काफी महंगे इलाज हैं और वृद्धजन इसका वित्तीय बोझ उठाने में असमर्थ होते हैं। राष्ट्रीय प्रतिदर्श (सैम्पल) सर्वेक्षण के 60 वें दौर में एक व्यापक स्थिति रिपोर्ट प्रस्तुत की गई है जो वृद्धजनों के बारे में है। इस सर्वेक्षण के अनुसार,

वृद्धजनों में रोग व्यापकता और ग्रस्तता तथा अस्पताल में भर्ती होने की दर कुल आबादी की तुलना में बहुत ज्यादा है। इसमें यह भी बताया गया है कि 8 प्रतिशत वृद्ध भारतीय अपने घर अथवा बिस्तर तक ही सीमित हैं। चलने-फिरने में असमर्थ अथवा अपने घर तक सीमित 80 वर्ष से अधिक आयु के वृद्धों में यह अनुपात 27 प्रतिशत तक पहुंच गया है। ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्रों में रोग या विकलांगता ग्रस्त महिलाओं का प्रतिशत पुरुषों से ज्यादा है। सर्वेक्षण से पता चला है कि अपना स्वास्थ्य ठीक-ठाक या अच्छा बताने वाले लोगों का प्रतिशत 55.63 प्रतिशत और स्वयं को बीमार बताने वालों का प्रतिशत 77.78 प्रतिशत था। इसके विपरीत सर्वेक्षित आबादी में 13-17 प्रतिशत आबादी ने बीमारी की शिकायत तो नहीं की लेकिन कहा कि स्वास्थ्य ठीक नहीं है। ऐसा सम्भव है कि अनेक वृद्धजन खराब स्वास्थ्य को वृद्धवस्था की एक "सामान्य/आम बात" मानकर इसकी परवाह न करते हों। अपने स्वास्थ्य के बारे में इन लोगों की यह धारणा एक महत्वपूर्ण पर्यवेक्षण (टिप्पणी) है क्योंकि यह स्वास्थ्य सेवाओं के उपयोग और उपचार संबंधी सलाह के अनुपालन का एक महत्वपूर्ण संकेतक है।

लेकिन बदलती आवश्यकता और समय के अनुरूप स्वास्थ्य तथा सामाजिक देखभाल का एक प्रतिमान (मॉडल) विकसित करने के लिए बहुत कम प्रयास किये गए हैं। विकसित देशों में वृद्धजनों की देखभाल के लिए नर्सिंग होम केयर, स्वास्थ्य बीमा आदि जैसे अनेक प्रतिमान तैयार किए गए हैं। भारत तथा भारत जैसी सामाजार्थिक स्थिति वाले अन्य समाजों में वृद्ध लोगों के लिए ऐसे कोई प्रतिमान नहीं हैं। अतः स्वास्थ्य प्रणाली के विकास में अभिनवशीलता के लिए यह एक अच्छा मौका है, हालांकि यह एक बड़ी चुनौती है, पर असम्भव नहीं है। हमारे देश में वृद्धजनों के स्वास्थ्य देखभाल की जरूरतें भी भिन्न हैं। भारत में अभी भी वृद्धों की देखभाल परिवार करता है, इन परिवारों को प्रशिक्षण दिया जाए तो यह वर्ग स्वास्थ्य कार्यक्रम का सहयोगी बन सकता है। वर्तमान में, देश में स्वास्थ्य देखभाल के सामान्य संस्थान (अस्पताल, डिस्पेंसरियां आदि) ही वृद्धजनों को स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराती हैं। जैसा कि भविष्य में वृद्धजनों की आबादी में वृद्धि होगी और संचारी रोगों की जगह गैर-संचारी रोग लेंगे, अब समय आ गया है कि स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली इष्टतम और व्यापक तरीके से वृद्धजनों की स्वास्थ्य देखभाल के लिए अपने आप को तैयार करे। वृद्धजनों को यह समझाया जाना चाहिए कि रुग्णता और विकलांगता वृद्धावस्था का एक हिस्सा नहीं है और उन्हें स्वास्थ्य समस्याओं के निदान के लिए सहायता मांगनी चाहिए। वृद्धजनों में सक्रिय और स्वस्थ वृद्धावस्था की अवधारणा को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, इनमें स्वास्थ्य के रोकथाम, प्रोत्साहक, उपचार और पुनर्वास संबंधी पहलू शामिल हैं।

5.4: वृद्धजनों के अधिकार

वृद्धजनों के स्वास्थ्य में सुधार के लिए जन-संसाधन आवंटित करने के अनेक औचित्य हैं। पहला औचित्य है, मानव अधिकार। वृद्धजनों को यह अधिकार होना चाहिए कि स्वास्थ्य प्राप्त करने योग्य

सर्वोच्च मानक उन्हें मिले। यानि उनका स्वास्थ्य ज्यादा से ज्यादा बेहतर रहे। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में निहित है। लेकिन, केवल इस वजह से कि अब वे बूढ़े हो गए हैं, उन्हें निन्दा और भेदभाव का सामना करना पड़ता है, व्यक्तिगत, सामुदायिक तथा संस्थागत स्तरों पर उनके अधिकार का उल्लंघन किया जाता है। स्वस्थ्य वृद्धावस्था के लिए अधिकार आधारित नजरिया अपनाने से वृद्धजनों के अच्छे स्वास्थ्य के रास्ते में आने वाली कानूनी, सामाजिक और ढांचागत बाधाओं से निपटने में मदद मिलेगी तथा इन अधिकारों के सम्मान, संरक्षण और इन्हें पूरा करने के बारे में राज्यों तथा राज्य के अलावा अन्य संस्थानों की बाध्यताएं और दायित्व स्पष्ट होंगे।

स्वास्थ्य के बारे में मानव अधिकार आधारित नजरिया कहता है कि स्वास्थ्य के अधिकार में “उन सामाजार्थिक कारकों को अंगीकार किया गया है जो लोगों के स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों को बढ़ावा देते हैं। तथा भोजन और पोषण, आवास, स्वच्छ पेयजल तथा पर्याप्त आरोग्यता, कार्य के सुरक्षित और स्वस्थ्य हालात तथा स्वस्थ वातावरण जैसे स्वास्थ्य निधारकों को भी इन अधिकारों के दायरे में रखा गया है।” वृद्धजन स्वास्थ्य के प्राप्ति-योग्य सर्वोच्च मानक हासिल कर सकें, इसके लिए समुचित हालात तैयार करने में मदद के लिए अनेक प्रकार के कानून, नीतियां बनानी होंगी और कदम उठाने होंगे। निश्चय ही, स्वास्थ्य के अधिकार के अन्तर्गत राज्य किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना, ऐसी स्वास्थ्य सेवाएं, वस्तुएं और सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए बाध्य है, जो उपलब्ध हों, स्वीकार्य हों तथा अच्छी गुणवत्ता वाली हों। राज्यों को क्रमिक विकास के सिद्धान्त के अनुरूप इस दिशा में आगे बढ़ना होगा। वृद्धजनों के मानवाधिकार से जुड़े स्वास्थ्य के अधिकार को पूरी तरह से साकार करने के लिए राज्यों को अपने उपलब्ध अधिकतम संसाधनों को इस दिशा में लगाना होगा। यहां उपलब्धता का मतलब है, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य देखभाल सुविधाएं, वस्तु और सेवाएं तथा कार्यक्रम पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हों।

वृद्धावस्था के संदर्भ में उपलब्धता का तात्पर्य यह देखना है कि स्वास्थ्य सुविधाएं, वस्तुएं और सेवाएं वृद्धजनों की स्वास्थ्य सम्बन्धी जरूरतों को किस हद तक पूरा कर रही हैं। इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये सेवाएं स्वास्थ्य प्रणाली द्वारा प्रदत्त सेवाओं से काफी अलग हैं।

स्वास्थ्य सुविधाओं, वस्तुओं और सेवाओं तक पहुंच के चार उप आयाम हैं। ये आयाम हैं— भेदभाव रहित, प्रत्यक्ष पहुंच, किफायती पहुंच तथा सूचना की पहुंच। ये सभी आयाम वृद्धजनों के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक हैं, क्योंकि उन्हें आयु के आधार पर सेवाओं में कटौती, शारीरिक अक्षमता, जिससे सेवा तक पहुंच कठिन हो जाती है, उम्र के कारण आर्थिक असुरक्षा और साक्षरता से लेकर वेब आधारित सामग्री जैसी सूचना संबंधी बाधाओं आदि का सामना करना पड़ सकता है। वृद्धजन वेब आधारित सामग्री से अनजान हो सकते हैं या हो सकता है कि इस सामग्री तक उनकी पहुंच ही न हो।

वृद्धजनों का स्वास्थ्य का अधिकार, चिकित्सा संबंधी नैतिक मूल्यों, पुरुष-महिला अनुकूलता तथा सांस्कृतिक रूप से समुचित नजरियों के अनुरूप स्वास्थ्य सुविधाओं, वस्तुओं और सेवाओं की स्वीकार्यता के तत्व को मान्यता देता है। उदाहरण के लिए, स्वीकार्यता के आकलन में यह भी ध्यान रखा जाता है कि क्या सेवाएं आयु के अनुकूल अथवा वृद्धजनों की जरूरतों के अनुकूल हैं और वृद्धजन जो कि एक सजातीय समूह नहीं है बल्कि अलग-अलग स्वास्थ्य जोखिमों और परिस्थितियों से ग्रस्त होते हैं, की विविधता को भी ध्यान में रखा जाता है। कम आय वाले देशों में, हो सकता है, सेवाएं उपलब्ध हों, लेकिन घंटों तक लाइन में खड़े रहना पड़ता है, लेकिन शारीरिक अक्षमता या बार-बार शौचालय जाने के आवश्यकता के कारण कई वृद्धजनों के लिए घंटों लाइन में लगे रहना दिक्कत भरा हो सकता है। कई देशों ने वृद्ध मरीजों को देखने के लिए एक अलग समय तय करके, बैठने के लिए कुर्सियां उपलब्ध कराके और वृद्धजनों को बार-बार शौचालय जाने से लाइन में अपनी बारी खोने का भय दूर करके वृद्धजनों की इन जरूरतों को पूरा करने के लिए कदम उठाए हैं।

स्वास्थ्य का अधिकार के चौथे तत्व में बेहतर सुविधाओं, वस्तुओं और सेवाओं के महत्व को रेखांकित किया गया है। वृद्धजनों की जरूरतों को बेहतर तरीके से पूरा करने के लिए, स्वास्थ्य प्रणाली में सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि ये सुधार निरन्तर चलते रहें। इसके अलावा मानवाधिकारों में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि देश इन मानकों के आधार पर वृद्धजनों की सेवाओं तक पहुंच की निगरानी करते रहें। इस कथन में भी सुदृढ़ और दैनिक सेवाओं के महत्व पर बल दिया गया है और ज्यादा स्पष्ट रूप से कहा जाए तो भेदभाव रहित सुविधा पाने का अधिकार में आयु के आधार पर भेदभाव नहीं होगा का अधिकार भी अन्तर्निहित है। इसका मतलब केवल यह नहीं है कि वृद्धजनों के भी वही अधिकार हैं, जो अन्य लोगों के हैं, बल्कि राज्य के लिए यह बाध्यकारी बनाया गया है कि वह वृद्धजनों के लाभ-वंचित और कमजोर समूहों तक पहुंचने का विशेष प्रयास करे और समता को बढ़ावा देने के लिए इन समूहों के लिए अलग से संसाधन उपलब्ध कराए। मानवाधिकार आधारित प्रयासों का मुख्य उद्देश्य यह है कि वृद्धजन अपने स्वास्थ्य और स्वस्थता के प्रति जागरूक बनें और इस बारे में सोच-समझ कर फैसले लें, यह भी व्यक्ति केन्द्रित सार्वजनिक स्वास्थ्य उपगम का एक अहम तत्व है। नीतियों और कार्यक्रमों का उद्देश्य वृद्धजनों का सशक्तिकरण है ताकि वे जहां तक सम्भव हो अपने समुदाय का सक्रिय सदस्य बने रहकर अपनी क्षमता के अनुसार योगदान दे सकें। लेकिन, सार्थक सहभागिता और सामुदायिक नेतृत्व की निरन्तरता सुनिश्चित करने के लिए वित्तीय और तकनीकी सहयोग अपेक्षित होगा। यह सुनिश्चित करना कि मानवाधिकारों पर ध्यान दिया जाए, वृद्धजनों के बेहतर स्वस्थ जीवन के लिए किए जाने वाले प्रयासों को और भी अहम बना देता है और इसके लिए जवाबदेही सुनिश्चित करना उतना ही अहम है। जवाबदेही सुनिश्चित होने से लोग अपने अधिकारों की मांग करने में सक्षम बनते हैं। स्वास्थ्य के लिए जवाबदेही बढ़ाने के लिए अनेक तंत्रों का उपयोग किया जा सकता है, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार तंत्र

भी शामिल है। इसके साथ ही राष्ट्रीय वृद्धावस्था समितियाँ अथवा निगरानी, शिकायत तथा समाधान प्रक्रियाएँ भी बनाई जा सकती हैं। इनसे वृद्ध लोगों के साथ हिंसा जैसे अप्रत्यक्ष मुद्दों का पता लगाने में भी मदद मिलेगी। उदाहरण के लिए एशिया पैसिफिक फोरम ऑफ नेशनल ह्यूमन राइट्स इन्स्टीट्यूशन्स ने संस्थागत देखभाल में वृद्धजनों के साथ भेदभाव और बदसलूकी की ओर ध्यान आकर्षित करने में सहायता की थी और इस संस्थागत देखभाल की व्यक्तिगत प्रकृति के बजाय व्यवस्थागत प्रकृति की खामियों को उजागर किया था। इसके समाधान के लिए सभी सैक्टरों और डोमेन तथा मानव अधिकार, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं वृद्धजनों के हितैषियों द्वारा कार्रवाई की जानी चाहिए।

5.5: वृद्धावस्था, स्वास्थ्य और विकास

वृद्धावस्था और स्वास्थ्य पर कार्रवाई करने का दूसरा प्रमुख औचित्य स्थाई विकास को बढ़ावा देना है। ज्यादातर लोग वृद्धावस्था का जीवन जीएंगे और वृद्धजनों की आबादी बढ़ती ही जाएगी। यदि हमें एक सशक्त, शान्तिपूर्ण, समतापूर्ण और सुरक्षित समाज का निर्माण करना है तो इस जननांकिकी अन्तरण (प्रौढ़ावस्था से वृद्धावस्था में प्रवेश) को ध्यान में रखना होगा और विकास में वृद्धजनों का सहयोग लेने तथा उन्हें साथ लेकर चलने के लिए प्रयास करने ही होंगे।

वृद्धजन अनेक तरह से विकास में योगदान देते हैं। अन्न उत्पादन और भावी पीढ़ियों का मार्गदर्शन इसके उदाहरण हैं। विकास की प्रक्रिया में वृद्धजनों को शामिल करने से एक समतामूलक समाज के निर्माण में तो मदद मिलेगी ही साथ ही उनके योगदान को समर्थन या सहयोग देने से विकास की प्रक्रिया में तेजी भी आएगी। यदि विकास प्रक्रिया में वृद्धजनों के योगदान की अनदेखी की जाएगी तो इससे उनकी खुशहाली और योगदान तो प्रभावित होगा ही, अन्य पीढ़ियों की खुशहाली और उत्पादकता पर भी असर पड़ेगा। उदाहरण के लिए, पहुंच-योग्य या किफायती स्वास्थ्य देखभाल उपलब्ध नहीं होगा तो वृद्ध व्यक्ति के उच्च रक्तचाप का इलाज नहीं होगा और उसे मस्तिष्क आघात (स्ट्रोक) पड़ेगा। इससे परिवार उनसे मिलने वाली सुरक्षा से तो वंचित होगा ही, साथ ही परिवार के अन्य सदस्यों (आमतौर पर महिलाएँ और लड़कियाँ) को उनकी देखभाल करनी होगी और वे अपना कार्य या अध्ययन नहीं कर पायेंगी। वृद्धजनों की अनदेखी से विकास प्रक्रिया पर पड़ने दुष्प्रभाव लोगों के लिए ही नहीं पूरे समाज के लिए नुकसानदायक हैं।

5.6: राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (एनपीएचसीई)

एनपीएचसीई विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों के बारे में संयुक्त राष्ट्र समझौते के तहत यथा- प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा बनाया गया एक कार्यक्रम है। भारत सरकार ने 1999 में राष्ट्रीय वृद्धजन नीति को अपनाया था तथा वरिष्ठ नागरिकों की चिकित्सा देखभाल के प्रावधान को “माता-पिता तथा वरिष्ठ नागरिक अनुरक्षण एवं कल्याण अधिनियम, 2007” की धारा 20 में शामिल किया था।

5.6.1: एनपीएचसीई का ध्येय

1. वृद्धजनों को पहुंच योग्य, किफायती और उच्च गुणवत्ता-युक्त, दीर्घकालिक, व्यापक और अनन्य देखभाल सेवाएं उपलब्ध कराना;
2. वृद्धावस्था के लिए एक नया “ढांचा” तैयार करना;
3. “सभी आयु वर्ग के लोगों के समुदाय” के लिए एक समर्थकारी वातावरण बनाने के वास्ते एक फ्रेमवर्क तैयार करना;
4. सक्रिय तथा स्वस्थ वृद्धावस्था को बढ़ावा देना।

5.6.2: एनपीएचसीई के विशिष्ट उद्देश्य

- समुदाय आधारित प्राथमिक स्वास्थ्य-देखभाल (पीएचसी) उपागम के द्वारा प्रोत्साहक, निवारक, आरोग्यकर, पुनर्वास सेवाएं प्रदान करना।
- वृद्धजनों की स्वास्थ्य समस्याओं का पता लगाना तथा समुदाय को मजबूत रैफराल व्यवस्था से युक्त समुचित स्वास्थ्य व्यवस्था उपलब्ध कराना।
- वरिष्ठ नागरिकों को स्वास्थ्य-देखभाल उपलब्ध कराने के लिए चिकित्सा तथा अर्ध-चिकित्सा व्यवसाइयों एवं परिवार के सेवा करने वाले लोगों को सक्षम बनाना।
- जिला अस्पतालों, क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों के माध्यम से वृद्धजनों को रैफराल सेवाएं प्रदान करना।
- राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम), आयुष तथा सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय जैसे अन्य समवर्गीय विभागों के साथ समायोजन।

5.6.3: एनपीएचसीई के उद्देश्यों को प्राप्त करने की कार्यनीतियां

- समुदाय आधारित पीएचसी उपागम और प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मियों द्वारा घरों का दौरा।
- पीएचसी/सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र (सीएचसी) के स्तर पर अनन्य (डेडीकेटेड) सेवाएं तथा मशीनरी, उपकरण, प्रशिक्षण, अतिरिक्त मानव संसाधन, सूचना, शिक्षा और संचार (आईईसी) आदि का प्रावधान।

- जिला अस्पतालों में 10 बिस्तर वाले वार्ड के साथ अनन्य सुविधाएं, अतिरिक्त मानव संसाधन मशीनरी और उपकरण, उपभोज्य तथा औषधियां, प्रशिक्षण और आईईसी।
- वृद्धजनों को तृतीयक स्तर की अनन्य चिकित्सा सुविधाएं प्रदान करने के लिए 8 क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों का सुदृणीकरण, जरायु चिकित्सा में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू करना तथा सभी स्तरों पर स्वास्थ्य कर्मियों को सेवाकालीन प्रशिक्षण।
- लक्षित समूहों तक पहुंच के लिए मास मीडिया, फॉक मीडिया तथा अन्य संचार साधनों का उपयोग।
- जरायु विज्ञान में शोध तथा कार्यक्रमों और एनपीएचसीई के कार्यान्वयन की सतत् निगरानी तथा स्वतंत्र मूल्यांकन।
- जरायु स्वास्थ्य देखभाल में सार्वजनिक-निजी भागीदारी को बढ़ावा देना।
- आयुष को मुख्यधारा में लाना- स्वास्थ्य की स्थानीय परम्पराओं को फिर से जीवित करना और जरायु-विज्ञान के क्षेत्र में सामाजिक न्याय और अधिकारता मंत्रालय के कार्यक्रमों के साथ इन्हें मिलाना।
- जरायु से जुड़े मुद्दों में सहयोग के लिए चिकित्सा शिक्षा का पुनराभिमुखीकरण।

5.6.4: एनएचपीसीई से अपेक्षित परिणाम

- आठ क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों में अनन्य रूप से जरायु बहिरंग रोगी विभाग (ओपीडी) और 30 बिस्तर वाले वार्ड के साथ केन्द्रीय जरायु केन्द्रों (आरजीसी) की स्थापना जो वृद्धजनों के विशेष रोगों का ही इलाज करेंगे और जरायु स्वास्थ्य-देखभाल स्वास्थ्य-कार्मिकों को प्रशिक्षण तथा अनुसंधान।
- आठ क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों से जरायु चिकित्सा में स्नातकोत्तर।
- 8 क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों में वीडियो कॉन्फ्रेन्सिंग इकाइयों की स्थापना। इनका उपयोग क्षमता निर्माण और निगरानी के लिए किया जाएगा।
- 80-100 जिला अस्पतालों में अनन्य रूप से जरायु ओपीडी और 10 बिस्तर वाले जरायु वार्ड से युक्त जिला जरायु इकाइयां।
- चयनित जिलों के सामुदायिक/प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में घरेलू मुआयने के लिए जरायु क्लीनिकों/पुनर्वास इकाइयों की स्थापना।
- सामुदायिक सम्पर्क सेवाओं के लिए उपकरण से लैस उपकेन्द्रों की स्थापना।
- सार्वजनिक स्वास्थ्य-देखभाल प्रणाली में मानव संसाधनों को जरायु देखभाल का प्रशिक्षण देना।

5.6.5: एनपीएचसीई के अन्तर्गत सर्विस पैकेज

इस कार्यक्रम में यह प्रस्तावित है कि विभिन्न सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में सभी वृद्धजनों के लिए एक समन्वित तरीके से प्रोत्साहक, निवारक, आरोग्यकर और पुनर्वास सेवाएं उपलब्ध कराई जाएं। यह सर्विस पैकेज स्वास्थ्य सुविधाओं के स्तर पर निर्भर करेगा और अलग-अलग सुविधाओं के लिए अलग-अलग होगा। इस पैकेज में स्वास्थ्य संवर्धन, निवारक सेवाएं, जरायु इलाज की समस्याओं का निदान और नियंत्रण (आउट और इन पेशेंट), डे-केयर सेवाएं, पुनर्वास सेवाएं और आवश्यकता अनुसार घर में ही देखभाल सेवाएं शामिल होंगी। तृतीयक स्तर की देखभाल के लिए जिलों को आरजीसी से लिंक किया जाएगा। इस कार्यक्रम के तहत जिला स्तर से नीचे भी जोड़ा जाएगा और मौजूदा पीएचसी प्रणाली का अभिन्न अंग बनाया जाएगा तथा वृद्धजनों के लिए चूंकि और ज्यादा स्पेशलिस्ट स्वास्थ्य देखभाल की आवश्यकता होगी इन्हें उर्ध्ववत रूप में जिलों और उससे उपर तक लिंक किया जाएगा।

5.6.6: एनएचपीसीई के तहत सर्विस पैकेज अलग-अलग स्तरों पर उपलब्ध कराया जाना

इस कार्यक्रम में प्रस्तावित है कि विभिन्न सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में सभी वृद्धजनों के लिए एक समन्वित तरीके से प्रोत्साहक, निवारक, आरोग्य कर और पुनर्वास सेवाएं उपलब्ध कराई जाएं। यह सर्विस पैकेज स्वास्थ्य सुविधाओं के स्तर पर निर्भर करेगा और अलग-अलग सुविधाओं के लिए अलग-अलग होगा। इस पैकेज में स्वास्थ्य संवर्धन, निवारक सेवाएं, जरायु इलाज की समस्याओं का निदान और नियंत्रण (आउट और इन पेशेंट), डे केयर सेवाएं, पुनर्वास सेवाएं और आवश्यकतानुसार घर में ही देखभाल सेवाएं शामिल होंगी। तृतीयक स्तर की देखभाल के लिए जिलों को आरओसी से लिंक किया जाएगा।

कार्यक्रम के तहत सेवाओं को जिला स्तर से नीचे भी जोड़ा जाएगा और इन्हें मौजूदा पीएचसी प्रदायगी प्रणाली का अभिन्न अंग बनाया जाएगा और वृद्धजनों के लिए आवश्यक और अधिक स्पेशलिस्ट स्वास्थ्य-देखभाल के वास्ते ऊर्ध्वावत रूप में जिलों और इससे उपर लिंक किया जाएगा।

5.6.7: एनएचपीसीई के कार्यान्वयन के लिए संस्थागत फ्रेमवर्क

एनआरएचएम के तहत राज्यों और जिलों में कार्यक्रम प्रबंधन सहयोग इकाईयों के वित्तीय प्रबन्धन समूह (एफएमजी) स्थापित किए गए हैं। ये समूह (ग्रुप) निधियां जारी करने, व्यय रिपोर्ट, उपयोग संबंधी प्रमाण-पत्र और ऑडिट (लेखा-परीक्षा) और खाते रखने का दायित्व संभालेंगे। कार्यक्रम संचालन के लिए विभिन्न स्तरों पर कार्यकलाप निष्पादित करने के लिए राज्य स्वास्थ्य संगठनों (एसएचएस) के माध्यम से धनराशि जारी की जाएगी। एसएचएस से जिलों को जारी निधियों में अन्य

बातों के साथ-साथ सीएचसी, पीएचसी तथा अन्य उपकेन्द्रों के लिए निधियां शामिल होगी, ताकि पूरे जिले को कवर किया जा सके।

भारत सरकार एसएचएस को इस कार्यक्रम से निधियां जारी करेगी। एसएचएस राज्य स्तर के कार्यकलापों के लिए धनराशि अपने पास रखेगी और डीएचएस को सहायता अनुदान जारी करेगी। एनपीएचसीई इस कार्यक्रम के तहत राज्य और जिला स्तर पर गठित प्रकोष्ठों के माध्यम से काम करेगा और प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग बैंक खाते रखेगा। समुचित स्तर पर अपेक्षित अनुमोदन मिलने के बाद एनसीडी के बैंक खातों में स्वास्थ्य संस्थाओं से धनराशि ट्रान्सफर की जाएगी।

यह प्रणाली विशिष्ट व्यवस्थाओं के माध्यम से इस कार्यक्रम के लक्ष्य हासिल करने में परस्पर तालमेल और पारदर्शिता सुनिश्चित करेगी। प्रस्ताव है कि कार्यक्रम की मौजूदा गति बनाए रखने और इस पर निरन्तर ध्यान केन्द्रित करने के लिए राज्य स्तर के कार्यक्रम (एसएचएस) और जिला स्तर के कार्यक्रम (डीएचएस) में क्रमशः विलय कर दिया जाए।

हालांकि, एनपीएचसीई संस्थागत स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली में स्वास्थ्य संबंधी अधिकांश समस्याओं का समाधान करता है लेकिन इसमें परिवार में रहने वाले वृद्धजनों की गृह-आधारित देखभाल (घर पर ही देखभाल) की पूरी तरह अनदेखी की गई है। बेहतर होता कि इसमें इलाज के बजाय परिवारों को जागरूक बनाने और उन्हें संभावित आकस्मिकताओं के लिए तैयार करने पर ध्यान दिया जाता। राष्ट्रीय ध्येय रखने के अलावा, इस नीति में विकेन्द्रीकृत ध्येय होना चाहिए। इससे यह एकतंत्रीय राज्य संचालित प्रणाली की बजाय मांग संचालित प्रणाली बन सकती है। जैसा कि अधिकांश राष्ट्रीय कार्यक्रमों और नीतियों में होता है। इस नीति में भी क्षेत्रीय मुद्दों पर ध्यान नहीं दिया गया है, जबकि हर क्षेत्र के मुद्दे भी अलग-अलग होते हैं। भारत जैसे देश में यह जरूरी है कि परिवार वृद्धजनों की देखभाल करें, लेकिन इस नीति में परिवार किस तरह अपने वृद्धजनों से बर्ताव करे और उनकी देखभाल करे, इस बारे में कोई प्रोत्साहक प्रावधान नहीं किया गया है।

एनपीएचसीई वृद्धजनों की तेजी से बढ़ती आबादी की देखभाल के क्षेत्र में एक अच्छी और नई पहल है। इसमें कार्यान्वयन और समन्वयन पर ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता है ताकि भारत में सक्रिय तथा स्वस्थ वृद्धावस्था को प्रोत्साहन मिल सके।

5.7 सारांश

ईकाई के अध्ययन करके के पश्चात् आप;

1. वृद्ध लोगों की जनाकिकी से अवगत हो चुके हैं।

2. वृद्ध लोगों के अधिकारों से परिचित हो गये हैं।
3. वृद्धावस्था, स्वास्थ्य एवं विकास की अवधारणा को जान चुके हैं।
4. राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (NIHCE) के उद्देश्यों तथा इनकी प्राप्ति हेतु कार्यक्रम के ध्येय व वर्णित कार्यनीतियों से अवगत हो चुके हैं।
5. इस कार्यक्रम को अन्य अवयवों को भी जान चुके हैं।

5.8 शब्दावली

1. **रुग्णता (Morbidity)** : यह प्रदर्शित करता है कि एक जनसंख्या में कितने लोग अस्वस्थ अथवा रुग्णता से ग्रसित हैं।
2. **पराश्रितता (Depandancy)** : पराश्रितता ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति परिवार के अन्य व्यक्तियों, समाज या सरकार पर निर्भर हो।
3. **उत्तरजीवितता (Life Expectancy)** : उत्तरजीवितता (जीवन प्रत्याशा) जन्म के समय जीवित होने की संभावना को उत्तरजीवितता कहा जाता है। वर्ष 2015 भारत में यह 68.35 वर्ष थी, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में 78.74 थी।

5.9 अभ्यास प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ (UN) के अध्ययन में 2050 तक वृद्धजनों की जनसंख्या कितनी हो जायेगी?
(अ) 3 अरब (ब) 1.5 अरब (स) 2 अरब (द) 2.5 अरब
2. विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुमान के अनुसार 2015 तक केन्सर हाइपरटेन्शन, हृदय रोग, डाइबीटीज जैसी बीमारियों से मरने वालों की संख्या कितनी थी?
(अ) 17 मिलियन (ब) 15 मिलियन (स) 35 मिलियन (द) 41 मिलियन
3. संयुक्त राष्ट्र महासभा ने वृद्धावस्था पर पहला सम्मेलन कब बुलाया?
(अ) 1947 (ब) 1939 (स) 1992 (द) 1950
4. भारत में 2011 की जनगणना में 60 वर्ष या इससे अधिक आयु के लोगों की जनसंख्या का प्रतिशत क्या है?
(अ) 8.6 प्रतिशत (ब) 7.7 प्रतिशत (स) 6.0 प्रतिशत (द) 5.8 प्रतिशत
5. 2006–11 के दौरान भारत में महिलाओं के लिए उत्तरजीवितता कितने वर्ष थी?
(अ) 65 वर्ष (ब) 67.22 वर्ष (स) 70.4 वर्ष (द) 68.9 वर्ष

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर—

1. स 2. द 3. ब 4. अ 5. ब

5.10 संन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. एल्डरली इन इंडिया— प्रोफाइल एण्ड प्रोग्राम्स 2016, नई दिल्ली, सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार, 2016
2. काबो आर, ले काउटे डीजी, दी बायलॉजी ऑफ एजिंग, हैरीसन्स प्रिन्सिपल्स ऑफ इन्टर्नल मेडीसिन, 19वां संस्क., यू. एस ए, मैकग्र्यू हिल्स एजुकेशन, 2015; 94:1-7
3. पार्क के. पार्क्स टैक्स्ट बुक ऑफ सोशल एण्ड प्रिवेन्टिव मेडिसिन, 23वां संस्करण, बनारसीदास भानोट पब्लिशर्स, 2015: 44 : 594
4. डिविजन ऑफ जेरिएट्रिक्स एण्ड क्लीनिकल जेरोन्टोलॉजी, क्लीनिकल जेरोन्टोलॉजी ब्रान्च, 2016
5. टूडेज रिसर्च ऑन एजिंग, इन्डियाज एजिंग पॉप्यूलेशन, पाप्यूलेशन रिवरेंस ब्यूरो, 2012
6. सुज़मैन आर.एम., हग्गा जे.जी., वर्ल्ड डेमोग्राफी ऑफ एजिंग, इन : कैस्पेर डीएल, हाउजर एस एल, जेमसन एस एल, कॉरुसी एसएस, लौनो डी एल, लॉस्वाल्जो जे, एडिटर्स हैरिसन्स प्रिन्सिपल्स ऑफ इन्टरनल मेडिसिन, 19वां संस्करण, मैकग्र्यू हिल एजुकेशन, 2015 93:15
7. जन स्वास्थ्य पर वार्षिक रिपोर्ट, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, 2011

5.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वर्ल्ड पॉप्यूलेशन एजिंग, पांचवी रिपोर्ट, न्यूयॉर्क; पॉप्यूलेशन डिविजन ऑफ युनाइटेड नेशन्स : 2015
2. वर्ल्ड रिपोर्ट ऑन एजिंग एण्ड हैल्थ, विश्व स्वास्थ्य संगठन जिनेवा, 2015

5.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. विश्व व भारत में वृद्धजनों की बढ़ती आबादी पर प्रकाश डालिये।
2. वृद्धजनों के अधिकारों के बारे में एक लेख लिखिये।
3. बढ़ती वृद्धावस्था, स्वास्थ्य व विकास के परस्पर सम्बन्धों पर टिप्पणी कीजिये।
4. भारत सरकार के वृद्धजन राष्ट्रीय स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (NPHCE) के प्रमुख अवयवों पर की चर्चा कीजिये।

इकाई -6

पार्सन का रोगी भूमिका सिद्धांत (Parson's Sick Role Theory)

6.1: उद्देश्य**6.2: परिचय****6.3: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का उभार****6.4: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का कार्य****6.5: स्वास्थ्य और उपचार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त****6.6: पार्सन का दृष्टिकोण****6.6.1: क्या रोग विशुद्ध जैविक है?****6.7: बीमारी की बाधा****6.8: रोग भूमिका****6.8.1: रोगी के अधिकार एवं कर्तव्य****6.8.2: स्वेच्छावाद एवं बीमारी****6.8.3: चिकित्सक की भूमिका****6.9: सामाजिक नियंत्रण एवं उपचार****6.10: पार्सन के दृष्टिकोण की आलोचना****6.11: निष्कर्ष****6.12: अभ्यास प्रश्न****6.13: सन्दर्भ****6.1: उद्देश्य (Objectives)**

इस इकाई के जरिये हम जान पायेंगे कि स्वास्थ्य एवं उपचार को लेकर कार्यान्वयन दृष्टिकोण क्या कहता है। इसके साथ ही हम स्वास्थ्य और उपचार के विषय में पार्सन के सिद्धान्त को भी विस्तार से समझ सकेंगे।

6.2: परिचय (Introduction)

स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की ही एक शाखा है, जो बुनियादी मुद्दों की विस्तृत शृंखला और विशेषकर सामाजिक कारकों तथा स्वास्थ्य के संबंधों को स्पष्ट करती है। इसके जरिये बीमारी को लेकर सामाजिक कारकों और सामाजिक क्रियाओं तथा बीमारी से संबंधित परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है। स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र के उद्देश्य को हम इस तरह बेहतर समझ सकते हैं कि मानव व्यवहार को सामाजिक और जैविक सन्दर्भों से बेहतर जाना जा सकता है। 19वीं सदी के प्रतिष्ठित समाज विज्ञानियों ने तर्क दिया है कि मानव के सामाजिक जीवन को सिर्फ जैविक अध्ययनों के जरिये समझ पाना मुश्किल है, क्योंकि यहां

सामाजिक संबंध और संस्कृति की भी अहम भूमिका होती है। वे मानते हैं कि इस बात में कोई संदेह नहीं कि जैविक आधार ही बुनियाद है, लेकिन स्वास्थ्य और बीमारी को समझने के लिये आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कारणों का भी अध्ययन करना नितांत आवश्यक है। इसीलिये जैविक आधार ही एकमात्र विकल्प नहीं है। रोग की उपस्थिति और इसके निदान की व्याख्या सिर्फ जैविक या पर्यावरणीय आधार पर ही करना संभव नहीं। यही वजह है कि समाजशास्त्र की यह शाखा यह अध्ययन करती है कि प्राकृतिक कारणों के अलावा वे कौन सी सामाजिक-आर्थिक वजहें रहीं, जो रोग को प्रभावित करती हैं। संक्षेप में कहें तो स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र स्वास्थ्य के जनसांख्यिकीय और प्रशासनिक विश्लेषण से आगे जाकर जनसंख्या की स्वास्थ्य स्थिति (Health Status of Population) को स्पष्ट करता है। (Sujatha 2014)

6.3: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का उभार (Emergence of Medical Sociology)

स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र विश्व के कई भागों में विकसित हुआ और आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था के विकास के बाद तेजी से उभरा। 20वीं सदी में यह सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में उपचार का आधिकारिक माध्यम बन गया। समाज विज्ञानियों ने पाया कि स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में नयी तकनीकों और विशेषज्ञता के बढ़ने के साथ स्वास्थ्य से जुड़े सामाजिक कारणों की उपेक्षा की जाने लगी थी, परिणामस्वरूप बीमारियों के संबंध में न्यूनकारी दृष्टिकोण विकसित हुआ, जो समाजशास्त्रियों के लिये महत्वपूर्ण विषय था। स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्र के विकास के कुछ प्रारंभिक कारण निम्नवत हैं:

- संक्रामक बीमारियों के बजाय अब पुरानी अपक्षयी बीमारियां रुग्णदर और मृत्युदर की बढ़ोतरी की वजह बन गयी थीं
- चिकित्सकों के न्यूनकारी दृष्टिकोण के बजाय समाज विज्ञानियों ने बीमारी और स्वास्थ्य से जुड़े व्यावहारिक पहलुओं की ओर ध्यान केन्द्रित किया
- समाज विज्ञानी मरीज और डॉक्टर के पदानुक्रम (Heirarchical) संबंधों के पक्षधर नहीं थे
- समाज विज्ञानियों ने स्वास्थ्य सेवाओं के जटिल ढांचे के कारण बढ़ते द्विपक्षीय मॉडल का विरोध किया

इसी दौर में बाहरी संस्थान, जैसे मेडिकल स्कूल, सरकारी एजेंसियां, भी स्वास्थ्य क्षेत्र में रुचि लेने लगे थे, जिसके चलते स्वास्थ्य समाजशास्त्र संस्थानीकृत (Institutionalised) होता गया। संक्षेप में कहें तो स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र चिकित्सकीय उपचार की उच्च विशेषज्ञता एवं एकल संस्कृति की प्रतिक्रिया था। उदाहरण के लिये उत्तरी अमेरिका में वर्ष 1910 में तत्कालीन सभी प्रचलित उपचार पद्धतियों को प्रतिबंधित कर दिया गया, यही वजह रही कि 1950 में चिकित्सकीय उपचार के एकाधिकार के विरोध में समाजशास्त्र ने तेजी पकड़ी और सामान्य सिद्धान्तों के बजाय व्यावहारिक परेशानियों पर ध्यान केन्द्रित किया। चिकित्सा विशेषज्ञों, शोधकर्ताओं, स्वास्थ्य प्रशासकों, रोगियों और स्त्री अधिकारवादी अभियानों के चलते यह एक सैद्धान्तिक शाखा के रूप में स्थापित हुआ। 19वीं सदी के ब्रिटेन में चिकित्सकीय उपचार बेहद सफल और एकाधिकारवादी पेशा बन गया था, जबकि अमेरिका में यह 20वीं सदी में उभार पर आ सका। इस दौरान वर्ष 1930 तक उपचार का तकनीकी विकास चरम पर था, लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद औषधीय उपचार का प्रभुत्व बढ़ता गया। स्टेसी का तर्क है कि स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्र को विकसित करने का एक बड़ा कारक सामाजिक उपचार (Socialo Medicine) है। उपचार की अन्य पद्धतियों से जुड़े

विशेषज्ञों ने पाया कि तत्कालीन जैवउपचार व्यवस्था में सामाजिक कारकों को कोई महत्व नहीं दिया जा रहा है, जबकि रोगों के उपचार में इनकी खासी अहमियत है।

सामाजिक उपचार दृष्टिकोण (Social Medicine Approach)

कादिर (2010) बताते हैं, 'सार्वजनिक स्वास्थ्य अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग अर्थ को उभारता है। सफाई के दृष्टिकोण से देखें तो कभी इसे स्वच्छता, हाईजीन और स्वास्थ्य शिक्षा से जोड़कर देखा जाता है। वर्तमान में तकनीक केन्द्रित दृष्टिकोण (जो स्वास्थ्य के सभी सामाजिक-आर्थिक पहलुओं को नकार देता है) का आधिपत्य है, जहां विशेषज्ञों और सेवाप्रदाताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे स्वास्थ्य की सुरक्षा और रोगों के नियंत्रण के लिये तकनीकों का ही इस्तेमाल करें।' एक अन्य दृष्टिकोण में समग्रता को शामिल करते हुये स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य सेवाओं के सामाजिक सन्दर्भों को तवज्जो दी जाती है, जिससे संरक्षण की प्रक्रिया तकनीक और शैक्षिक पहलुओं से आगे विकास एवं कल्याण की गतिविधियों से जुड़ती है और बुनियादी जरूरतों को पूरा कर पाती है। इसमें स्वास्थ्य, भोजन की उपलब्धता, पेयजल, स्वच्छता और आजीविका के अंतर्संबंधों तथा पहुंच व तकनीकी उपलब्धता के रास्ते में आने वाली बाधाओं पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है। कादिर ने इस दृष्टिकोण को सामाजिक उपचार दृष्टिकोण बताया है। जिन देशों में सामाजिक उपचार दृष्टिकोण के जरिये कल्याण प्रक्रिया में समानता का लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सका है वहां सामाजिक समस्याओं को तकनीकी समस्याएं करार देते हुये स्वास्थ्य सेक्टर पर थोप दिया गया है। इसकी मुख्य वजह यह है कि नियोजन में उत्पादन, पुनरुत्पादन, श्रम ढांचे, निर्धनता, जाति-वर्ग वर्गीकरण और पितृसत्तात्मकता आदि के अंतर्संबंधों का ध्यान नहीं रखा गया। इन महत्वपूर्ण पहलुओं की अनुपस्थिति सामाजिक नियोजन को सार्वजनिक स्वास्थ्य के समग्र दृष्टिकोण के बजाय तकनीक केन्द्रित समाधान बना देती है जो आगे चलकर उन बुनियादी पहलुओं की उपेक्षा की वजह बनती है, जो इन समस्याओं की सामाजिक जड़ होती हैं।

6.4: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का कार्य (Task of Medical Sociology)

स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्र के कार्य चुनौतीपूर्ण होते हैं, क्योंकि इसे उन सामाजिक पहलुओं की तलाश करनी होती है जो स्वास्थ्य, रोग और उपचार को प्रभावित करते हैं, साथ ही इन घटनाओं को अपने सिद्धान्तों और मॉडल के रूप में अवधारित करना होता है। चिकित्सकीय समाजशास्त्र का सबसे प्रमुख लक्ष्य स्वास्थ्य, बीमारी और उपचार पर सांस्कृतिक, सामाजिक ढांचे के प्रभाव को स्पष्ट करना तथा अंतर्नुशासनात्मक स्वरूप में स्वतंत्र-समालोचनात्मक विश्लेषण, जांच करना है। इसके जरिये समाज विज्ञानी समाज और स्वास्थ्य के संबंधों का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं। वे यह परीक्षण करते हैं कि किस तरह सामाजिक जीवन रुग्णदर एवं मृत्युदर को प्रभावित करता है और किस तरह रुग्णदर एवं मृत्युदर समाज पर असर डालते हैं। दुर्खेम ने अपने अध्ययन में पाया कि किस तरह सामाजिक एकीकरण और समन्वय मृत्युदर को प्रभावित करता है (Link & Phelan, 1995). स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र बताता है कि परिवार, कार्यस्थल, स्कूल, धर्म आदि जैसे सामाजिक संस्थान किस तरह स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। यह रोगों-बीमारियों के कारणों की पड़ताल करता है, खास देखभाल की जरूरत की वजहों को स्पष्ट करता है। उदाहरण के लिये, मानसिक बीमारियों के लिये लोग अस्पताल में इलाज करवाने के बजाय आध्यात्मिक उपचार की शरण को क्यों प्राथमिकता देते हैं। स्वास्थ्य या स्वास्थ्य की कमी, किसी समय सिर्फ जैविक या प्राकृतिक परिस्थितियों का ही हिस्सा मानी जाती थीं। समाज विज्ञानियों ने स्पष्ट किया कि बीमारियों का प्रसार व्यक्तियों की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों, पारंपरिक रीतियों, विश्वास और अन्य सांस्कृतिक कारकों से भी प्रभावित होता है। चिकित्सकीय शोध किसी बीमारी के संबंध में सांख्यिकीय

आंकड़े जुटा सकता है, लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण गहराई से उन बाहरी पहलुओं की जानकारी देता है जिनकी वजह से कोई आबादी बीमारी की चपेट में आती है।

6.5: स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological Theories of Health and medicine)

स्वास्थ्य एवं बीमारी के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त रोगों के जैविक मॉडल की उपेक्षा करते हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त रोगों के जैवचिकित्सकीय और रोगविज्ञान आधारित कारणों के बजाय इनकी उत्पत्ति के सामाजिक कारणों और सामाजिक कारकों के इन पर प्रभाव पर केन्द्रित होते हैं। समाज विज्ञान ने स्वास्थ्य एवं रोगों को सामाजिक चिकित्सा के नजरिये से देखने का प्रयास किया है। विभिन्न समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण इस प्रक्रिया में विकसित हुये हैं। इनकी मदद से विभिन्न बीमारियों के सामाजिक कारण और चिकित्सा ज्ञान की भूमिका की जानकारी मिलती है। इस इकाई में हम आगे जानेंगे कि स्वास्थ्य एवं उपचार के क्षेत्र में यह किस तरह व्यावहारिक है।

कार्यसिद्धान्त (Functionalism) वह सामाजिक दृष्टिकोण है, जो समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखता है, जिसका निर्माण अंतर्संबंधित एवं अंतर्संयोजित (Interrelated and Interconnected) भागों से हुआ है। उदाहरण के लिये परिवार, अर्थव्यवस्था और उपचार साथ में काम करते हुये समाज में स्थायित्व और सामंजस्य का भाव उत्पन्न करते हैं। यह माना जाता है कि समाज के हर हिस्से के समग्र समाज पर सकारात्मक परिणाम होते हैं, जिसे उनके कार्य या क्रियात्मकता (Function) कहा जाता है, कुछ परिणाम नकारात्मक भी हो सकते हैं, जिन्हें कार्यबाधा (Dysfunction) कहा जाता है। जब हर हिस्सा स्थायी और सामंजसपूर्ण तरीके से काम करता है तो पूरे समाज का कामकाज बेहतर चलता है। यानी यहां समाज के सभी हिस्सों के बीच प्रभावी एकीकरण आवश्यक है। कार्यसिद्धान्त दृष्टिकोण में व्यक्ति के बजाय पूरे समाज पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है और समाज को सामाजिक व्यवस्था के तौर पर देखा जाता है। यह तर्क देता है कि सामाजिक व्यवस्था की कुछ अनिवार्य जरूरतें होती हैं, जिन्हें कार्यसंबंधी शर्तें (Functionalism Prerequisites) कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने और अस्तित्वमान रखने के लिये ये आवश्यकताएं महत्वपूर्ण हैं। कार्यसिद्धान्त समाज के विभिन्न भागों के बीच संबंध को उभारता है। इसका अर्थ यह है कि समाज के हरेक हिस्से (चाहे व्यक्ति हो या समूह) को विशिष्ट भूमिका का निर्वहन करना होता है। सभी हिस्सों के बीच अंतर्संबंध होते हैं, जिनका निर्धारण समाज के सदस्यों के मूल्यों और मानकों के आधार पर आम सहमति से किया जाता है। सहमति के अलावा विभिन्न सामाजिक सदस्यों के विचारों में अंतर के कारण कई बार अंतर्विरोध भी सामने आ सकता है, जो बाधा का कारण बन सकता है।

कार्यसिद्धान्त दृष्टिकोण के अनुसार इस तरह की सामाजिक बाधाएं विभिन्न मनोवैज्ञानिक और शारीरिक स्वास्थ्य समस्याओं का कारण बनती हैं और यह समाज के सामान्य कार्यों को भी रोक सकती हैं। दुर्खेम ने समाज और स्वास्थ्य के संबंधों का गहराई से अध्ययन किया है। वह तर्क देते हैं कि जब भी समाज में मूल्य और मानक कमजोर पड़ते हैं, यह मूल्यों, विश्वास और सामान्य मानकों के पुनर्निर्धारण के प्रयास करता है, इस प्रक्रिया में व्यक्ति (Individual) की इच्छाओं को पूरा करने में यह नाकाम रहता है और इसके कारण मानकविहीन प्रतिमानहीन असंबद्धता (Anomie) जन्म लेती है (Turner & Noh, 1983). अपनी पुस्तक 'सुसाइड' में दुर्खेम बताते हैं कि सामाजिक तथ्यों को आत्महत्या की बढ़ती प्रवृत्ति और बदलती परिस्थितियों को स्पष्ट करने में उपयोग किया जा सकता है। वह बताते हैं कि आत्महत्या की अंदरूनी वजह किसी समूह की सामाजिक एकीकरण की स्थिति में ही छिपा होता है। उन्होंने आत्महत्या के विभिन्न तरीकों में अंतर को स्पष्ट किया है

और उनके शोध में प्रतिमानहीनता, असंबद्धता के चलते की जाने वाली आत्महत्याएं विशेष रूप से उभरती हैं। दुर्खेम बताते हैं कि इस तरह की आत्महत्याएं बड़े पैमाने पर सामाजिक संकट बन गयी हैं और इनकी घटना तब बढ़ गयी है, जबकि औद्योगिक स्वरूपों में ढलने की दिशा में बढ़ रहे समाज में तेजी से परिवर्तन व उतार-चढ़ाव आ रहे हैं। वह तर्क देते हैं कि आत्महत्या दरअसल समाज की एकीकरण की क्षमता के ह्रास का परिणाम है। दुर्खेम के सिद्धान्त न सिर्फ आत्महत्या के तरीकों को स्पष्ट करती है, बल्कि हिंसा और हत्या की घटनाओं तथा दीर्घकालीन रोगों के भी कारणों और प्रभावों को उभारते हैं। दुर्खेम सामाजिक एकीकरण एवं स्वास्थ्य के बीच संबंध को स्पष्ट करते हुये समाज की क्रियाशीलता को व्यवस्थित बनाये रखने पर जोर देते हैं। दुर्खेम से प्रभावित टेलकोट पार्सन, मैक्स वेबर और अन्य समाजविज्ञानियों ने भी मूल्यों की आम सहमति और इसके परिणामस्वरूप स्थायी सामाजिक व्यवस्था को बढ़ावा देने पर जोर दिया है। लेकिन पार्सन ऐसे पहले समाजविज्ञानी थे, जिन्होंने रोग भूमिका यानी Sick Role शब्द का सबसे पहले इस्तेमाल किया। यहां हम स्वास्थ्य और उपचार के संबंध में पार्सन के दृष्टिकोण को विस्तार से समझेंगे।

6.6: स्वास्थ्य और उपचार पर पार्सन का विचार (Parson on Health and Medicine)

कार्यसिद्धान्त के मॉडल में पार्सन ने स्वास्थ्य के पहलू को विस्तार दिया और बताया कि इसकी देखभाल सामाजिक व्यवस्था के सुगम संचालन के लिये आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। पार्सन सामाजिक सामंजस्य बनाये रखने की दिशा में उपचार की भूमिका पर जोर देते हैं। पार्सन बताते हैं कि बीमारी विचलन (Deviance) की स्थिति है। वह तर्क देते हैं कि बीमारी को समाजशास्त्रीय स्वरूप में समझने के लिये इसे विचलन के स्वरूप में देखा जाना ही सर्वाधिक उचित है, क्योंकि अस्वस्थता समाज की सामाजिक क्रियाशीलता में बाधा बनती है। पार्सन के अनुसार, 'बीमारी समस्त मानवीय व्यक्तियों की सामान्य क्रियास्थिति में बाधा की स्थिति है, जिसमें राज्य का संगठन भी जैविक व्यवस्था के रूप में शामिल हो जाता है। क्योंकि इसके चलते व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्थाओं का संतुलन बिगड़ने की आशंका रहती है। इस तरह इसे आंशिक रूप से जैविक और आंशिक रूप से सामाजिक तौर पर परिभाषित किया जा सकता है।' (parson 1951)

6.6.1: क्या बीमारी विशुद्ध जैविक है? (Is Disease Purely Biological)

पार्सन मानते हैं कि रोग की घटना पूर्ण रूप से जैविक नहीं है। रोग की घटना में अस्वस्था के सामाजिक सन्दर्भों को समझना भी अति आवश्यक है। पार्सन तर्क देते हैं कि बीमारी से जुड़े सामाजिक कारकों को समझना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति के सामाजिक संबंधों की उसके अस्वस्थ होने में बड़ी भूमिका रही है। सामाजिक कारक सांगठनिक, वैधानिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक रूप से व्यक्ति के शरीर में उपस्थित रहते हैं, जबकि बीमार करने वाले पर्यावरणीय पहलू बाहरी कारक होते हैं। सुजाता (2014) बताती हैं, 'पार्सन के सिद्धान्त का यह पहलू कि ढांचागत बाधाएं और तनाव लोगों को बीमार होने की दिशा में बढ़ाता है, उनके दौर के अमेरिका में उभर रही मनोवैज्ञानिक एवं मनोदैहिक (Psychological and Psychosomatic) उपचार पद्धतियों के लिये प्रासंगिक था। 1951 से पहले अपने प्रारंभिक कार्यों में उन्होंने तर्क दिया कि बीमारी के सभी स्वरूपों (संक्रमण और चोटों के अंतर समेत) में इस तरह के कारक देखे जा सकते हैं। यहां तक कि कई मामलों में स्वयं ही बीमार हो जाने की अप्रकट इच्छा भी देखी जा सकती है। वह आगे कहते हैं कि स्वास्थ्य समस्याओं की पूरी शृंखला को मनोवैज्ञानिक-मनोदैहिक स्वरूप में देखा जा सकता है। बदलती जीवनशैली और बीमार होने की बढ़ती मनोवैज्ञानिक घटनाओं को भी सामाजिक परिस्थितियों से जोड़ा जा सकता है। 1999 के बाद के शोधकार्यों में पार्सन बताते हैं कि उनका यह सैद्धान्तिक ढांचा मनोवैज्ञानिक एवं मनोदैहिक उपचारों को समझाने का काम करता है।' इस तरह पार्सन यह

स्पष्ट करते हैं कि स्वास्थ्य आंशिक रूप से जैविक और आंशिक रूप से सामाजिक है। जैविक कार्यबाधा के प्रति मानवीय प्रतिक्रिया सामाजिक कार्यबाधा में बदलती है।

6.7: बीमारी की बाधा (Illness as Dysfunctional)

पार्सन के अनुसार अस्वस्था का उच्चस्तर स्वास्थ्य के निम्नस्तर को बढ़ाता है, जो समाज के लिये कार्यबाधा की वजह बनता है और लोगों को अपनी सामाजिक भूमिका का निर्वाह करने से रोकता है। (Parsons, 1951: 430). वह स्पष्ट करते हैं कि अच्छे स्वास्थ्य का निश्चित स्तर बनाये रखने के लिये महत्वपूर्ण कारक है समाज की पूर्ण क्षमतावान क्रियाशीलता। उपचार और औषधियां स्वास्थ्य देखभाल की दिशा में पोषक की भूमिका निभाती हैं। स्वास्थ्य पहलू की ओर पार्सन की रुचि इसलिये अधिक थी, क्योंकि यह सामाजिक भूमिकाओं के निर्वहन की राह में बाधा बन जाती है (उदाहरण के लिये वेतनभोगी रोजगार और अभिभावकीय दायित्व आदि)।

6.8: रोगी भूमिका (Sick Role)

रोगी भूमिका चिकित्सकीय समाजशास्त्र में उपयोग किया जाने वाला शब्द है, जिसका तात्पर्य प्रभावित व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों से है। रोगी भूमिका की अवधारणा अमेरिकन समाजविज्ञानी टेल्कोट पार्सन ने 1951 में दी थी। पार्सन ने तर्क दिया कि किसी व्यक्ति के रोगी होने का अर्थ यह है कि वह रोगी होने के कारण सामान्य कार्य कर पाने में अक्षम है और इसके चलते अपनी अपेक्षित सामाजिक भूमिका का निर्वहन नहीं कर सकता है। इसके चलते वह व्यक्ति सामाजिक विचलन की भूमिका में आ जाता है। इसका कारण यह है कि कार्यसिद्धान्त दृष्टिकोण के अनुसार बीमार व्यक्ति समाज का उत्पादक सदस्य नहीं है। ऐसे में पार्सन तर्क देते हैं कि व्यक्ति के बीमार होने पर सामाजिक सामंजस्य में आने वाले विचलन को नियंत्रित एवं दूर करने का काम चिकित्सकीय विशेषज्ञों को करना चाहिये। पार्सन स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्ति बीमार हुआ है, उसे सामाजिक तौर पर भी बीमार (यहां तात्पर्य निष्प्रयोज्य) की भूमिका दे दी जाती है। वह कहते हैं कि बीमार होना बीमार व्यक्ति का सविचार (जानबूझकर किया गया: **Deliberated**) कर्म नहीं है। यह चोट अथवा संक्रमण के कारण हो सकता है। बीमार व्यक्ति आमतौर पर स्वयं अपनी देखभाल कर पाने में सक्षम नहीं होता है, यही वजह है कि उसे चिकित्सकीय सलाह और चिकित्सकीय विशेषज्ञों के संपर्क में रहने की आवश्यकता होती है। संक्षेप में कहें तो बीमार होना सामान्य परिस्थिति नहीं है, सामाजिक मानकों के रूप में इसके भीतर पारंपरिक अधिकार और अनिवार्य दायित्व भी समाहित होते हैं।

6.8.1: रोगी के अधिकार एवं कर्तव्य (Rights and Obligations of Sick Person)

बीमार व्यक्ति को सामाजिक स्तर पर ही एक भूमिका दे दी जाती है, जिसे हम रोगी भूमिका कह सकते हैं। इसमें उसे आम सामाजिक भूमिका से अलग कर दिया जाता है और सामान्य अपेक्षाओं से उसे छूट देकर स्वस्थ होने के लिये कुछ समय की अनुमति दी जाती है। रोगी भूमिका में व्यक्ति को आराम करने, घरेलू और रोजगार संबंधी दायित्वों से अलग रहने की भी सुविधा मिलती है। दूसरा पहलू यह है कि अपनी इस स्थिति के लिये वह स्वयं जिम्मेदार नहीं होता है। इस तरह यह माना जाता है कि बीमार व्यक्ति की यह स्थिति उसके अपने नियंत्रण में नहीं है। लेकिन इन अधिकारों के साथ बीमार व्यक्ति के साथ कुछ दायित्व भी जुड़ जाते हैं। उसका पहला दायित्व यह है कि वह जल्द स्वस्थ होने का प्रयास करे और इसके लिये चिकित्सकीय विशेषज्ञों से सलाह-सुझाव ले। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह चिकित्सकीय मदद मांगे और चिकित्सकीय विशेषज्ञों यानी डॉक्टरों का पूर्ण सहयोग करे, क्योंकि बीमार होना रुचिकर परिस्थिति नहीं है। इसके बदले डॉक्टर पर यह दायित्व बनता है कि वह रोगी को सर्वोत्तम सुझाव, उपचार दे।

बीमार के लिये चिकित्सकीय देखभाल की जरूरत: पार्सन के विचार में रोगी के लिये चिकित्सकीय देखभाल की आवश्यकता होती है, क्योंकि—

- बीमारी होना रुचिकर परिस्थिति नहीं है
- बीमारी और रोग सामान्य सामाजिक क्रियाशीलता में बाधा बनते हैं
- बीमारी मानवीय क्षमताओं का हास करती है, और
- अधिकतर समाजों में रोगपीड़ितों पर ही बीमार हो जाने का दोषारोपण कर दिया जाता है

6.8.2: स्वेच्छावाद एवं बीमारी (Voluntarism and Illness)

पार्सन ने कुछ मामलों में बीमारी को प्रेरित बताया है। वह बताते हैं कि सामाजिक भूमिकाओं से छुटकारा पाने और बीमार व्यक्ति के रूप में देखभाल पाने के लिये यह स्थिति बीमारी को प्रेरित करती है। बीमार व्यक्ति को सामान्य सामाजिक भूमिकाओं को त्यागकर डॉक्टर के पास जाना होता है और यह आकस्मिक भेंट परस्पर दायित्वों तथा विशेषाधिकारों की शृंखला बनाती है। ऐसे में पार्सन स्वेच्छावाद पर जोर देते हैं, जिसका अर्थ यह है कि लोगों को अपनी रुचियों के अनुरूप निर्णय लेने और इनके अनुसार कार्य करने की क्षमता होनी चाहिये। पार्सन के विचार में रोगी भूमिका दरअसल दोहरी प्रवृत्ति है, जिसमें न सिर्फ विचलन मॉडल के जरिये सकारात्मक परिणाम को पाने को प्रेरित किया जाता है, बल्कि अक्षमता मॉडल भी है जो बीमारी के कारण नकारात्मक उपलब्धियों के पहलू को स्पष्ट करता है। (sujatha 2014;54)

6.8.3: चिकित्सक की भूमिका (Physician's Role)

पार्सन ने स्पष्ट किया है कि डॉक्टर को भी बुनियादी कारक के तौर पर काम करना होता है, क्योंकि वह न सिर्फ रोगी को स्वस्थ कर रहा होता है, बल्कि इसके जरिये पूरे समुदाय की भी मदद करता है। इसके लिये वह रोगी के प्रति अपनी कोई धारणा बनाने के बजाय वैज्ञानिक ज्ञान का इस्तेमाल करता है। पार्सन ने स्पष्ट किया है कि चिकित्सक के लिये व्यक्तिगत एवं आर्थिक लाभ कमाने से कहीं अधिक रोगी का कल्याण महत्वपूर्ण है। (Parsons, 1951: 435). पार्सन ने उपचार और दवाओं को आधुनिक समाज में सामंजस्य बनाये रखने का जरिया माना है। वह तर्क देते हैं कि चिकित्सकीय पेशा एक ऐसा ढांचा है, जहां चिकित्सक पक्षपातरहित होकर काम करते हैं और आर्थिक लाभ कमाने के बजाय अन्य कई पहलू उन्हें ऐसा करने के लिये प्रेरित करते हैं। पार्सन ने एक आदर्श स्थिति को वर्णित किया है, जिसमें डॉक्टरों और मरीजों की परस्पर सांस्थानिक भूमिका रहती है जो सहमति पर आधारित होती है और बीमारी के कारण सामाजिक मूल्यों में विचलन को दूर करने का काम करती है। रोग की स्थिति को लेकर डॉक्टर की आधिकारिक स्वीकृति बीमारी के संबंध में किये जाने वाले अवैध दावों और रोगी भूमिका के रूप में सुविधाओं का लाभ लेने की कोशिशों को रोक सकती है। पार्सन कहते हैं कि रोगी पर दायित्वों का निर्धारण इसलिये आवश्यक होता है कि वह जल्द से जल्द स्वस्थ होने के लिये पूरे प्रयास करे और शीघ्र से शीघ्र अपनी सामान्य सामाजिक भूमिका में लौट आये, ताकि बीमारी के कारण होने वाले सामाजिक नुकसान की भरपाई की जा सके। संक्षेप में कहें तो पार्सन के अनुसार सामाजिक स्थायित्व को बनाये रखने के लिये उपचार के मामलों में कुछ नियमों का पालन किया जाना आवश्यक है।

पार्सन के अनुसार:

सामाजिक मॉडल	बीमारी के कारण	चिकित्सक की भूमिका
<ul style="list-style-type: none"> परस्पर संबंधित सामाजिक भूमिकाओं और ढांचों का सामंजसपूर्ण व स्थायी स्वरूप है 	<ul style="list-style-type: none"> सामाजिक भूमिकाओं की अपेक्षाओं के कारण सामने आने वाली सामाजिक बाधाएं 	<ul style="list-style-type: none"> पीड़ित को पुनः सामान्य सामाजिक भूमिका में लाना चिकित्सक को अनिवार्य रूप से पक्षपातहीन होना चाहिये मूल्यों का लक्ष्य हासिल करना चाहिये कार्यस्वरूप में सार्वजनिकता

6.9: सामाजिक नियंत्रण और उपचार (Social Control and Medicine)

पारसन आधुनिक समाज व्यवस्था में सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया में उपचार के महत्व को इंगित करते हैं। वह बताते हैं कि आधुनिक समाज में उपचार विचलन पर नियंत्रण का अहम संस्थान है। यह सिर्फ वैज्ञानिक तरीके से देखभाल पर आधारित संस्थान नहीं है, बल्कि व्यक्तियों में विचलन की बढ़ती प्रवृत्ति व घटनाओं (यानी सामाजिक दायित्वों व भूमिकाओं से बचने का प्रयास) की पहचान का माध्यम भी है। पारसन तर्क देते हैं कि आधुनिक जीवनशैली में सामने आने वाली बाधाएं और चुनौतियां लोगों को रोगी भूमिका में जाने अर्थात् अपने सामान्य दायित्वों से बचने की कोशिश के लिये प्रेरित करती हैं, जिसकी पहचान किया जाना आवश्यक है। पारसन का विश्लेषण बताता है कि इस तरह के प्रेरित विचलन पर नियंत्रण में चिकित्सकों की क्या भूमिका है और यह भी कि बीमारी के पीछे बड़े पैमाने पर सामाजिक बाधाएं भी जिम्मेदार हैं।

चिकित्सकीय सामाजिक नियंत्रण (Medical Social Control)

स्वास्थ्य के नाम पर उपचारात्मक संस्थान उन व्यवहारों के उन्मूलन, बदलाव, नियंत्रण का काम करते हैं, जिन्हें सामाजिक विचलन कहा जाता है। इस हस्तक्षेप का उद्देश्य बीमार लोगों को स्वस्थ बनाकर उनकी पारंपरिक सामाजिक भूमिकाओं में लौटाना है। इसके अलावा यह विशेष परिस्थितियों (जैसे दिव्यांगता) में लोगों को समाज में उनकी नयी भूमिका के निर्वहन के लिये भी प्रेरित करता है, ताकि सामाजिक क्रियाशीलता में किसी भी स्तर पर बाधा उत्पन्न न हो पाये।

6.10: पारसन की रोगी भूमिका की आलोचना (Critique of Parson's Sick Role)

पारसन के रोगी भूमिका दृष्टिकोण की आलोचना भी की गयी है, क्योंकि यह गंभीर बीमारियों तक ही सीमित रहता है। दीर्घकालिक बीमारियों पर इसमें ध्यान नहीं दिया गया है। इसके अलावा यह लिंग, सामाजिक वर्गों और परंपराओं के आधार पर वर्गीकृत समाज में स्वास्थ्य एवं बीमारी की धारणा तथा स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं की स्थिति पर भी ध्यान केन्द्रित नहीं करता। साथ ही आधुनिक समाज में स्थायित्व की पारसन की धारणा भी इसलिये पूरी तरह सत्य नहीं है, क्योंकि पारसन का तत्कालीन समाज 1950 का था। पारसन ने चिकित्सकीय पेशे को परोपकारी माना है उदाहरण के लिये उन्होंने जिस तरह चिकित्सक और रोगी के आदर्श संबंधों को केन्द्र में रखा है, वह व्यापारीकरण के दौर में संभव और सत्य नहीं है। बर्कानोविक (1972) तर्क देते हैं कि रोगी भूमिका अपर्याप्त अवधारणात्मक साधन है, क्योंकि पारसन दीर्घकालिक बीमारियों के बजाय अस्थायी परिस्थितियों पर ही ध्यान केन्द्रित किये हुये थे।

6.11: निष्कर्ष (Conclusion)

पार्सन का समाजशास्त्र सामाजिक सामंजस्य में उपचार की भूमिका पर जोर देता है। वह उपचार की सामाजिक नियंत्रण भूमिका को उभारते हैं और बताते हैं कि आधुनिक समाज में रोगी भूमिका वह सामाजिक भूमिका है, जो सामाजिक बाधाओं के कारण उत्पन्न होती है। वह स्पष्ट करते हैं कि रोगी भूमिका के कुछ अधिकार तो कुछ दायित्व भी होते हैं। रोगी व्यक्ति कुछ समय के लिये अपने सामाजिक कार्यों से विरत रहता है ताकि कुछ समय बाद वह वापस अपनी सामान्य भूमिका में लौट सके। रोगी भूमिका विशेषज्ञ द्वारा वैध करार दिये जाने पर ही अस्तित्वमान हो सकती है। पार्सन तर्क देते हैं कि चिकित्सक की भूमिका मूल्यों का लक्ष्य हासिल करने की है यानी चिकित्सकीय पेशेवर धन कमाने के बजाय अन्य कारकों से प्रेरित होते हैं और उनका लक्ष्य पूरा समाज होना चाहिये। संक्षेप में पार्सन चिकित्सा एवं उपचार को आधुनिक समाज में विचलन को रोकने का महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। इस तरह पार्सन समाज की क्रियाशीलता में रोगी भूमिका एवं उपचार के महत्व को स्पष्ट करते हैं।

6.12: अभ्यास प्रश्न (Model Questions)

- समाजशास्त्र को संक्षेप में समझाते हुये बतायें कि स्वास्थ्य-उपचार से यह किस तरह संबंधित है।
- चिकित्सकीय समाजशास्त्र के अध्ययन के महत्वपूर्ण दृष्टिकोण क्या हैं?
- रोगी भूमिका के दो महत्वपूर्ण लक्षणों को स्पष्ट करें।
- न्यूनकारी एवं सामाजिक उपचार दृष्टिकोणों में अंतर को समझायें।
- दो उदाहरणों के जरिये समझायें कि बीमारी किस तरह सामाजिक कार्यबाधा बन सकती है।

6.13: सन्दर्भ (References)

- Anderson, C.H. (1974), *Towards a New Sociology, Homeward, III*: Dorsey Press.
- Cockerham W. C. (1982), *Medical Sociology, 2nd Edition*
- Berger, Peter L. (1963), *Invitation to Sociology: A Humanistic Perspective*. New York: Doubleday
- Berkanovic Emil,(1972), “ LAY CONCEPTIONS OF SICK ROLE”. *SOCIAL FORCES*; 51:53-63.
- Conrad, P. (ed.) (2001) *The Sociology of Health and Illness: Critical Perspectives*. New York.
- Link, Bruce G. and Jo C. Phelan. (1995), “Social Conditions as Fundamental Causes of Disease.” *Journal of Health and Social Behavior* 35(Extra Issue):80–94.
- Parson Talcott (1951), *The Social System*. England: Routledge & Kegan Paul Ltd
- Qadeer Imrana (2010) , *New Reproductive Technologies And Health Care In Neo-Liberal India: Essays* . Centre For Women’s Development Studies, New Delhi.
- Stacey Margaret and Homans (1978), “The Sociology of Health and Illness: Its Present State, Future Prospects and Potential for Health Research”. Volume: 12 issue: 2, page(s): 281-307
- Sujatha.V. (2014), ‘Sociology of Health and Medicine, new perspectives’. New Delhi: Oxford Univesity Press
- Turner, B. S. (1995) *Medical Power and Social Knowledge*. London: Sage.
- Turner, B. S. (2004) *The New Medical Sociology: Social Forms of Health and Illness*. Cambridge: Cambridge University Press.

इकाई -7

मार्क्सवादी स्वास्थ्य दृष्टिकोण (Marxist Health Perspective)

- 7.1 उद्देश्य
- 7.2 परिचय
- 7.3 मार्क्सवाद एवं स्वास्थ्य
- 7.4 रोग एवं निर्धनता का संबंध
- 7.5 असमानता, वर्ग एवं स्वास्थ्य
- 7.6 पूंजीवाद में स्वास्थ्य का वस्तुकरण
- 7.7 पूंजीवाद में स्वास्थ्य का चिकित्सकीयकरण
- 7.8 राज्य की बदलती भूमिका
- 7.9 निष्कर्ष
- 7.10 अभ्यास
- 7.11 भावी अध्ययन

7.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के जरिये हम स्वास्थ्य और उपचार के विषय में मार्क्सवादी स्वास्थ्य दृष्टिकोण को विस्तार से समझ सकेंगे।

7.2 परिचय (Introduction)

मार्क्सवादी दृष्टिकोण का मूल बिन्दु यह है कि वस्तुओं का उत्पादन सभी मानवीय गतिविधियों का सबसे बुनियादी कार्य है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवन निर्वाहयोग्य अर्थव्यवस्था में भोजन, आवास, वस्त्र जैसी बुनियादी जरूरतों के उत्पादन के अलावा मौजूदा पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में वस्तुओं के भारी मात्रा में उत्पादन की आवश्यकता में संगठन और उचित साधनों—उपकरणों की जरूरत होती है। इसे उत्पादन के बल (**Forces of Production**) कहा जाता है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन किसी भी तरह का हो, उसमें सामाजिक संबंध हमेशा संबद्ध होते हैं। आधुनिक पूंजीवादी समाजों में उत्पादन श्रमिक वर्ग के विकास की वजह बनता है, जिन्हें उनके कार्य की प्रकृति और उत्पादन पर नियंत्रण की स्थिति के आधार पर अलग सामाजिक वर्ग के तौर पर देखा जाता है। मार्क्सवादी विचारक तर्क देते हैं कि उत्पादन के ये संबंध और बल एकसाथ समाज के आर्थिक आधार यानी अवस्थापना को नियंत्रित—संचालित करते हैं। समाज के बाहरी ढांचे (राजनीतिक, न्यायिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य आदि) इस आर्थिक बुनियाद पर ही आधारित होते हैं। मार्क्स कहते हैं कि उत्पादन पर नियंत्रण की यह प्रक्रिया दो वर्गों—पूंजीवादी (जिनके पास है) और सर्वहारा या दरिद्र श्रमजीवी वर्ग (जिनके पास नहीं है)—को विकसित करती है और इन दोनों वर्गों के बीच लगातार कम होते संसाधनों को लेकर हमेशा प्रतिद्वंद्विता बनी रहती है। यह स्पष्ट करता है कि संसाधनों तक पहुंच अनुवांशिक रूप से ही असमान है और इस असमान वितरण में भी जो लाभ पायेंगे, वही पदानुक्रम (Heirarchy) में स्वयं को बनाये रखने में कायमाब होंगे।

यह दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि उत्पादन की शृंखला में किसी व्यक्ति का संबंध सिर्फ पदानुक्रम में अपनी स्थिति को लेकर नहीं है, बल्कि इससे उसके स्वास्थ्य और समृद्धि का भाव भी जुड़ा हुआ होता है। इस दृष्टिकोण को स्वास्थ्य समाजविज्ञान (**Medical Sociology**) में भी लागू

किया गया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने पर समाजविज्ञानियों ने बीमारियों के सामाजिक कारणों की पड़ताल की। इस दृष्टिकोण के अनुसार जनसंख्या के स्वास्थ्य संबंधी परिणाम दो स्तरों पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से प्रभावित होते हैं।

1. **उत्पादन प्रक्रिया के स्तर पर:** इसमें स्वास्थ्य प्रत्यक्ष रूप (औद्योगिक बीमारियां, चोट, तनाव संबंधित रोग आदि) से और अप्रत्यक्ष रूप (वस्तु उत्पादन की प्रक्रिया के विस्तृत कारणों से) से प्रभावित होता है। क्योंकि उत्पादन प्रक्रियाएं पर्यावरणीय प्रदूषण की वजह बनती हैं। इसके अलावा वस्तुओं के उपभोग की प्रक्रिया भी अपने आप में दीर्घकालिक स्वास्थ्य परिणाम देती हैं, जिनमें प्रसंस्करण किये गये खाद्य पदार्थों का सेवन, रासायनिक मिश्रण, कार हादसे आदि शामिल हैं।
2. **वितरण के स्तर पर:** स्वास्थ्य वितरण के स्तर पर भी प्रभावित होता है। उदाहरण के लिये, आय और धन लोगों के जीवनस्तर के प्रमुख मानक हैं। इन दोनों बिंदुओं के अलावा वे कहां रहते हैं, शैक्षिक अवसरों तक उनकी पहुंच कैसी है, स्वास्थ्य सुविधाओं तक उनकी पहुंच है या नहीं, ये सभी कारक भी स्वास्थ्य के सामाजिक कारक हैं।

फ्रेडरिक एंगेल्स (1820–1895) ने अपने शोधकार्य में बताया कि रोगों के कारण और इनके वितरण के माध्यम(संक्रामक व गैर संक्रामक) प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन प्रक्रियाओं से संबद्ध हैं (Engels, 1971 (1945))। एंगेल्स की बुनियादी धारणा में निम्न बिन्दु शामिल थे।

- **उत्पादन के साधन:** भूमि, उपकरण और तकनीक
- **उत्पादन के बल:** श्रमशक्ति, तकनीक का ज्ञान
- **उत्पादन के संबंध:** समग्र रूप से वे सभी सामाजिक संबंध, जो लोगों के अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं
- **उत्पादन के तरीके:** उत्पादन बलों का संयोग और संबंध, ऐसे दो माध्यम पूंजीवाद और सामंतवाद हैं

7.3 मार्क्सवाद एवं स्वास्थ्य (Marxism and Health)

मार्क्स ने कभीभी प्रत्यक्ष रूप से स्वास्थ्य एवं उपचार के विषय या स्वास्थ्य विशेषज्ञों के विषय पर कुछ नहीं लिखा। उनके सैद्धांतिक एवं दार्शनिक विचारों को मार्क्सवादी एवं नव मार्क्सवादी विचारकों द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य विश्लेषण में उपयोग किया गया। मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने एक ओर स्वास्थ्य, बीमारी और पूंजीवाद के बीच संबंधों को स्पष्ट करने में मदद की, वहीं पूंजीवाद और चिकित्सकीय प्रक्रियाओं के अंतर्संबंध को भी समझाया। 1844 में उन्होंने मेनचेस्टर की एक मिल में प्रबंधक के तौर पर कार्यरत धनी उद्यमी एंगेल्स के साथ सहकार्य प्रारंभ किया। एंगेल्स श्रमिकों की निर्धनता को लेकर चिंतित थे। उन्होंने ब्रिटिश कामगार वर्ग की निर्धनता, समस्याओं और खराब स्वास्थ्य के विषय पर समग्र ग्रंथ लिख डाला था। अपने लेखन में एंगेल्स ने बताया कि खराब स्वास्थ्य, निर्धनता और रोग परस्पर संबंधित हैं। उन्होंने बताया कि रोग के होने के पीछे मात्र कोई एक कारण नहीं होता। प्राकृतिक वजहों के अलावा कचरा संग्रहण की कमी, नालियों-सफाई का अभाव और आवासों की खराब-लचर व्यवस्था श्रमिक वर्ग में रोगों के पनपने और उनके खराब स्वास्थ्य का कारण हैं। वह इस बात पर भी जोर देते हैं कि निर्धन लोगों के लिये चिकित्सकीय सुविधाओं की भी कमी है और ये सभी कारण मिलकर श्रमिक वर्ग के खराब स्वास्थ्य का कारण बनते हैं। (Engels [1845]).

7.4 रोग और निर्धनता का संबंध (Connection Between Disease and Poverty)

18वीं सदी के अभिजात्य वर्ग में यह आम धारणा थी कि निर्धनता ही बीमारियों और रोगों का कारण है तथा गरीबी निर्धन लोगों की अक्षमता एवं कमजोरियों का ही परिणाम है। मार्क्स और एंगेल्स ने तर्क दिया कि रोग और खराब स्वास्थ्य जरूरत से अधिक श्रम और निर्धन वर्ग के पास भोजन के पर्याप्त साधनों के अभाव का परिणाम है (Marx and engels 1976). मार्क्स और एंगेल्स ने बताया कि निर्धनता और बीमारियों का संबंध सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं। और अन्य समूहों के मुकाबले निर्धन वर्ग का रोगों से अधिक पीड़ित होने का कारण यह है कि पूंजीवादी ही उन्हें इस स्थिति तक पहुंचाते हैं। पूंजीवादी निर्धन वर्ग के श्रम का शोषण करते हैं और बदले में उन्हें बेहद कम पारिश्रमिक दिया जाता है, जो उनकी निर्धनता का कारण बनता है (engels [1845] 1969). वे दोनों बताते हैं कि निर्धनता एवं रोग औद्योगिक पूंजीवाद के निरंतर विस्तार का परिणाम हैं, जो 19वीं सदी के उत्तरी यूरोपीयन नगरों में कामगारों के शोषण और असमानता को बढ़ावा देने की सबसे बड़ी वजह था। अपने शोधकार्यों में एंगेल्स ने पाया कि ब्रिटिश औद्योगिक केन्द्र के तौर पर विकसित हुये नगरों में एकाएक जनसंख्या विस्फोट सा हुआ, दूसरी ओर पूंजीवाद ने अपने लाभ के लिये श्रमिकों के स्वास्थ्य को गहरा नुकसान पहुंचाया।

मार्क्सवादी दर्शन के तीन मूल बिन्दु

- **भौतिक परिस्थितियां:** मानवमात्र होने के नाते हमारे अनुभवों को जानने के लिये हमें सबसे पहले दैनिक जीवन की भौतिक परिस्थितियों की ओर ध्यान केन्द्रित करना होगा
- **द्वंद्वत्मक भौतिकवाद:** दैनिक जीवन की भौतिक परिस्थितियां सामाजिक बलों के अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों से प्रभावित होती हैं, जिसका परिणाम ही हमारे अनुभव को निर्धारित करता है
- **अलगाव:** जीवन की वर्तमान भौतिक परिस्थितियों से स्पष्ट होता है कि हम मानवीय स्वरूप में स्वयं अपने से, एक-दूसरे से और कार्य की प्रकृति से अलग हो चुके हैं

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव स्वास्थ्य उपरोक्त तीन मूल विचार बिन्दुओं से जुड़ा हुआ है। पहले बिन्दु के अनुसार जीवन की भौतिक परिस्थितियों का सीधा असर स्वास्थ्य पर होता है। दूसरे बिन्दु में बताया गया है कि जो भौतिक परिस्थितियां स्वास्थ्य पर असर डालती हैं, वे प्रतिद्वंद्वी और शक्तिशाली समूहों द्वारा बनायी जाती हैं जो (तीसरा बिन्दु) अलगाव, पृथक्कीकरण के अनुभव और व्यवहार को जन्म देती हैं। ये तीनों विचार संयुक्त रूप से लोगों को अस्वास्थ्यकर जीवनशैली के चयन के लिये मजबूर करती हैं। और सामूहिक रूप से ये तीनों खराब स्वास्थ्य का कारण हैं।

मार्क्सवादी मॉडल Marxist model

सिद्धांत Theory	सामाजिक मॉडल Model of Society	रोगों के कारण Cause of Disease	चिकित्सा व्यवसाय की भूमिका Role of the Medical Profession
मार्क्सवादी Marxist	संघर्षशील एवं शोषणवादी Conflictual and exploitative	लाभ को स्वास्थ्य से अधिक महत्व देना Putting profit ahead of Health	कामगार वर्ग को अनुशासन एवं नियंत्रण में रखना, रोगों के व्यक्तिगत कारण उपलब्ध कराना To discipline and control the working class; and provide individualized explanations of disease

7.5 असमानता, वर्ग और स्वास्थ्य (Inequalities, Class and Health)

वर्ग का तात्पर्य शक्तियों, सामाजिक स्थिति और आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण के आधार पर समाज के जटिल विभाजन से है। सामाजिक वर्ग का निर्धारण आजीविका, आय स्तर, आवासीय और शैक्षिक स्थिति से होता है। ये सभी कारक तय करते हैं कि कोई व्यक्ति किस सामाजिक श्रेणी या वर्ग से संबंध रखता है। खास बात यह है कि लोगों की जीवन प्रत्याशा में भी इस आधार पर स्पष्ट अंतर देखा जाता है कि वे किस श्रेणी से संबंध रखते हैं। उदाहरण के लिये, श्रमिक वर्ग से जुड़े लोगों का निधन जल्दी होना पाया गया है। उनकी आयु कम होती है और मध्यमवर्गीय अथवा गैरश्रमिक वर्ग से संबंधित लोगों के मुकाबले उनमें बीमारियां भी अधिक होती हैं। एंजेल्स ने मेनचेस्टर के श्रमिक वर्ग के खराब स्वास्थ्य पर विस्तार से लिखा है। कई शोधकार्यों ने स्पष्ट किया कि सामाजिक वर्गीकरण स्वास्थ्य पर प्रभाव डालता है। ऐसी ही एक रिपोर्ट 'ब्लैक रिपोर्ट' है। 1980 में प्रकाशित यह रिपोर्ट स्वास्थ्य के बिन्दु पर समाज के उच्च और निम्न वर्ग के बीच असमानता की खाई निरंतर बढ़ रही है। रिपोर्ट बताती है कि सामाजिक पायदान पर हम जैसे-जैसे नीचे की ओर जाते हैं, खराब स्वास्थ्य वाले लोगों की प्रतिशतता बढ़ती जाती है। 1998 में 'एचेसन रिपोर्ट' का प्रकाशन हुआ। इसके अनुसार सामाजिक वर्ग 1 से 5 तक जाते हुये कैंसर, श्वास, हृदय, पक्षाघात जैसी बीमारियों का खतरा बढ़ता जाता है। निम्न वर्ग में आत्महत्याओं और हादसों का खतरा भी अधिक रहता है। यह स्पष्ट करता है कि निर्धन महिलाएं-पुरुष समृद्ध और उच्चवर्गीय लोगों के मुकाबले अधिक संख्या में मरते हैं (Sujatha 2014). इस प्रकार इन दोनों रिपोर्टों ने स्पष्ट किया कि सामाजिक वर्गीकरण व्यक्ति के स्वास्थ्य पर असर डालता है और मृत्युदर भी सामाजिक वर्ग से संबंधित होती है।

जैसाकि हम पहले बता चुके हैं कि एंजेल्स और मार्क्स के लेखन ने चिकित्सकीय समाजशास्त्रियों की कई पीढ़ियों को प्रेरित किया है। उनके सैद्धांतिक और दार्शनिक कार्यवाहों को कई मार्क्सवादी, नव-मार्क्सवादियों ने सामाजिक असमानता और स्वास्थ्य के संबंधों को समझने में उपयोग किया है। मार्क्सवादी विशेषज्ञ मानते हैं कि पूंजीवाद न सिर्फ असमान स्वास्थ्य का कारण है, बल्कि यह स्वास्थ्य-उपचार की नयी व्यवस्था, नयी वस्तुओं और शरीर पर नियंत्रण के नये साधनों के विकास का भी कारण है। यहां हम जानेंगे कि समकालीन चिकित्सकीय समाजशास्त्रियों ने स्वास्थ्य, स्वास्थ्य उपचार व्यवस्थाओं को समझने के लिये किस तरह मार्क्सवादी दृष्टिकोण का उपयोग किया।

मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने पूंजीवादी स्वास्थ्य-उपचार उद्योग की स्थापना से स्वास्थ्य के उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने बताया कि स्वास्थ्य-उपचार व्यवस्था सिर्फ अस्पतालों, क्लीनिकों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका विस्तार जांच प्रयोगशालाओं, फार्मास्यूटिकल कंपनियों, चिकित्सकीय उपकरणों के उत्पादन, स्वास्थ्य बीमा कंपनियों आदि तक होता है। पूंजीवादी स्वास्थ्य-उपचार व्यवस्था के कई क्रियाशील भाग हैं जो पूंजीवादी उत्पादन और विनिमय के जरिये एक-दूसरे से संबद्ध रहते हैं। मार्क्सवादी विचारक नवारो ने 1976 में तर्क दिया कि चिकित्सकीय पेशा भी वर्गीकरण के ढांचे से अलग नहीं है और यह मूलतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सहायक के तौर पर ही काम करता है। उन्होंने बताया कि चिकित्सकीय पेशेवर पूंजीवादी व्यवस्था के केन्द्र में रहते हैं जो आबादी की निगरानी, सामाजिक पदानुक्रम को बनाये रखने और सामाजिक नियंत्रण की विभिन्न गतिविधियों के जरिये राष्ट्र-राज्य की मदद करते हैं। मैथ्यूज ने 1992 में पाया कि फार्मास्यूटिकल उद्योगों में नये आविष्कार, संबंधित पेशेवर कॉर्पोरेट लाभ के लिये काम करते हैं। वे समाज की पदानुक्रम की व्यवस्था, स्वास्थ्य की असमानता को बनाये रखते हुये स्वास्थ्य व्यवस्था का ऐसा प्रारूप तय करते हैं जो अभिजात्य वर्ग के लिये मददगार होता है।

इन विचारकों-लेखकों का मुख्य और मूल तर्क यह है कि पूंजीवादी चिकित्सकीय व्यवस्था का मुख्य लक्ष्य लाभ कमाना था, अच्छे स्वास्थ्य का निर्माण नहीं। वे बताते हैं कि पूंजीवादी व्यवसाय (चिकित्सकीय पेशा, अस्पताल, फार्मास्यूटिकल कंपनियां आदि) के स्वामित्व के जरिये लाभ कमाते हैं

और प्रबंधक, डॉक्टर, सामाजिक कार्यकर्ता, राजनेता, शिक्षक आदि अपनी विशेषज्ञता के जरिये इन पूंजीवादियों के यहां काम कर अपनी आजीविका हासिल करते हैं।

7.6 पूंजीवाद के अंतर्गत स्वास्थ्य का वस्तुकरण (Commodification of Health under Capitalism)

मार्क्सवादी चिकित्सकीय समाजशास्त्रियों ने पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत विकसित दवाओं और उपचार का भी विश्लेषण किया है। इससे बनी आम धारणा यह है कि पूंजीवादी चिकित्सा सिर्फ देखभाल और उपचार पर केन्द्रित है, रोग से संरक्षण पर नहीं और इसी बिन्दु ने उपचार को वस्तुवादी बना दिया है। तकनीक के विस्तार के साथ उपचार का ध्यान भी शरीर के विशेष भागों पर रह जाता है जिससे व्यक्ति की शारीरिक पहचान भी सामाजिक अलगाव की वजह बनती है। कई रोगी अकसर यह शिकायत करते हैं कि उनकी सामाजिक पहचान कैंसर रोगी या हृदयाघात रोगी की बन गयी है और इसके कारण समाज में उन्हें बीमार की तरह देखा जाता है। मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों का तर्क है कि स्वास्थ्य स्वयं में एक ऐसी वस्तु बन जाता है जिसे खरीदा या बेचा जा सकता है। विशेषज्ञ पेशेवरों और मरीजों के बीच बाजार की तरह विक्रेता-ग्राहक का संबंध बन जाता है और लाभ कमाने के मकसद से लगातार नयी जरूरतों को खड़ा किया जाता है। पूंजीवादी उपचार व्यवस्था में उपचार के तकनीकी स्वरूप को ही खराब स्वास्थ्य की समस्याओं का समाधान माना जाता है, जिसके चलते यह एक लाभकारी उद्यम के तौर पर विकसित हो गया है। (Sujatha 2014)

7.7 पूंजीवाद के अंतर्गत स्वास्थ्य का चिकित्सकीयकरण (Medicalization of Health under Capitalism)

सुजाता के अनुसार वस्तुकरण कर एक अन्य पहलू चिकित्सकीयकरण है। इसमें सामाजिक समस्याओं को भी स्वास्थ्य समस्याओं के तौर पर देखा जाता है। चिकित्सकीयकरण का अर्थ चिकित्सकीय सिद्धांत, अवधारणाओं और कार्यवाहियों के जरिये सामाजिक घटनाओं को देखने से है। मार्क्सवादी स्वास्थ्य असमानताओं वर्ग, वस्तुकरण और चिकित्सकीयकरण की अवधारणाओं से जोड़कर देखते हैं, जो पूंजीवादी समाज में स्वास्थ्य सेवाओं में शोषण को स्पष्ट करते हैं। वे बताते हैं कि चिकित्सकीय पूंजीवाद नयी उत्पन्न की जाने वाली समस्याओं को नियंत्रित करता है और इनके जरिये नये बाजार विकसित कर मानवीय समस्याओं से भी लाभ कमाता है। कोनार्ड (1975) ने विकृत व्यवहार के चिकित्सकीयकरण को समझाने के लिये बाल्यकालीन अतिसक्रियता का उदाहरण दिया। 'चिकित्सकीय सामाजिक नियंत्रण' को स्पष्ट करते हुये उनके विश्लेषण ने स्वास्थ्य के समाजशास्त्र में बड़ा योगदान किया। कोनार्ड के अनुसार चिकित्सकीयकरण दरअसल हमारी दैनिक जीवनचर्या के विभिन्न क्षेत्रों में चिकित्सकीय अधिकरण (Medical Authority) का विस्तार है। इसे सामाजिक नियंत्रण के रूप में इस तरह समझा जा सकता है कि विकृत समझे जाने वाले व्यवहार को सामाजिक स्थिति से हटाकर चिकित्सकीय क्षेत्र में डाल दिया जाता है। यहां इस प्रक्रिया के पीछे कारण यह नहीं है कि चिकित्सकीयकरण को स्वीकृति मिल चुकी है या यह तकनीकी रूप से सुरक्षित और प्रभावी है, बल्कि (मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार) यह वस्तुतः पूंजीवाद की वस्तुकरण प्रक्रिया का परिणाम है। हाल के दशकों में वस्तुकरण की यह प्रक्रिया बुनियादी वस्तुओं के उत्पादन से उठकर शरीर के अंगों, यहां तक कि पूरे शरीर तक पहुंच चुकी है।

क्लार्क (2003) कहती हैं, 'चिकित्सकीयकरण की प्रक्रिया कई बार तकनीकी-वैज्ञानिक आविष्कारों के जरिये पूरी की जाती है। इसने इस प्रक्रिया को जैवचिकित्सकीयकरण बना दिया है। इस तरह चिकित्सकीयकरण का लक्ष्य उच्च तकनीकी-वैज्ञानिक जैवचिकित्सकीय प्रक्रियाओं से हासिल किया

जाता है।' इस अवधारणा के साथ क्लार्क ने इस पूरी प्रक्रिया को शरीर पर नियंत्रण (**Control Over Bodies**) से शरीर के रूपांतरण (**Transformation Over Bodies**) तक की प्रक्रिया करार दिया है। वह बताती हैं कि जैवचिकित्सकीयकरण प्रक्रिया (जिसमें शरीर का रूपांतरण भी शामिल है) का एक आयाम नयी व्यक्तिगत और सामूहिक पहचानों का निर्माण भी है।

मार्क्सवादी विचारों ने मानव अंगों के वस्तुकरण पर भी लिखा है। इसका एक उदाहरण है मातृत्व और सरोगेसी (**Surrogacy**) का व्यापारीकरण, जिसमें कोई महिला अपने गर्भ को 'किराये' पर देती है। मार्क्सवादी नारीवादी विचारक तर्क देते हैं कि सरोगेसी ने लोगों के दो तरह के वर्ग उभारे हैं, पहला अंगों के ग्राहक (वह मां जो किराये पर गर्भ ले रही है) और अंगों के विक्रेता (वह मां जो अपना गर्भ किराये पर दे रही है)। मार्क्सवादी विचारक बताते हैं कि गर्भ के वस्तुकरण की इस प्रक्रिया में निर्धन और हाशिये पर जीने वाली महिलाएं अंग प्रदाता बनती हैं, जबकि इस सौदे का अधिकतर लाभ धनी महिलाओं को मिलता है। भारत में सरोगेसी लाखों डॉलर का उद्योग बन चुका है। अमीर देशों के लोग तीसरी दुनिया के देशों में आकर निर्धन महिलाओं को सरोगेट मां बनने के लिये तैयार करते हैं। और इस तरह एक शरीर बेचे जाने योग्य उत्पादन के लिये कच्चा माल बनकर रह जाता है। शरीर के वस्तुकरण की इस प्रक्रिया में आवश्यकता से अधिक चिकित्सकीयकरण और इसके स्वास्थ्य दुष्प्रभाव निर्धन महिलाओं को ही झेलने होते हैं जो असमानता को और बढ़ाते हैं, क्योंकि बदले में इन महिलाओं को बेहद कम आर्थिक लाभ मिल पाता है। यहां हम पाते हैं कि शरीर के वस्तुकरण का विश्लेषण नारीवादी सिद्धांतों के जरिये किया जाता है, जबकि न तो मार्क्स और न ही एंजेल्स ने कभी महिलाओं के अनुभवों को लेकर कोई उपयोगी विश्लेषण किया था। महिलाओं के शरीर पर वस्तुकरण के प्रभाव का उदाहरण सेनगुप्ता (2017) के शोधकार्यों में भी मिलता है। उन्होंने तर्क दिया कि विकासशील देशों में वर्तमान दौर में स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण और व्यवसायीकरण को लगातार बढ़ावा मिल रहा है। इसके साथ ही मेडिकल टूरिज्म नाम की नयी व्यवस्था भी उपजी है। अस्पतालों के निजीकरण और मेडिकल टूरिज्म का ही यह असर है कि भारत में जिन निर्धन महिलाओं को अपनी गर्भावस्था के दौरान निजी अस्पतालों में उचित उपचार नहीं मिल पाता, उन्हें तब इन्हीं निजी अस्पतालों में विशेष देखभाल मिलती है, जब वे सरोगेसी के लिये तैयार होती हैं। स्वास्थ्य नीतियों में नव-उदारवाद से यह अंतर आया है।

मेडिकल टूरिज्म अब सिर्फ मातृत्व तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि कॉस्मेटिक सर्जरी भी इसका एक पहलू है, जहां मरीजों को सुंदरता के मानकों पर फिट करने की कोशिश की जाती है (**Sujatha 2014**)। सेनगुप्ता बताते हैं कि सर्जरी संबंधी चिकित्सा कई देशों में उद्योग बन गयी है, जिसने मेडिकल टूरिज्म को बढ़ावा दिया है। वह बताते हैं कि ओपनहार्ट सर्जरी पर विचार करें तो ब्रिटेन में इसकी लागत 70 हजार डॉलर तक है, अमेरिका में इसके लिये डेढ़ लाख डॉलर तक खर्चा होता है, जबकि भारत में इसकी लागत तीन हजार डॉलर से 10 हजार डॉलर तक हो सकती है। इसी तरह घुटना प्रत्यारोपण की लागत भारत में साढ़े तीन लाख रुपये यानी 7700 डॉलर है, जबकि ब्रिटेन में इसके लिये 16950 डॉलर देने होंगे। इसी तरह दांतों, आंखों और कॉस्मेटिक सर्जरी के दाम भारत में पश्चिमी देशों के मुकाबले तीन से चार गुना तक कम हैं। मेडिकल टूरिस्ट को अकसर पूरी पैकेज डील मिलती है, जिसमें उपचार के अलावा हवाई टिकट, होटल में रहने और उपचार के बाद कुछ दिन मनोरंजनात्मक गतिविधियां भी शामिल होती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि पूंजीवादी चिकित्सकीयकरण के तहत हमारा शरीर वस्तु बनकर रह जाता है। पूंजीवादी स्वास्थ्य व्यवस्था में वस्तुकरण, चिकित्सकीयकरण और निजीकरण असमानता को बढ़ाता है, क्योंकि धनी लोग मनचाहा

इलाज आसानी से पा लेते हैं, जबकि निर्धन लोगों की पहुंच कई बार बुनियादी उपचार तक भी संभव नहीं हो पाती।

7.8 राज्य की बदलती भूमिका (Changing Role of State)

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में जनसंख्या के स्वास्थ्य की देखभाल में राज्य की भूमिका मार्क्सवादी विचारकों में हमेशा विवाद का विषय रही है। समकालीन मार्क्सवादी विश्लेषकों ने स्वास्थ्य-उपचार सेवाओं और संस्थाओं (अस्पताल, क्लीनिक, जांच प्रयोगशालाएं आदि) की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजार में खरीद-बिक्री पर भी ध्यान केन्द्रित किया है। रेल्मैन (1980) ने अमेरिका में किये अपने अध्ययन के बाद बताया कि सेवासंबंधी प्रावधानों में राज्य ने पारंपरिक रूप से बहुत छोटी भूमिका अपने लिये रखी है। वह बताते हैं कि जटिल चिकित्सा उद्योग के रूप में कॉरपोरेट शक्तियों का विकास इसका प्रमाण है। रेल्मैन बताते हैं कि यह तथ्य सही है कि ये चिकित्सा उद्योग अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबले अधिक दक्ष हो सकते हैं, लेकिन यह आवश्यकता से अधिक चिकित्सा, तकनीकी इस्तेमाल पर जोर देते हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ये विभिन्न वर्गों में असमानता का भाव बढ़ाते हैं, क्योंकि इन उद्योगों की स्थापना ही उन लोगों के लिये हुयी है, जो इनमें मिलने वाली सुविधाओं और उपचार का खर्चा दे सकें। इससे राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति पर भी अनुचित दबाव बढ़ता है। रेल्मैन तर्क देते हैं कि निजी सेवाओं का विकास, उनकी लाभ कमाने की मंशा, और उपचार का कॉरपोरेट तरीका सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के लिये चुनौती है।

सेनगुप्ता (2008) ने अपने अध्ययन में पाया कि 1991 के बाद सरकार की नवउदारवादी नीतियों के चलते स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में निजी सेक्टर का उभार बढ़ता गया। 1991 में भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाला खर्च बीते दशक में सकल घरेलू उत्पाद के 1.3 प्रतिशत से घटकर 0.9 प्रतिशत रह गया। जबकि इसी अवधि में स्वास्थ्य पर किये जाने वाले निजी खर्च के मामले में भारत दुनिया के शीर्ष 20 देशों में शामिल हो गया, जो सकल घरेलू उत्पाद का 4.5 से पांच प्रतिशत तक पहुंच गया था। लेकिन ये निजी सुविधाएं सिर्फ उन्हीं अभिजात्यों को उपलब्ध थीं, जो इन्हें प्राप्त करने में सक्षम थे। भारत में निजी स्वास्थ्य सेक्टर का खर्चा उठाने में ही सक्षम लोगों को उपचार दे पाने का पहलू महत्वपूर्ण बहस का विषय रहा है, क्योंकि यह सेक्टर बेहद खर्चीला है और उच्चवर्गीय लोग ही इसका लाभ ले पाते हैं। दूसरी ओर, निर्धन वर्ग के लोगों के लिये सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा की गुणवत्ता, सेवाएं और सुविधाएं कमतर रहती हैं। इसके चलते जब निर्धन लोगों के पास महंगी निजी स्वास्थ्य सेवाओं के पास जाने के अलावा कोई चारा नहीं बचता तो वे और अधिक दरिद्रीकरण का शिकार बनते हैं। 40 फीसदी से अधिक रोगियों को इलाज के लिये या तो उधार लेना पड़ता है या फिर अपनी संपत्ति बेचनी होती है। इसी तरह 25 प्रतिशत से अधिक किसान परिवारों को परिवार के किसी मरीज की देखभाल, उपचार के लिये गरीबी रेखा से नीचे का जीवनयापन करना पड़ता है। सेनगुप्ता ने तर्क दिया कि स्वास्थ्य सेवाओं में सार्वजनिक निवेश को तीन से पांच गुना तक बढ़ाने की आवश्यकता है, क्योंकि निजी सेक्टर के अस्पतालों में निर्धन वर्ग के लिये कुछ बेडों की व्यवस्था मात्र कर देना ही भारत की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की समस्या का हल नहीं है। वह बताते हैं कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा को मजबूत करने के बजाय कॉरपोरेट अस्पतालों, मेडिकल टूरिज्म को छूट देकर इन्हें बढ़ावा दिया गया है। वह तर्क देते हैं कि मेडिकल टूरिज्म से मिलने वाला राजस्व भारत में स्वास्थ्य सेवाओं को तभी बेहतर कर सकता है, जब मेडिकल टूरिज्म को कर छूट देने के बजाय इससे प्राप्त होने वाले कर की राशि का इस्तेमाल सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में किया जाये। उन्होंने क्यूबा का उदाहरण देते हुये बताया कि क्यूबा दशकों से मेडिकल टूरिज्म में अग्रणी देश रहा है। वहां स्थानीय नागरिकों और विदेशियों व राजनयिकों के लिये अलग अस्पताल हैं। दोनों तरह के अस्पतालों का संचालन सरकार द्वारा ही किया जाता है। क्यूबा

के नागरिकों को जीवनभर निःशुल्क स्वास्थ्य सुविधा दी जाती है, जबकि विदेशियों को शुल्क देना होता है। क्यूबा की सरकार ने मेडिकल टूरिज्म को इस तरह विकसित किया है कि वह आय का साधन बनकर देश के नागरिकों के लाभ में काम आता है। क्यूबा का यह उदाहरण बताता है कि मेडिकल टूरिज्म को वस्तुतः लोगों के लाभ में इस्तेमाल किया जा सकता है।

यहां स्पष्ट है कि उपरोक्त शोधकर्ता और लेखक विकास या आविष्कार के विरोधी नहीं हैं, लेकिन वे सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में सुधारों के पक्षधर हैं, जो बड़ी आबादी के लाभ और विभिन्न वर्गों में असमानता को खत्म करने में मददगार हो सकते हैं। ये स्वास्थ्य सुधार जनसंख्या के बेहतर स्वास्थ्य के लिये महत्वपूर्ण हैं और इन्हें राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में शामिल किया जाना चाहिये, लेकिन कई बार सुधार की इन प्रक्रियाओं का पूंजीवाद विरोध करता है। हैमलिन (1998) बताते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स 19वीं सदी के मध्यकाल की परिस्थितियों पर लिख रहे थे और तब से अब तक सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं और निजी स्वास्थ्य मानकों के विस्तार से जनता को खासा लाभ मिला है। ऐसा हर लाभ लंबे और सघन राजनीतिक संघर्ष का परिणाम रहा। उदाहरण के लिये विक्टोरियाकालीन ब्रिटेन में साफ-सफाई की नयी व्यवस्थाएं और मानक चिकित्सकीय समूहों, स्थानीय और राष्ट्रीय शासन व आर्थिक अभिजात्य वर्ग के विरोध के बावजूद लागू किये गये।

मार्क्सवादी सिद्धांतकारों ने तर्क दिया कि लाभोन्मुखी स्वास्थ्य व्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या यह है कि यह बहुत अधिक महंगे और आवश्यकता से अधिक चिकित्सकीयकरण करते हैं। इसका लाभ सिर्फ उन्हीं लोगों को मिलता है, जो खर्चा उठा पाने में सक्षम हैं, जिसके चलते बड़ी आबादी इसकी सुविधाओं से वंचित रहती है। दूसरी ओर, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने को लेकर सरकार ठोस कदम उठाती नजर नहीं आती। मार्क्सवादी विशेषज्ञ कहते हैं कि तमाम समस्याओं के बावजूद कॉरपोरेट उपचार व्यवस्था वर्तमान में विकासशील और विकसित दोनों देशों में स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाये रखने का जरिया हैं। कई जगह खुद सरकारों ने ही स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में कॉरपोरेट को निवेश के लिये बढ़ावा दिया है। भारत के मामले में देखें तो यहां निःसंतानता का उपचार सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र में उपलब्ध नहीं है, क्योंकि इसके लिये उच्च, जटिल तकनीकों की आवश्यकता होती है, जो सिर्फ निजी सेक्टर में ही उपलब्ध होती हैं। इसके अलावा कॉरपोरेट को बढ़ावा देने का एक मकसद मौजूदा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा या लागत क्षमता में सुधार में राज्य के दायित्व को कम करना भी है (nguyen and peschard 2003; Sengupta 2017;2008)। मार्क्सवादी तर्क देते हैं कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने और राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में नये प्रावधानों को शामिल करने की जरूरत है, ताकि स्वास्थ्य सेवा तक सभी लोगों, सभी वर्गों की पहुंच हो।

7.9 निष्कर्ष (Conclusion)

इस इकाई में हमने स्वास्थ्य और उपचार को लेकर मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अध्ययन से प्रारंभ किया। हमने 19वीं सदी में ब्रिटिश कामगार वर्ग के स्वास्थ्य, निर्धनता के संबंध में एंगेल्स के अध्ययन के बारे में जाना। उन्होंने व्यक्तिवादी, न्यूनकारीवादी सिद्धांतों को चुनौती दी और बताया कि रोगों के पनपने का कोई एक कारण नहीं है। मार्क्स और एंगेल्स ने बताया कि किस तरह पूंजीवाद खराब स्वास्थ्य का कारण है। उन्होंने पूंजीवाद और सर्वहारा वर्ग की जीवन परिस्थितियों में संबंध स्थापित किया। यद्यपि 19वीं सदी से अब तक स्वास्थ्य, स्वास्थ्य सेवाओं और व्यवस्थाओं में खासा बदलाव आया है, लेकिन मार्क्स और एंगेल्स के सिद्धांत आज भी प्रासंगिक हैं। हमने यह भी देखा कि समकालीन समाजशास्त्रियों ने पूंजीवादी व्यवस्था में स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य सेवाओं की प्रकृति और

स्वास्थ्य सेवाओं पर कॉरपोरेट के प्रभाव का अध्ययन करने के लिये मार्क्सवादी दृष्टिकोण का उपयोग किया। हालांकि, पूंजीवाद ने कई अर्थव्यवस्थाओं को समृद्ध बनाने में मदद की है और 20वीं सदी में समृद्ध राज्यों को सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की स्थापना में भी सक्षम बनाया, जनस्वास्थ्य के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय निवेश को भी बढ़ावा दिया, जैसे— ब्रिटेन में सफाई अभियान। लेकिन 1980 के बाद पूंजीवाद की नवउदारवादी नीतियों ने निजी स्वास्थ्य सेवाओं का समर्थन किया, जो पूंजीवादी संचय को बढ़ाने और वैश्विक व्यापार का कारण बनने के साथ वर्ग व्यवस्था में असमानता की भी वजह बने।

हमने यह भी जाना कि वर्गों के आधार पर लोगों की स्वास्थ्य आवश्यकताओं में किस तरह अंतर आता है। उदाहरण के लिये, कुछ लोगों के लिये स्वास्थ्य का अर्थ दैनिक जीवन का सहारा और संक्रामक रोगों से बचाव है (SenGupta 2017) लेकिन समृद्ध वर्गों के लिये स्वास्थ्य सिर्फ संक्रामक रोगों से बचाव तक सीमित नहीं है, बल्कि उनके लिये यह जीवनचक्र को बढ़ाने का जरिया है, जिसके लिये वे मानव शरीर को खरीदने की संभावनाओं तक विचार करते हैं। हमने यह भी देखा कि मार्क्स और एंगेल्स के दृष्टिकोण का कई शोधकर्ताओं ने उपयोग किया, जिनमें मार्क्सवादी नारीवादी भी शामिल थे। यहां यह पहलू महत्वपूर्ण है कि अतीत में और नवउदारवादी नीतियों के बाद के काल की स्वास्थ्य सेवाओं में खासा अंतर है, जो वर्गों में असमानता के तौर पर साफ नजर आता है। यदि इस असमानता की स्थिति को कम किया जा सके और राज्य शासन द्वारा सबको बेहतर, समान स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करायी जा सकें तो भविष्य के बेहतर होने की उम्मीद की जा सकती है।

7.10 अभ्यास (Exercise)

- मेडिकल टूरिज्म से आप क्या समझते हैं? दो उदाहरण देकर बतायें।
- नव स्वच्छता अभियान क्या है? इसकी शुरुआत कहां हुयी?
- मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर स्वास्थ्य संबंधी असमानताओं की व्याख्या करें।
- चिकित्सा उद्योग समूह की अवधारणा किसने दी? इसके बारे में समझाएं।
- उत्पादन का अर्थ और साधन क्या हैं?
- चिकित्सकीयकरण की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं?

7.11 भावी अध्ययन (Further Readings)

- Chossudovsky, M. (1983) 'Underdevelopment and the Political Economy of Malnutrition and Ill Health' International Journal of Health Services 13(1):69-87.
- Conard peter(1992), Medicalization and Social Control, Annual Review of Sociology 1992: 18:209-32.
- Engels, F. [1845] (1969) The Condition of the Working Class in England (introduction by Eric Hobsbawm) Panther Books: St Albans.
- Lindorff, D. (1992) Marketplace Medicine Bantam Books: New York City
- Marx K (1843) A Contribution to the Critique of Hegel's Philosophy of Right. Introduction. Early Writings.
- Marx K. (1859) A contribution to the critique of political economy (Preface).
- Marx K. and Engels, F. (1846) The German Ideology Critique of Modern German Philosophy According to Its Representatives Feuerbach, B. Bauer and Stirner, and of German Socialism According to Its Various Prophets.
- Marx, K. (1976) Capital Vol.1 Penguin: Harmondsworth

-
- Navarro, V. (1986) *Crisis, Health, and Medicine* Tavistock: New York and London.
 - Nguyen, V-K. and Peschard, K. (2003) 'Anthropology, Inequality and Disease: A Review' *Annual Review of Anthropology* 32:447-74.
 - Relman, A. (1980) 'The New Medical-Industrial Complex' *New England Journal of Medicine* 303:963-70.
 - Sen Gupta Amit (2008), *Medical tourism in India: winners and losers* *Indian Journal of Medical Ethics* Vol V No 1 January- March 2008
 - Sen Gupta Amit (2017), *Medical tourism and Public Health*, *Delhi Science Forum*, dated 4/25/2017.<http://www.delhiscienceforum.net/publichealth/164>
 - Sujatha.V. 2014. 'Sociology of Health and Medicine, new perspectives'. New Delhi: Oxford Univesity Press.

इकाई -8

स्त्री अधिकारवादी या नारीवादी दृष्टिकोण (The Feminist Approach)

- 8.1 उद्देश्य
- 8.2 परिचय
- 8.3 स्त्री अधिकारवाद का लक्ष्य-कार्य
- 8.4 स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य
- 8.5 प्रजनन का चिकित्सकीयकरण
- 8.6 जन्म नियंत्रण एवं गर्भपात संबंधी प्रावधान पर तर्क-वितर्क
- 8.7 शशु जन्म का संस्थानीकरण
- 8.8 स्त्री अधिकारवाद के मुख्य मुद्दे
- 8.9 भारत में संस्थानीकरण
- 8.10 चिकित्सा विज्ञान की प्रकृति: पूंजीवादी या पुरुषवादी
- 8.11 सारांश
- 8.12 अभ्यास प्रश्न
- 8.13 सहायक अध्ययन

8.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के जरिये हम स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य को विस्तार से समझ सकेंगे।

8.2 परिचय (Introduction)

स्त्री अधिकारवाद अथवा नारीवाद एवं स्वास्थ्य को समझने के लिये स्त्री अधिकारवाद को समझना और इसके विकास को जानना आवश्यक है। संक्षेप में देखें तो स्त्री अधिकारवाद अथवा नारीवाद वह सिद्धान्त है, जिसमें पुरुषों-महिलाओं को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से समान अधिकार पर जोर दिया जाता है। 19वीं सदी में इन सिद्धान्तों का विकास हुआ, जब महिलाओं के अधिकार और लैंगिक समानता के मुद्दों पर लोगों ने विचार प्रारंभ किया। 20वीं सदी में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण के आधार पर नारीवादी दर्शन को पुनः आकार दिया गया, जिसका लक्ष्य पुरुषवादी एकाधिकार और प्रभुत्व को चुनौती देना था। स्त्री अधिकारवादी सिद्धान्त लैंगिक असमानताओं के विभिन्न कारणों को स्पष्ट करन और इन्हें समझने का प्रयास करता है। 1960 में स्त्री अधिकारवादियों ने अमेरिका में लैंगिक भेदभाव (विशेषकर नौकरियों, रोजगार में) के विरुद्ध संघर्ष में कानूनी लड़ाई का सहारा लिया। अमेरिका में शुरुआत के बाद इसका विस्तार ब्रिटेन में हुआ और यहां से यह विचार अन्य देशों तक पहुंचा। वर्ष 1975 में संयुक्त राष्ट्र ने मेक्सिको सिटी में पहले महिला सम्मेलन का आयोजन किया। स्त्री अधिकारवाद का विकास तीन चरणों में माना जाता है, जो निम्नवत हैं:

- पहला चरण 19वीं सदी में प्रारंभ हुआ और 20वीं सदी की शुरुआत तक चला, जिसमें महिलाओं को मताधिकार दिलाने के लिये कानूनी संघर्ष किया गया

- दूसरा चरण 1960 से लेकर 1980 तक चला, इस चरण में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि क्षेत्रों में महिलाओं को समानता का अधिकार दिलाने पर ध्यान केन्द्रित किया गया
- 1990 में तीसरा चरण प्रारंभ हुआ और इसमें उन बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया, जिनका लक्ष्य दूसरे चरण में पूरा नहीं हो सका था

स्त्री अधिकारवाद के प्रकार: स्त्री अधिकारवाद के विभिन्न प्रकार हैं। इनमें उदारवादी दृष्टिकोण (Liberal Feminism), उग्र या आमूल परिवर्तनवादी दृष्टिकोण (Radical Feminism), मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Marxist Feminism), समाजवादी विचार (Socialist Feminism) और उत्तर संरचनावाद स्त्री अधिकारवाद (Post-Structuralism Feminism) शामिल हैं।

8.3 स्त्री अधिकारवाद के कार्य एवं लक्ष्य (Tasks of Feminism)

स्त्री अधिकारवाद का वृहद एवं प्रमुख लक्ष्य तथा कार्य उन सामाजिक प्रक्रियाओं पर सवाल खड़े करना है, जो महिलाओं को दोयम बनाने का प्रयास करती हैं और महिलाओं के साथ भेदभाव को बढ़ावा देती हैं। स्त्री अधिकारवादियों का बुनियादी तर्क यह है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था पुरुषों को ही आगे बढ़ाने पर जोर देती है, जबकि महिलाओं को अभाव, बीमारी की स्थिति में छोड़ दिया जाता है। महिलाओं को नियंत्रण और सांस्थानिक अधिकार भी उपलब्ध नहीं होते हैं। लैंगिक भेद महिलाओं और पुरुषों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक अंतर का कारण बनता है। किसी क्षेत्र या संस्कृति में महिलाओं और पुरुषों की भूमिकाओं और दायित्वों का अंतर सामाजिक संरचना और व्यवस्था के जरिये निर्धारित कर दिया जाता है। लैंगिक भूमिकाएं और अपेक्षाएं पीढ़ी दर पीढ़ी इसी तरह आगे बढ़ती हैं। दीर्घकालिक प्रक्रिया में इनमें कुछ अंतर आ सकता है, लेकिन अलग-अलग संस्कृतियों में यह अलग हो सकता है।

8.4 स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य (Feminism and Health)

स्त्री अधिकारवादी दृष्टिकोण यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि महिलाओं के स्वास्थ्य से जुड़े मसले भी सामाजिक ढांचे से तय होते हैं, न कि महिलाओं की शारीरिक और जैविक आवश्यकताओं से। हालांकि, स्वास्थ्य पर पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रभाव को विभिन्न स्त्री अधिकारवादी दृष्टिकोण अलग-अलग विचार रखते हैं। उदाहरणतः उग्र (आमूल परिवर्तनवादी) दृष्टिकोण महिलाओं की प्रजनन भूमिका पर पुरुषों के नियंत्रण को पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उत्पीड़नात्मक कदम करार देता है। दूसरे चरण के स्त्री अधिकारवादी लेखन में स्पष्ट किया गया है कि महिलाओं के सामाजिक अनुभव (स्वास्थ्य संबंधी मसले भी शामिल) पितृसत्तात्मक संस्थानों द्वारा ही संचालित और नियंत्रित होते हैं, जिनका परिणाम अकसर उत्पीड़नात्मक होता है। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि हम महिलाओं-पुरुषों की पूर्वनिर्धारित भूमिकाओं के जिस सामाजिक ढांचे में व्यवस्थित हैं, वह स्वास्थ्य पर निश्चित रूप से असर डालता है। इसका कारण यह है कि विभिन्न संस्कृतियों में महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले दोयम माना जाता रहा है। जेजीबॉय (2004) तर्क देते हैं कि लैंगिक पदानुक्रम संबंध और लैंगिक असमानता की रीतियां-नियम महिलाओं के स्वास्थ्य पर असर डालते हैं। इसका प्रभाव महिलाओं की प्रजनन संबंधी रुचियों पर तो होता ही है, यह सुविधाएं और सेवाएं हासिल करने में भी बड़ी बाधा बने नजर आते हैं। कुपोषण, आर्थिक विषमताओं, कम आयु में विवाह, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच का अभाव और असमान शैक्षिक अवसरों जैसे पहलू सामाजिक ढांचे में छिपे रहते हैं। निर्णय क्षमता में महिलाओं की शक्तियां बेहद सीमित होती हैं, साथ

ही अभिरुचियों, गतिशीलता और संसाधनों तक पहुंच में भी खासी बाधाएं महिलाओं के लिये रहती हैं (ed.Jeebhoy 2004).

सुजाता (2014) बताती हैं, जिस दौर में मार्क्सवादी दृष्टिकोण वर्ग (Class) की अवधारणा पर ही सोच रहा था, स्त्री अधिकारवादियों ने समाजवादी सिद्धान्तों को लैंगिक भेद की दिशा में मोड़ा। स्त्री अधिकारवादी तीन प्रमुख लैंगिक पहलुओं पर विचार करते हैं, ये निम्नवत हैं:

- स्वास्थ्य सेवाओं और स्वास्थ्य संबंधी जानकारी तक पहुंच (समानता की स्थिति)
- उपचार और इसके प्रभाव (उपचार की उपलब्धता और तकनीकी दक्षता जो लोगों के जीवन को विशेषज्ञता के साथ नियंत्रित करती हो)
- चिकित्सा विज्ञान की प्रकृति का परीक्षण और प्रश्न (यह स्पष्ट करना कि यह पूंजीवादी है अथवा पुरुषवादी)

8.5 प्रजनन का चिकित्सकीयकरण (Medicalization of Reproduction)

कॉनरेड (2007) बताते हैं कि चिकित्सकीयकरण या स्वास्थ्यीकरण वह प्रक्रिया है जिससे सामाजिक समस्याओं को स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, चिकित्सकीयकरण शब्द तब सामने आता है, जब किसी समस्या को स्वास्थ्य संबंधी परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। अर्थात् उस समस्या को स्वास्थ्य संबंधी शब्दों से व्यक्त किया जाये और स्वास्थ्य कार्यवाहियों से ही उसे बेहतर समझ पाना संभव हो या उसके निदान के लिये स्वास्थ्य संबंधी प्रक्रियाएं आवश्यक हों। चिकित्सकीयकरण की प्रक्रिया में स्वास्थ्य अधिकरण दैनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नियंत्रण स्थापित करते हैं। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि स्वास्थ्यीकरण सामाजिक नियंत्रण का एक तरीका है। उनके अनुसार दवाएं और स्वास्थ्य साधनों के सामाजिक अनुभव स्पष्ट करते हैं कि वे तब शक्तिहीन हो जाते हैं, जब उन्हें लागू करने वाले चेहरे (यानी डॉक्टर और अन्य स्वास्थ्य सेवा प्रदाता) पुरुष होते हैं। सदगोपाल (2012) बताते हैं कि महिलाओं की स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दे विशेषकर प्रजनन, महिलाओं के नारीत्व के प्रतीक बने दिखते हैं, इसलिये उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं में उपचार की जरूरत महसूस होती है। महिलाओं के जीवन के विभिन्न चरण, मासिकधर्म, गर्भावस्था और रजोनिवृत्ति जो कभी दाइयों अथवा महिला रिश्तेदारों तक ही सीमित थीं, लेकिन बदलते समय के साथ इनमें भी चिकित्सा सुविधाओं का प्रवेश हुआ है।

जैसाकि हम पहले जान चुके हैं कि स्त्री अधिकारवाद का विकास तीन चरणों में हुआ। इस हिस्से में हम उन पहलुओं पर चर्चा करेंगे, जिनमें चिकित्सकीयकरण, महिलाओं की शारीरिक स्थितियों और प्रजनन जैसे विषयों पर स्वास्थ्य सेवाओं के नियंत्रण पर विमर्श हुआ है। हम जानेंगे कि प्रारंभ में सिर्फ दाइयों के साथ काम कर रहे समाजविज्ञानियों ने किस तरह अपने लक्ष्य बदले और महिला अधिकारों को लेकर सार्वजनिक बहसों की शुरुआत की। इसके साथ ही गर्भनिरोधक और गर्भपात जैसे अहम विषयों को लेकर भी उन्होंने आवाज उठायी। हम यह भी देखेंगे कि किस तरह उन्होंने वैज्ञानिकता की प्रभावोत्पादकता पर सवाल उठाये और अंत में हम यह जानेंगे कि बच्चे को जन्म देने की प्रक्रिया में दवाओं के कारण चिकित्साजनित प्रभावों पर क्या सवाल उठाये गये। स्त्री अधिकारवादियों ने तर्क दिये हैं कि बाल्यकाल से ही शारीरिक स्वास्थ्यीकरण एवं प्रजनन की शारीरिक स्थिति महिलाओं के शारीरिक उत्पीड़न एवं पारंपरिक यौन भूमिका की वजह बनती हैं। प्रारंभ में वर्ष 1974 में समाजविज्ञानियों ने दाइयों के साथ मिलकर शिशु जन्म प्रक्रिया के प्रबंधन की दिशा में प्रयास किये। इस दौरान अवधारणा के विभिन्न परिणामों के सामाजिक प्रभावों पर विशिष्ट ध्यान दिया गया। उन्होंने विभिन्न सामाजिक समुदायों में गर्भावस्था का अध्ययन किया, ताकि प्रजनन

क्षमता का तुलनात्मक विश्लेषण किया जा सके। उन्होंने यह भी अध्ययन किया कि विभिन्न समुदायों में प्रसवकालीन मृत्युदर, शिशुओं का कम वजन, गर्भावस्था के दौरान आने वाली परेशानियां क्या हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि निम्न सामाजिक वर्गों में गर्भावस्था के दौरान सुविधाओं और सेवाओं का अभाव है। इससे यह परिणाम निकाला गया कि गर्भवती महिलाओं के लिये और अधिक सुविधाएं प्रदान करने की आवश्यकता है, साथ ही गर्भवती महिलाओं को भी इन सेवाओं और सुविधाओं के प्रति जागरूक किया जाना जरूरी है।

8.6 जन्म नियंत्रण एवं गर्भपात प्रावधानों पर तर्क-वितर्क (Debates regarding provision of Birth Control and Abortion)

60 के दशक में जन्म नियंत्रण एवं गर्भपात के नियमों को लेकर बहस प्रारंभ हुयी, जिसे संसद में पारित प्रावधानों ने तेज किया। लेकिन, दाइयां और कुछ अन्य राजनीतिक समूह इन्हें लागू करने के पक्षधर नहीं थे, बल्कि वे चाहते थे कि जन्म की प्रक्रिया को सांस्थानिक स्वरूप दे दिया जाये। पूर्व में दाइयों और स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं के साथ काम कर चुके समाजशास्त्रियों ने इन मुद्दों पर सार्वजनिक बहस छेड़ी और अनचाहे, निरुद्देश्य गर्भधारण और इससे जुड़ी समस्याओं, अंतर्संबंधों की ओर ध्यानी खींचा। चूंकि अधिकतर समाजशास्त्रियों ने उदारवादी रुख अपनाया, उनका संबंध और समन्वय विभिन्न गर्भपात नियम सुधार संगठन (Abortion Law Reform Association) जैसे दबाव समूहों से हुआ, जिसने बाद में महिलाओं के बड़े आंदोलन का स्वरूप लिया। इसके साथ ही वे चिकित्सा व्यवसाय के कुछ क्षेत्रों के भी विरोधी बनकर उभरे।

8.7 शिशु जन्म का संस्थानीकरण (Institutionalization of Reproduction)

उपरोक्त मसले उठने के बाद समाजशास्त्रियों ने चिकित्सकीय रूढ़िवादिता के कुछ पहलुओं पर भी सवाल खड़े किये। 60 के दशक में दाइयों के काम में केन्द्रीकरण को बढ़ावा, विशेषज्ञ नियंत्रण का रुझान बढ़ गया था। इसके चलते अस्पतालों में प्रसव होने लगे, इसके साथ ही ऑपरेशन और उपकरणों की मदद से प्रसव की दर भी बढ़ी। अल्ट्रासोनिक स्कैन, गर्भस्थ शिशु की धड़कन मापने, एनेस्थेसिया, प्रसव पीड़ा को तेज करना आदि नयी तकनीकों का भी इस्तेमाल किया जाने लगा। समाजशास्त्रियों ने पाया कि निस्संदेह उस दौर में प्रसवकालीन मृत्युदर में खासी गिरावट दर्ज की गयी। उदाहरण के लिये ब्रिटेन में 1966 में यह दर प्रति हजार 26.6 थी, जो 1977 तक 17.1 रह गयी। लेकिन 1974 में इन परिवर्तनों को लेकर जोरदार बहस शुरू हुयी। कृत्रिम प्रसवपीड़ा को लेकर सवाल उठाये गये, कहा गया कि यह माताओं और नवजात शिशुओं में कई चिकित्साजनित समस्याओं का कारण बन रहा है और महिलाओं के लिये इसके परिणाम बेहद गंभीर थे। यह भी सवाल उठाया गया कि अकसर इस तरह के साधनों का इस्तेमाल महिलाओं के बजाय प्रसव करवाने वाले कर्मचारियों की सुविधा के लिये किया जाता था। गिरिजा (2013) के शोध के अनुसार भगछेदन (Episiotomy) वर्षों से प्रचलन में रहा है, जबकि महिलाओं को इसका अधिक लाभ नहीं होता है। यह स्वास्थ्य प्रक्रिया का एक ऐसा उदाहरण है जिससे प्रसवपीड़ा से गुजरने वाली हर महिला को गुजरना ही होता है, जबकि किसी भी मामले में इससे कोई विशेष सुविधा उजागर नहीं होती। अपनी पुस्तक में गिरिजा बताती हैं कि वर्ष 1993 तक पश्चिमी चिकित्सा से जुड़ी लगभग हर पुस्तक में प्रथमप्रसवा (Primiparous) यानी पहली बार शिशु को जन्म देने जा रही महिला, के लिये इस प्रक्रिया को नियमित प्रक्रिया बताया गया है। लेकिन बाद के संस्करणों में Williams Obstetrics जैसी पुस्तकों में इस तरह की प्रक्रियाओं को नियमित (यानी हर महिला पर उपयोगी) नहीं बताया गया है। भगछेदन दरअसल शल्य (Surgical) प्रक्रिया है, जिसके तहत महिला के संवेदनशील अंग

की त्वचा को इस तरह काट दिया जाता है कि शिशु को गर्भ से निकलने में आसानी हो सके (Gupta 2017). 1975 से इस विषय और अन्य सभी मुद्दों को शामिल करने के साथ बहस और तेज हुयी, जिसमें स्वास्थ्य के केन्द्रीकरण, हस्तक्षेपी स्वास्थ्य विशेषज्ञों, शिशु जन्म के प्रबंधन आदि पर चर्चा बढ़ी। इस दौरान जो प्रमुख विषय स्त्री अधिकारवादियों द्वारा उठाये गये, वे थे:

- गर्भवती और प्रसवा महिलाओं पर इस्तेमाल की जाने वाली चिकित्सकीय प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक आधार और सिद्धता क्या हैं?
- ये सभी तकनीकें और प्रक्रियाएं कितनी प्रभावी हैं?
- इन प्रक्रियाओं के प्रभाव का निर्धारण और निर्णय कौन करेगा? महिलाओं का अनुभव अथवा पुरुष चिकित्सक?
- महिलाओं के शरीर पर इस तरह की जाने वाली चिकित्सकीय घुसपैठ और सघन हस्तक्षेप के चिकित्साजनित प्रभाव क्या हैं?

महिलाओं के आंदोलन समूहों ने भी गर्भावस्था के दौरान देखभाल में मानवीय संबंध, सामान्य और विशेष मामलों में शिशु जन्म के लिये प्रबंधन को लेकर जिम्मेदारियों के निर्धारण जैसे सवाल उठाये। इसके जरिये प्रसूति विशेषज्ञों पर यह सवाल खड़े किये गये कि वे महिलाओं की व्यक्तिगत अवस्था या जरूरतों को समझने के बजाय सीधे एक ही तरह की चिकित्सकीय प्रक्रियाएं सभी पर लागू कर रहे हैं, नयी तकनीकों का, बिना यह मूल्यांकन किये कि उनका चिकित्सकीय प्रभाव क्या होने वाला है अथवा उनके मनोवैज्ञानिक-सामाजिक असर क्या हो सकते हैं, बिना सोचे-समझे उपयोग किया जा रहा है। इसके साथ ही यह भी सवाल खड़ा किया गया कि पूरी प्रक्रिया में महिलाओं को न तो चयन का अवसर दिया जाता है, न ही उन्हें पर्याप्त सूचनाएं और जानकारीयां उपलब्ध करायी जाती हैं। जैसाकि हम पहले जान चुके हैं कि स्त्री अधिकारवादी आंदोलनों की शुरुआत सबसे पहले अमेरिका में हुयी थी, जहां से यह विचार ब्रिटेन तक पहुंचा। समय के साथ अन्य देशों में भी इस दिशा में जागरूकता बढ़ी और भारत में भी राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीतियों में प्रसव, गर्भावस्था और शिशु स्वास्थ्य के मुद्दे शामिल किये गये।

8.8 भारत में संस्थानीकरण से जुड़े मुद्दे (Institutionalization in India: issues and Concerns)

भारत हमेशा से ही अधिक जनसंख्या वाले देशों में से एक रहा है। वर्ष 1952 में परिवार स्वास्थ्य से जुड़ा पहला कार्यक्रम भारत सरकार द्वारा प्रारंभ किया गया, जिसे राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम (National Family Planning Programme) नाम दिया गया, जिसकी प्रमुख चिंता उच्च जन्मदर और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में सुधार था। मौजूदा शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रम का पहला चरण 1997 में प्रारंभ हुआ, जिसका मुख्य लक्ष्य जन्मदर को कम करना और मातृ-शिशु मृत्युदर में गिरावट था। दूसरे चरण (वर्ष 2005 से) में भी लक्ष्य लगभग यही थे, लेकिन तरीका इसलिये बदल गया था, क्योंकि कई राज्यों में जन्मदर में खासी गिरावट आ चुकी थी और अन्य गर्भावस्था व शिशु जन्म स्वास्थ्य से जुड़े विषयों पर अच्छा काम हो चुका था। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे-4 (NFHS-4) के आंकड़े बताते हैं कि बीते पांच साल में ग्रामीण इलाकों में सांस्थानिक शिशु जन्म के आंकड़े 29 प्रतिशत से बढ़कर 72 प्रतिशत तक हो चुके हैं। शहरी क्षेत्रों में भी शिशुओं के अस्पताल में जन्म लेने की दर बढ़ी है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे-3 के अनुसार शहरी क्षेत्रों में यह प्रतिशतता 68 प्रतिशत थी, जो सर्वे-4 तक आते-आते 89 प्रतिशत हो गयी। इतना ही नहीं, सर्वे-4 के अनुसार सरकारी अस्पतालों में जन्म लेने वाले बच्चों का प्रतिशत 52 फीसदी हो चुका है, जबकि सर्वे-3 में यह प्रतिशतता महज 18 थी। घरों में ही प्रशिक्षित दाइयों के जरिये प्रसव करवाने की रीति में

गिरावट देखी गयी। सर्वे-3 में यह कुल प्रसव का 8.2 प्रतिशत थी, जो सर्वे-4 में 4.3 रह गयी। अपने शोध में गुप्ता तर्क देते हैं कि यद्यपि सर्वे-4 के आंकड़े सुधार की ओर इशारा करते हैं, लेकिन इस अध्ययन की भी जरूरत है कि हालांकि सांस्थानिक प्रसव यानी अस्पतालों में प्रसव के आंकड़ों से मातृमृत्यु दर में गिरावट आयी है, लेकिन संस्थानीकरण के सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था पर अलग प्रभाव भी पड़ते हैं। इसकी मुख्य वजह कुशल और प्रशिक्षित कर्मचारियों, बेहतर सुविधाओं, स्थान और दवाओं का अभाव है। (Gupta 2017).

8.9 संस्थानीकरण और इसका प्रभाव (Institutionalization and Its Impact)

विभिन्न शोधकर्ताओं ने स्पष्ट किया है कि किस तरह संस्थानीकरण और चिकित्सीकरण महिलाओं के स्वास्थ्य के लिये नुकसानदेह हो सकता है और किस तरह इन प्रक्रियाओं की वजह से चिकित्साजनित प्रभाव सामने आते हैं। गिरिजा (2013) बताती हैं कि प्रसव से गुजरने वाली हर महिला के लिये भगच्छेदन (Episiotomy) को नियमित मान लिया जाना किसी विशेष मामले में बेहद खतरनाक हो सकता है। गिरिजा मानती हैं कि भारत जैसे देश में इसका इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिये, जहां अधिकतर महिलाएं एनीमिक (Anemic: खून की कमी) हैं और इस प्रक्रिया का इस्तेमाल उन पर किये जाने से अत्यधिक रक्तस्राव तथा संक्रमण शिशु जन्म के दौरान माता की मृत्यु का कारण बन सकता है। इसी तरह महिलाओं को अस्पताल स्टाफ द्वारा दिये जाने वाले ऑक्सीटोसिन (Oxytocin: वह हार्मोन, जिसे इंजेक्शन के जरिये अकसर प्रसवपीड़ा को कम करने, गर्भाशय को खोलने के लिये ताकि शिशु आसानी से बाहर आ सके और शिशु जन्म के बाद स्तनपान में मदद के लिये दिया जाता है) के इस्तेमाल की भी निगरानी और इसके प्रभावों का अध्ययन जरूरी है। (Sadgopal, 2009)

राजस्थान में हुये कई अध्ययनों में साफ हुआ कि चिकित्सकीय उपेक्षा, एक्सपायर हो चुकी दवाओं के इस्तेमाल से वहां कई महिलाओं की मौत हुयीं। गंदे शल्य उपकरणों के इस्तेमाल के कारण संक्रमण भी इसकी बड़ी वजह थी। इनके अलावा ऊष्मानियंत्रक मशीनों (Incubator) में रखे जाने वाले नवजात शिशुओं की भी मौत सामने आयीं। इसकी वजह अचानक बिजली चले जाने के कारण मशीनों का काम करना बंद करना अथवा कई बार ओवरलोड होने से मशीनों में आग लग जाना भी रही। इस सन्दर्भ में भी मृत्युदर की जांच आवश्यक है। एक अन्य पहलू यह है कि शिशु जन्म की सांस्थानिक व्यवस्था में महिला के गर्भवती होने के साथ ही उसे दवाएं देना प्रारंभ कर दिया जाता है। इनमें फोलिक एसिड, कैल्शियम, विटामिन सप्लीमेंट आदि शामिल होते हैं। सुजाता (2014) बताती हैं कि भारत में भी कुछ यही व्यवस्था चलती है, जबकि यहां यह ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि जिन निर्धन वर्ग की महिलाओं को ये दवाएं दी जा रही हैं, उनमें से अधिकतर के पास बेहतर भोजन भी उपलब्ध नहीं हो पाता। ऐसे में कई बार बिना पर्याप्त भोजन के अथवा खाली पेट ही सेवन कर लिये जाने पर सिंथेटिक विटामिन और अन्य दवाएं महिलाओं के शरीर में घातक रिएक्शन की वजह बनती हैं। यह इस बात का उदाहरण है कि किस तरह कोई सामाजिक समस्या स्वास्थ्य समस्या बन जाती है। यहां हमारे मन में यह सवाल उठ सकता है कि क्या ये लेखक और शोधकर्ता संस्थानीकरण और सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था में फोलिक एसिड-विटामिन जैसी दवाओं के वितरण के विरोध में हैं? स्पष्टतः इसका जवाब ना है। वस्तुतः ये लेखक वृहद सामाजिक सन्दर्भ में स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को उभारते हैं और उनका तर्क यह है कि मौजूदा स्वास्थ्य मॉडल में चिकित्सीकरण प्रक्रिया में सांस्कृतिक और सामाजिक प्रभावों का की अनदेखी की जाती है।

8.10 चिकित्सा विज्ञान की प्रकृति: पूंजीवादी अथवा पुरुषवादी (Nature of Medical Science: Capitalist or Masculinist)

अब तक हम जान चुके हैं कि ब्रिटेन और अन्य देशों में चिकित्सा विशेषज्ञों ने शिशु जन्म को चिकित्सकीय प्रक्रिया से जोड़ा, जिसके महिलाओं के शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को लेकर लंबी बहस भी चली। यह स्त्री अधिकारवादियों की अवधारणा का एक पहलू था, अब हम जानेंगे कि स्त्री अधिकारवादी समूहों ने बाद के वर्षों में दवाओं के सामाजिक प्रभावों पर भी चिंता जतायी। पार्सन (Parsons) ने सबसे पहले अपने निबंध सिक रोल (Sick Role) में दवाओं को सामाजिक नियंत्रण के एक कारक के तौर पर स्पष्ट किया। पार्सन के अनुसार आधुनिक चिकित्साविज्ञान में समाज के सफल संचालन के लिये सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है, लेकिन स्त्री अधिकारवादी पार्सन के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि दवाओं की सीमाएं लगातार खिंच रही हैं, जिससे ये खर्चीली होती जा रही हैं। इसके अलावा पितृसत्तात्मक कारकों की वजह से चिकित्सकीयकरण प्रक्रियाओं में बढ़ोतरी के कारण महिलाओं के जीवन पर सामाजिक नियंत्रण भी बढ़ रहा है। चिकित्सकीय सामाजिक नियंत्रण को कई तरीकों से अवधारित किया गया है, लेकिन स्त्री अधिकारवादियों ने इसके गर्भवती महिलाओं और शिशु जन्म की प्रक्रिया के पहलू पर ही अधिक चिंता जतायी है। इस विषय में हम पहले ही जान चुके हैं कि चिकित्सा विशेषज्ञ किस तरह शिशु जन्म की प्रक्रिया को अपने हिसाब से नियंत्रित करते हैं और अस्पतालों में शिशु जन्म के संस्थानीकरण की वजह से किस तरह की चिकित्साजनित समस्याएं उभरती हैं। स्त्री अधिकारवादियों में महिलाओं के प्रजनन स्वास्थ्य के चिकित्सकीयकरण को लेकर जो प्रमुख विचार आते हैं, वे निम्नवत हैं:

दवाओं-उपचार में पुरुषवाद (Medicines as Malestream)

पश्चिमी स्त्री अधिकारवादियों ने दवाओं और उपचार को मुख्यधारा (Mainstream) के बजाय पुरुषवादीधारा (Malestream) कहा है। इसका कारण यह है कि महिलाओं के शरीर पर पुरुष चिकित्सक नियंत्रण रखते हैं, जिसका एक उदाहरण नयी प्रसव तकनीकों का इस्तेमाल है। स्त्री अधिकारवादियों ने हमेशा इस बात पर जोर दिया है कि अपने शरीर पर महिला का ही अधिकार होना चाहिये और तर्क दिया है कि नयी तकनीकों में यह खतरा बना रहता है कि पुरुष चिकित्सक महिला के शरीर को अपने अनुसार नियंत्रित कर सकते हैं। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि चिकित्सकीय तकनीक के जरिये महिलाओं पर नियंत्रण मातृत्व (Motherhood) की अवधारणा को लागू करते हैं जो पितृसत्तात्मक और पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़ी है और इस पूरी प्रक्रिया का एक हिस्सा दवाएं और उपचार भी हैं जो नयी स्वास्थ्य तकनीकों में मददगार बनती हैं। हालांकि, स्त्री अधिकारवादियों में इस बिन्दु पर अलग-अलग विचार भी सामने आते हैं। कुछ इन तकनीकों का समर्थन करते हैं तो कुछ विरोध। उग्र या आमूल परिवर्तनवादी (Radical) स्त्री अधिकारवादी मानते हैं कि महिलाओं की प्रजनन क्षमता पर पुरुषों का नियंत्रण पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उत्पीड़नात्मक कदम है। लेकिन कुछ ने नयी तकनीकों का यह कहकर समर्थन किया है, 'कृत्रिम साधनों का विकास एक तरह से पितृसत्तात्मक व्यवस्था को खत्म करने का प्रयास है, जिसके जरिये महिलाओं को प्रजनन के बोझ से स्वतंत्र कर पाना संभव हुआ है।' दूसरी ओर, विरोधी तर्क देते हैं, 'महिलाएं ही जन्म देने का माध्यम हैं, यह तथ्य उस शक्ति का स्रोत बनना चाहिये जिसका नियंत्रण महिलाओं के ही हाथों में हो।' वह कहते हैं कि जैविक अभिभावक होना समस्या की वजह नहीं है, बल्कि मातृत्व है, क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने इसे अपने तरीके से सांस्थानिक स्वरूप दे दिया है। हालिया आमूल परिवर्तनवादी स्त्री अधिकारवादी लेखकों का मानना है कि प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी नयी तकनीकों का विस्तार इस अवधारणा को मजबूत करता है कि इनके इस्तेमाल की बुनियादी सोच महिलाओं की रुचियों अथवा जरूरतों को पूरा करने की नहीं है।

पूंजीवाद, पितृसत्ता और उपचार (Capitalism, Patriarchy and Medicines)

मार्क्सवादी स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि पूंजीवाद, पितृसत्ता और दवा-उपचार एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। उनका मानना है कि चिकित्सा विशेषज्ञ महिलाओं के नियंत्रण की अवधारणा को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। महिलाओं की घरेलू भूमिका को प्रकृतिप्रदत्त तथ्य बनाकर उनकी मातृत्व एवं पोषण की भूमिकाओं को बांध दिया जाता है। इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था का स्वरूप सामने आता है कि महिलाओं को अगली पीढ़ी के पोषण और विकास के श्रमसाध्य काम का जिम्मा बेहद कम मूल्य अथवा नगण्य मूल्य पर सौंप दिया जाता है। मार्क्सवादी स्त्री अधिकारवादियों ने उन तरीकों की पहचान की है, जिनके जरिये पितृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं को समाज में दोगम स्थान दे दिया जाता है और वे पाते हैं कि इन प्रक्रियाओं में स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान अहम भूमिका निभाते हैं, जिनके जरिये महिलाओं को शिशु की देखभाल और गृहिणी बने रहने पर जोर दिया जाता है। उनका तर्क है कि सामयिक पूंजीवाद में नयी तकनीकें विशेषतः कृत्रिम गर्भाधान (In-vitro Fertilization: IVF) महिलाओं के स्वास्थ्य, उनकी यौन और प्रजनन क्षमता और आवश्यकताओं पर पुरुषों के नियंत्रण का प्रयास हैं। यद्यपि कृत्रिम गर्भाधान को निःसंतानता के उपचार के तौर पर देखा जाता है, लेकिन तकनीक के इस्तेमाल पर जोर प्रजनन क्षमता के नियंत्रण का तरीका है।

नयी प्रजनन तकनीकों पर विचार (Different Takes on New reproductive Technologies)

समर्थन (Favour)	विरोध (Against)
आधुनिक उपचार में जांच और इलाज की ऐसी कई नयी तकनीकों का विकास किया है, जिनसे जीवन पर खतरा बनने वाली कई परिस्थितियों से निपटना संभव हुआ है।	प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी क्षेत्र में नयी तकनीकों का विकास चिकित्सकीय उपचार के बजाय अधिक तकनीकी और हस्तक्षेपी महसूस होता है
इन तकनीकों की मदद से ऐसी महिलाओं को भी मां बनने का सुख प्रदान किया जाना संभव हो सका है, जो गर्भधारण कर पाने में अक्षम हैं	इन तकनीकों की मदद से भले ही सामाजिक तौर पर गर्भधारण में अक्षम महिला को मातृत्व का दर्जा दिलाया जा सकता है, लेकिन इनमें महिलाओं की स्वायत्तता को विभिन्न तरीकों से नियंत्रित किया जाता है और इससे बच्चे की आस में महिलाओं के उत्पीड़न का जोखिम भी बढ़ जाता है

स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य क्षेत्र (Feminism and Healthcare sector)

स्त्री अधिकारवादी मानते हैं कि अधिकतर स्वास्थ्य देखभाल संबंधी अधिकतर संगठन और संस्थान ऐसी पदानुक्रम व्यवस्था (Hierarchical System) में चलते हैं, जिनमें डॉक्टर (अधिकतर पुरुष) सबसे उच्चक्रम पर होते हैं और नर्स (अधिकतर महिलाएं) निचले क्रम पर होती हैं। इस तरह इन संस्थानों में रोजगार भी लैंगिक आधार पर तय होते हैं, जिनमें पुरुष ही अधिकतर डॉक्टर होते हैं और अधिकतर नर्स महिलाएं ही होती हैं। हालांकि, विभिन्न कार्यक्षेत्रों में महिलाएं अहम भूमिका का निर्वहन करती हैं, लेकिन स्वास्थ्य देखभाल संबंधी क्षेत्र में प्रबंधन और निर्णय क्षमता वाले पदों में महिलाओं का बेहद कमजोर प्रतिनिधित्व होता है, जिसका स्वास्थ्य सेवाओं और मरीजों की सुरक्षा पर असर पड़ सकता है। सुजाता (2014) बताती हैं कि अमेरिका में 90 प्रतिशत फिजीशियन (Physicians) पुरुष हैं, जबकि महिलाओं को नर्सिंग और स्वास्थ्य क्षेत्र की अन्य सेवाओं में ही भूमिका मिलती है। स्टेसी (1995) बताती हैं कि ब्रिटेन में पहले शिशु जन्म और प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी कार्य दाइयों के जिम्मे थे। दाइयां व्यक्तिगत अनुभव और पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली

जानकारियां रखती थीं और अपने कौशल व पारंपरिक तरीकों की मदद से दूसरी महिलाओं को गर्भधारण से लेकर शिशु जन्म तक आने वाली समस्याओं का समाधान करती थीं, लेकिन समय के साथ पुरुष चिकित्सकों ने इनका स्थान लेकर इस पूरी प्रक्रिया का नियंत्रण हासिल कर लिया और ऐसा करने के लिये उन्होंने दाइयों को खतरनाक तक सिद्ध किया। स्टेसी तर्क देती हैं कि यह दरअसल पुरुषवादी धारा का राजनीतिक कदम था, जिससे वे दाइयों का स्थान ले सकें और महिलाओं की प्रजनन क्षमता को नियंत्रित कर सकें। भारत में भी ब्रिटिश शासनकाल में दाइयों को विशेष प्रशिक्षण देने की शुरुआत हुयी, जिसका लक्ष्य मातृ मृत्युदर को कम करना और प्रसव के दौरान स्वच्छता (Hygiene) का ख्याल रखने को बढ़ावा देना था। दाइयों को बेहद खतरनाक बताकर प्रचारित किया गया। अपने लेख में सदगोपाल बताती हैं कि दाइयां महिला स्वास्थ्य व्यवस्था की महत्वपूर्ण कड़ी हैं। भारत और दक्षिण एशिया में दाइयों को महिलाओं के प्रसव करवाने और शिशुओं की देखभाल का ज्ञान है। भारत के सभी हिस्सों में दाइयां अपनी सेवाएं देती रही थीं और इन्हें अलग-अलग नामों से जाना जाता था। इनके लिये दाई शब्द का इस्तेमाल उत्तर भारत में आमतौर पर किया जाता थे। वह बताती हैं कि दाइयों का कार्य श्रम और जाति आधारित पदानुक्रम पर आधारित था। उदाहरण के लिये दलितों को प्रसवोत्तर सेवाएं प्रदान करने का जिम्मा दिया जाता था, लेकिन भारत में दवाओं के आगमन के साथ दाइयों की भूमिका उपेक्षित होती चली गयी। इस प्रक्रिया में दाइयों पर सुरक्षा मानकों को लेकर सवाल भी उठाये गये।

भारत में मातृ मृत्युदर को घटाने और अस्पतालों में प्रसव को बढ़ावा देने के प्रयास किये गये, जिसके चलते दाइयों के काम और उनकी भूमिका पर प्रश्नचिह्न खड़े हो गये, जो पहले घरों में ही प्रसव करवाने का काम करती थीं और विशेषकर ग्रामीण भारत में सांस्थानिक प्रसव का जरिया थीं। मौजूदा दौर में उनकी भूमिका बेहद सीमित कर दी गयी हैं और अब वे मात्र गर्भवती महिलाओं को अस्पतालों तक पहुंचाने का एक जरिया बनकर रह गयीं अथवा अस्पताल में गर्भवती महिलाओं के साथ रहने और प्रसव के बाद नवजात शिशुओं की देखभाल ही उनका काम रह गया है। उन्हें विभिन्न योजनाओं-कार्यक्रमों के जरिये शिक्षा और प्रशिक्षण देकर पारंपरिक जन्म सहायक (Traditional Birth Assistant) का दर्जा दिया गया है। इसके चलते घरों में ही प्रसव करवाने की दाइयों की पारंपरिक भूमिका पूरी तरह हाशिये पर चली गयी है और अब वे महज ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिरक्षण (Immunization), परिवार नियोजन, क्षयरोग और एचआईवी-एड्स नियंत्रण व जागरूकता कार्यक्रमों का एक माध्यम रह गयी हैं। लेकिन यहां यह पहलू भी अहम है कि गांवों में आज भी स्वास्थ्य शिक्षा के लिये दाइयां ही सबसे विश्वसनीय स्रोत मानी जाती हैं।

8.11 सारांश (Sum Up)

हम पहले यह जान चुके हैं कि महिलाओं का स्वास्थ्य, विशेषकर प्रजनन क्षेत्र में, उनके नारीत्व के समानांतर देखा जाता है, जिसके कारण उसके जीवन से जुड़ी अधिकतर घटनाओं का चिकित्सकीयकरण कर दिया गया है। गर्भावस्था, रजोनिवृत्ति और प्रीमेन्स्ट्रुअल सिन्ड्रोम (Premenstrual Syndrome) जैसी महिलाओं की स्थितियां कभी दाइयों और महिला रिश्तेदारों से विमर्श का विषय होती थीं, लेकिन अब ये चिकित्सकीय हस्तक्षेप की जगह बन गयी हैं। हमने यह जाना कि किस तरह स्त्री अधिकारवादियों ने चिकित्सकीय प्रक्रियाओं की आलोचना की है, उनका तर्क यह है कि चिकित्सकीय प्रक्रियाओं के कई विपरीत सामाजिक और स्वास्थ्य प्रभाव होते हैं। चिकित्सकीय प्रक्रियाओं का एक परिणाम दैनन्दिन जीवन में दवाओं का नियंत्रण बढ़ जाना है। इसके अलावा यह भी कि किस तरह घर में होने वाले प्रसव समय के साथ अस्पतालों में विशेषज्ञ चिकित्सकों की निगरानी में होने लगे और इससे यह प्रक्रिया सामाजिक क्षेत्र से निकलकर

चिकित्सकीय क्षेत्र का हिस्सा बन गयी। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि चिकित्सकीय प्रक्रियाएं उन सांस्कृतिक, सामाजिक नियमों और विशेष तकनीकों को इस्तेमाल करने पर जोर देती हैं जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था में यथास्थिति बनाये रखने में मददगार हों और इसके पर्याप्त साक्ष्य उन तरीकों में मिलते हैं, जो नयी प्रजनन तकनीकों में इस्तेमाल किये जाते हैं। अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि समाज में महिलाओं की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। यद्यपि महिला सेवाप्रदाताओं की यहां अधिकता नजर आती है, लेकिन स्वास्थ्य सेवा का क्षेत्र अब भी अन्य क्षेत्रों जैसा ही है, जहां आज भी उच्च और प्रबंधकीय पदों पर पुरुषों का ही एकाधिकार है। उदाहरण के लिये पुरुष आज भी डॉक्टर ही बनने का प्रयास करते हैं, नर्स नहीं। यह मान लिया जाता है कि नर्सिंग का काम महिलाएं ही करेंगी। इस तरह यहां यह अति आवश्यक हो जाता है कि स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में महिलाओं को भी बेहतर और अधिक हिस्सा देने की व्यवस्था सुनिश्चित की जाये, क्योंकि स्वास्थ्य सेवा क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका और उनका योगदान काफी अहम है।

8.12 अभ्यास प्रश्न (Exercise)

- चिकित्सकीयकरण क्या है, इसका वर्णन करते हुये दो उदाहरण भी दें।
- स्त्री अधिकारवाद के तीन प्रकारों का वर्णन करें।
- भारत में जन्म के संस्थानीकरण की शुरुआत क्यों हुयी, विस्तार से बतायें।

8.13 सहायक अध्ययन (Suggested Readings)

- Conrad (2007). *The Medicalization of Society: On the Transformation of Human Conditions into Treatable Disorders*. Baltimore: The Johns Hopkins University Press
- Girija, P. L. T. 2013. '*Jeevani: Ayurveda for Women*'. Chennai: Sanjeevani Ayurveda Foundation.
- Greil et.al .2010. 'The experience of infertility: A review of recent literature'. *Sociology of Health & Illness*,32:1, pp. 140-162
- Gupta Mitushi (2017), 'Gender And Medicine: A Study Of Ayurvedic Therapeutics For Infertility In Two Hospitals, Thesis Submitted JNU, New Delhi.
- Sujatha .V and LeenaAbaraham (eds.) 2012. *Medical Pluralism in contemporary India*. New Delhi:Orient black Swam.
- Sujatha.V. 2014. '*Sociology of Health and Medicine, new perspectives*'. New Delhi: Oxford Univesity Press.
- Sadgopal M. 2009. 'Can Maternity Services Open Up to the Indigenous Traditions of Midwifery' *Economic and political weekly*. Vol. 44, Issue No. 16, 18.
- Stacy(1978), 'the sociology of health and illness: its present state, future prospects and potential for health research' Sage publications Volume: 12 issue: 2, page(s): 281-307
- Rothman (1989/2000). *Recreating motherhood*. Rutgers university press, new Brunswick, new jersey,

इकाई -9

बहुल चिकित्सा ज्ञान एवं चिकित्सा कर्म व्यवस्था (Approaches To Plural Medical Knowledge And Practice Systems)

- 9.1 उद्देश्य
- 9.2 परिचय
- 9.3 चिकित्सा व्यवस्था के प्रकार
- 9.4 विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं की उपलब्धता के कारण
- 9.5 चिकित्सा समन्वय एवं एकीकरण
- 9.6 चिकित्सा बहुलवाद के लाभ
- 9.7 भारत में चिकित्सा बहुलवाद का विकास
- 9.8 भारत में प्रचलित विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाएं
- 9.9 आयुष का मुख्यधाराकरण
- 9.10 निष्कर्ष
- 9.11 अभ्यास प्रश्न
- 9.12 भावी अध्ययन

9.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के जरिये हम बहुल चिकित्सा ज्ञान एवं चिकित्सा कर्म व्यवस्था को विस्तार से समझ सकेंगे।

9.2 परिचय (Introduction)

चिकित्सकीय परंपराएं विभिन्न विचारों, अभ्यासों, कौशल, उपकरणों और भौतिक चिकित्सा व्यवस्था का संयोजन हैं (Young, 1983). प्रत्येक चिकित्सा व्यवस्था किसी न किसी दर्शन पर आधारित है। किसी समाज में विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं का सहअस्तित्व चिकित्सा बहुलवाद कहलाता है। अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका में चिकित्सकीय मानवविज्ञान और चिकित्सा बहुलवाद पर उल्लेखनीय काम किया गया है। चिकित्सा व्यवस्था के ये स्वरूप पारंपरिक चिकित्सा से इतर भौतिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक हो सकते हैं और इनके जरिये बड़ी आबादी को चिकित्सा उपचार के बेहतर विकल्प मुहैया कराये जा सकते हैं। इन चिकित्सा कार्यों को सहायक और वैकल्पिक चिकित्सा (**complementary and alternative medicine: CAM**), पारंपरिक-वैकल्पिक और सहायक चिकित्सा (**traditional, complementary and alternative medicine: TCAM**) और सहायक एवं एकीकृत चिकित्सा (**complementary and integrative medicine: CIM**) कहा जाता है। इस तरह पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्था के साथ अन्य वैकल्पिक उपचारों को चिकित्सा बहुलवाद कहा जाता है। किसी बीमारी या स्वास्थ्य संबंधी परेशानी के दौरान उपचार का सही तरीका तलाश करना व्यक्ति की तात्कालिक इच्छा पर निर्भर करता है। चिकित्सा बहुलवाद की अवधारणा सबसे पहले अमेरिकी मानवविज्ञानी चार्ल्स मिलर लेस्ली ने दी थी। उनके अनुसार चिकित्सा बहुलवाद के उभार के पीछे प्रमुख कारण यह है कि जैविक उपचार के तरीकों से मरीजों के इलाज में पूरी मदद नहीं मिल पायी। हर चिकित्सा व्यवस्था सीमाओं में बंधी हुयी है और इसी वजह से वैकल्पिक उपचार शैलियों की तलाश की जरूरत होती है। लेस्ली का कार्य जैवचिकित्सा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण माना जाता है। आयुर्वेद, यूनानी और पारंपरिक चीनी चिकित्सा पद्धतियां प्राचीन चिकित्सा ग्रंथों पर

आधारित हैं और इन ग्रंथों का अध्ययन करने वाले विशेषज्ञ इन चिकित्सा क्रियाओं को संपन्न करते हैं। सुजाता (2014) बताती हैं कि आधुनिक और विभिन्न पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों का सहअस्तित्व समाज में सामान्य रूप से देखी जाने वाली घटना है। यह ऐसे समाजों में अधिक प्रचलित है, जहां कोई एक चिकित्सा पद्धति अकेले पूरी आबादी की स्वास्थ्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने में सक्षम नहीं होती।

9.3 चिकित्सा व्यवस्था के प्रकार (Types of Medical Systems)

चिकित्सा व्यवस्थाओं को सामान्य रूप से बीमारी और स्वास्थ्य के प्रति समुदाय के विचारों और अभ्यास के रूप में अवधारित किया जा सकता है (Geisler and Pool, 2005:40). हर चिकित्सा व्यवस्था के ये तीन बुनियादी घटक होते हैं:

- हेतुविज्ञान, रोग का कारण
- परीक्षण, रोग का निर्धारण करने का माध्यम
- उपचार, रोग के निदान की तकनीक

डन (1976) ने भौगोलिक और सांस्कृतिक परंपराओं के आधार पर चिकित्सा व्यवस्था के तीन प्रकार बताये हैं:

- **स्थानीय चिकित्सा व्यवस्था:** इस तरह की व्यवस्थाएं बेहद छोटे क्षेत्र तक सीमित होती हैं और इन्हें पारंपरिक उपचार के नाम से जाना जाता है
- **क्षेत्रीय चिकित्सा व्यवस्था:** यह व्यवस्था अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित होती हैं, जैसे आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी आदि
- **महानगरीय चिकित्सा व्यवस्था:** यह कथित आधुनिक चिकित्सा पद्धति है, वैज्ञानिक तरीकों पर आधारित यह चिकित्सा व्यवस्था वैश्विक रूप से उपयोग की जाती है

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने पारंपरिक से इतर अन्य चिकित्सा व्यवस्थाओं की तीन व्यवस्थाएं बतायी हैं:

- ज्ञान, कौशल और सिद्धांतों पर आधारित पारंपरिक चिकित्सा, विभिन्न संस्कृतियों के पारंपरिक अनुभव (चाहे उन्हें समझाना संभव हो या नहीं) स्वास्थ्य देखभाल, संरक्षात्मक, परीक्षण, सुधार और शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों के इलाज के तौर पर इस्तेमाल किये जाते हैं
- अन्य उपचार वैकल्पिक या सहायक चिकित्सा हैं, जो उस विस्तृत चिकित्सा व्यवस्था का हिस्सा हैं, जो किसी देश की अपनी परंपरा से संबंधित नहीं हैं, न ही पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्था का अंग हैं, इसके अलावा वे चिकित्सा व्यवस्था का एकीकृत अंग भी नहीं होतीं
- तीसरी व्यवस्था जड़ी-बूटी चिकित्सा की है, जिनमें जड़ी-बूटियों से जुड़े तत्वों, इनसे औषधियों के निर्माण, पौधों-वनस्पतियों के हिस्से आदि शामिल हैं

व्यापक रूप से देखें तो वैकल्पिक एवं सहायक चिकित्सा दरअसल उन चिकित्सा व्यवस्थाओं के लिये उपयोग किया जाने वाला नाम है, जिन्हें मेडिकल कॉलेजों में नहीं पढ़ाया जाता और जो पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्था से भी अलग हैं। एक अध्ययन के अनुसार अमेरिका में सामान्य जनसंख्या के बीच बीते कुछ दशकों में सहायक एवं वैकल्पिक चिकित्सा (CAM) का उपयोग बढ़ा है और आबादी का

29 प्रतिशत से 42 प्रतिशत तक हिस्सा इस चिकित्सा के किसी एक प्रकार पर निर्भर है, इनमें आध्यात्मिकता, धर्म और प्रार्थनाएं शामिल नहीं हैं, लेकिन अगर इन तीनों को भी शामिल कर लिया जाये तो इस चिकित्सा व्यवस्था पर निर्भरता की प्रतिशतता 62 प्रतिशत तक पहुंच जाती है। हालांकि, यहां यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि अमेरिका में इस चिकित्सा व्यवस्था का उपयोग सामान्य रोगों, जैसे जोड़ों का दर्द, आर्थराइटिस, सिरदर्द आदि के लिये ही किया जाता है, गंभीर बीमारियों के इलाज में नहीं।

विभिन्न समाजविज्ञानियों ने चिकित्सा बहुलवाद को विविध मापदंडों के आधार पर वर्गीकृत किया है। डन (1976) ने पारिस्थितिकी के आधार पर वर्गीकरण किया है, इसके अलावा अन्य वर्गीकरण जैवचिकित्सा व वैकल्पिक चिकित्सा के समन्वय के आधार पर किये गये हैं। (Cant and Sharma 1999). तीसरा वर्गीकरण शारीरिक और मानसिक बीमारियों के उपचार की उपलब्धता पर आधारित है। ये तीन प्रकार निम्नवत हैं:

- मुख्यधारा की चिकित्सा व्यवस्था, जिसे राज्य द्वारा समर्थन मिलता है, संस्थानीकृत किया जाता है और जिसके लिये कानूनी एवं पेशेवर व्यवस्था उपलब्ध है। शोधकर्ता चिकित्सा संस्कृति के इस प्रकार को विशिष्ट बताते हैं।
- दूसरे प्रकार में वह चिकित्सा व्यवस्था आती है, जिसे राज्य से समान रूप से समर्थन प्राप्त होता है और ये व्यवस्थाएं समान रूप से समन्वित होती हैं। समाजशास्त्री इसे सहिष्णु व्यवस्था का हिस्सा मानते हैं।
- तीसरा प्रकार एकीकरण चिकित्सा व्यवस्था का है, जिसमें चिकित्सा व्यवस्थाओं में समन्वय से बहुलवाद उभरता है। यहां पारंपरिक चिकित्सा विशेषज्ञ अपनी पद्धति के आधार से जुड़े रहते हुये अन्य चिकित्सा व्यवस्थाओं से तकनीक एवं विचारों को लेकर उनका उपयोग चिकित्सा में करते हैं।

चिकित्सा विकल्पों के आधार पर चिकित्सा बहुलवाद पेशेवर, पारंपरिक या लोकप्रिय हो सकते हैं।

- पेशेवर सेक्टर व्यवस्थित है और इसका अभ्यास प्रशिक्षित विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है। भारत में आयुर्वेद, होम्योपैथी आदि पद्धतियां भी इसमें शामिल हैं। इन चिकित्सा पद्धतियों को भी सरकार की देखरेख में व्यवस्थित किया जाता है।
- एक अन्य सेक्टर है पारंपरिक या लोकचिकित्सा, जो सांस्कृतिक परंपराओं और दर्शन पर आधारित है। इस पद्धति में उपचार धार्मिक या सांसारिक तरीकों से उपचार किया जाता है। धार्मिक तरीकों में पारलौकिक शक्तियों का इस्तेमाल, सांसारिक पद्धतियों में जड़ी-बूटियों से उपचार शामिल है।
- तीसरा सेक्टर है लोकप्रियता का, ये उपचार पद्धतियां साझा सांस्कृतिक समझ और पारंपरिक उपचार से विकसित होती हैं। लोग स्वयं, परिजनों या दोस्तों की मदद से इसका इस्तेमाल करते हैं।

कृत्रिम बहुलवाद (Forced Pluralism)

किसी मरीज के लिये सबसे महत्वपूर्ण है चिकित्सा सुविधा की उपलब्धता, उस तक पहुंच और गुणवत्ता और जो उसके आसपास ही मौजूद हो। कुछ मामलों में, विशेष भौगोलिक क्षेत्रों में लोगों की पहुंच बेहतर चिकित्सा तक नहीं हो पाती। ऐसे में उनके पास वैकल्पिक रूप में लोकचिकित्सा या

अन्य तरीके ही बचते हैं। सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े किसी क्षेत्र में विशेषज्ञ चिकित्सा सेवा की कमी या चिकित्साकर्मियों की विफलता रोगियों को अपने स्थान पर स्वयं की चिकित्सा पद्धति को छोड़कर जब किसी अन्य तरीके का इस्तेमाल करने पर मजबूर होना पड़ता है तो इसे कृत्रिम बहुलवाद कहा जाता है।

9.4 विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं की उपलब्धता के कारण (Factors Responsible for Availing Different Medical Systems)

दुनियाभर के देशों में, चाहे वे विकसित हों अथवा विकासशील, चिकित्सा बहुलवाद की मौजूदगी नजर आती है। इसके कारण सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक, चिकित्सकीय और कई बार स्थानीय भी होते हैं।

- **सामाजिक-आर्थिक कारण:** औद्योगिक दुनिया में जैवचिकित्सा की सीमाएं हैं। वैकल्पिक चिकित्साओं की गुणवत्ता में सुधार ने जैवचिकित्सा की सीमाओं को खत्म किया है, जिससे CAM उच्च आय वर्ग में प्रचलित हो गया है। दूसरी ओर, निर्धनता और पारंपरिक चिकित्सा का अभाव भी निर्धन देशों में वैकल्पिक चिकित्सा के बढ़ावे की वजह रहा।
- **विशिष्ट चिकित्सा व्यवस्था की सीमाएं:** दुनियाभर में आपात स्थितियों, गंभीर हालात और सर्जिकल समस्याओं पर जैव चिकित्सा पर ही भरोसा करते हैं। पुरानी बीमारियों और कुछ अन्य मामलों में यह चिकित्सा संतोषजनक परिणाम नहीं दे पाती। बीते कुछ वर्षों में पश्चिमी देशों में कई लोग इसलिये CAM की ओर बढ़े हैं, क्योंकि जैवचिकित्सा में साइड इफेक्ट की घटनाएं सामने आयी थीं।
- **सांस्कृतिक प्रतिबद्धताएं:** कुछ ग्रामीण लोकसमाजों में अपनी पीढ़ीगत उपचार पद्धतियों को आधुनिक चिकित्सा पर प्राथमिकता दी जाती है और उनका यह व्यवहार सांस्कृतिक परंपराओं से जुड़ा होता है। किसी खास बीमारी को लेकर इन लोगों के अपने अलग सिद्धांत होते हैं और वे परंपरागत चिकित्सा से दूरी बनाये रखते हैं। बीमारियों के इलाज के लिये वे रूढ़िवादी उपचारकों के पास जाते हैं जो वंशानुगत यह अभ्यास करते हैं।
- **विशिष्ट व्यवस्था पर विश्वास:** शरीर, स्वास्थ्य और बीमारियों को लेकर स्वास्थ्य सेवाप्रदाता और साधक की समान सामान्य सोच चिकित्सा बहुलवाद के अस्तित्व का अहम कारक है। कुछ मामलों में लोग वैकल्पिक चिकित्सा या जैवचिकित्सा की ओर भी बढ़ सकते हैं।
- **स्थानीय कारक:** विशेषज्ञ स्वास्थ्य सेवाओं की कमी भी चिकित्सा बहुलवाद की वजह है। ग्रामीण क्षेत्रों में पारंपरिक उपचारक आसानी से मिल जाते हैं और लोगों को उनसे इलाज करवाना अधिक सुविधाजनक व किफायती लगता है।

9.5 चिकित्सा समन्वय एवं एकीकरण (Medical Syncretism and Integration)

चिकित्सा समन्वय का अर्थ विभिन्न विचारों के एकीकरण एवं मिश्रण से है। यह चिकित्सा बहुलवाद से अलग है, क्योंकि यहां समाज में समान उपचार वाली विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं के सहअस्तित्व को परिभाषित किया जाता है। इस तरह के समन्वय का विश्लेषण स्वास्थ्य साधक के व्यवहार और चिकित्सकीय परंपराओं के संबंध के आधार पर किया जाता है। बेहतर स्वास्थ्य के लिये लोग अपने आसपास मौजूद चिकित्सा व्यवस्था से तीन प्रकार से जुड़ सकते हैं। पहला— किसी विशेष रोग के होने पर, दूसरा— व्यवस्थित रूप से एक से दूसरी चिकित्सा व्यवस्था की ओर जाना और तीसरा— एक साथ एक ही समय पर अलग-अलग चिकित्सा व्यवस्थाओं से जुड़ना। ऐसे मामलों में चिकित्सा बहुलवाद का स्थान चिकित्सा समन्वय ले लेता है।

चिकित्सा परंपराओं, सहायता और पूरकता के संबंध के आधार पर चिकित्सा समन्वय के दो कारक सामने आते हैं। स्वास्थ्य विशेषज्ञ दो अलग चिकित्सा प्रणालियों के खास तत्वों को इस तरह एकसाथ लाते हैं कि दोनों का अंतर बिल्कुल नजर नहीं आता। इस तरह का चिकित्सा समन्वय एशियाई देशों में नजर आता है, जहां परीक्षण तरीकों का एकीकरण, विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं के उपचार के तरीके और दवाएं इलाज के लिये एकसाथ लायी जाती हैं। कुछ मानवविज्ञानियों ने तर्क दिया है कि एशियाई चिकित्साभ्यास चिकित्सा एकीकरण की धारणा से भी अधिक एकीकृत हैं।

यहां एकीकरण शब्द का अर्थ दो या अधिक चिकित्सा व्यवस्थाओं को एक करने से है। इस एकीकरण का तात्पर्य उन व्यवस्थाओं के सिद्धांतों, कार्यों और उपचारात्मक ज्ञान को इस तरह साथ लाना है कि इस प्रक्रिया से रोगी को लाभ मिले। दो या अधिक व्यवस्थाओं के जरिये उपचार आयुर्वेदिक एवं एलोपैथिक दोनों तरह के चिकित्सकों द्वारा अपनाया गया है और यह दोनों ही व्यवस्थाओं को मजबूत करने में मदद करता है। समाजशास्त्रियों और दार्शनिकों ने तर्क दिया है कि यह संबद्धता बेमेल है, क्योंकि प्रत्येक चिकित्सा व्यवस्था का अपना अलग और विशिष्ट ज्ञान होता है जो मानव शरीर, स्वास्थ्य एवं रोगों को बिल्कुल अलग-अलग नजरिये से देखते हैं (Naraindas 2006; Sujata 2011).

9.6 चिकित्सा बहुलवाद के लाभ (Benefits of Medical Pluralism)

यहां बहुल तर्क उपलब्ध हैं जो व्यवहार पर सकारात्मक या नकारात्मक असर डाल सकते हैं। बहुलवादी तर्कों के जरिये सकारात्मक लाभ को संसाधनसंपन्नता और कुशलता के संयोजन के तौर पर देखा जा सकता है। तुलनात्मक बहुलवादी तर्क स्वास्थ्य, शिक्षा, जनकल्याण योजनाओं आदि में क्रियाओं और सकारात्मक परिणामों के लिये बेहतर संसाधनों को विकसित करते हैं। दूसरी ओर, नकारात्मक तर्क तनाव बढ़ाने के साथ हठधर्मिता को बढ़ावा देने की वजह बनते हैं (Shim J-M, 2017). बहुलवादी चिकित्सा व्यवस्थाओं के अध्ययन में भी यही बातें पायी गयी हैं, जहां सरकार और विशेषज्ञों द्वारा पारंपरिक और वैकल्पिक चिकित्सा के संयोजन के बेहतर परिणाम मिले हैं। दूसरी ओर, दोनों व्यवस्थाओं के बीच पनपने वाले अंतर्विरोध और तनाव का हल नहीं निकाले जाने से कुछ नकारात्मक परिणाम भी सामने आये हैं। चिकित्सा व्यवस्थाएं सामान्यतः चिकित्सा परंपराओं और अध्ययनों में समन्वय और स्पर्धात्मक सहअस्तित्व पर जोर देती हैं, इसके चलते जैवचिकित्सा और अन्य वैकल्पिक चिकित्साओं के बीच जटिल संबंध विकसित होता है। इसमें या तो वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था को पूरी तरह नकार दिया जाता है या फिर विभिन्न स्तरों पर उनका समन्वय बनाया जाता है। जैवचिकित्सकों और वैकल्पिक चिकित्सा विशेषज्ञों के बीच कई बार विरोध और अपर्याप्त संवाद के मामले भी सामने आते रहते हैं।

9.7 भारत में चिकित्सा बहुलवाद का विकास (The Development of Medical Pluralism in India)

भारत में वर्तमान दौर में चिकित्सा की कई व्यवस्थाएं अस्तित्व में हैं, लेकिन सर्वाधिक प्रचलित वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों में आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, योग, होम्योपैथी और नेचरोपैथी शामिल हैं। आयुर्वेद भारत में 1500 ईसापूर्व से प्रचलित है, जबकि यूनानी चिकित्सा 12वीं सदी में मुगलों के आगमन के साथ अस्तित्व में आयी। होम्योपैथी और नेचरोपैथी इसके करीब दो सौ साल बाद भारत में पहुंचीं। ईसापूर्व दसवीं सदी तक भारत में आयुर्वेद ही चिकित्सा का एकमात्र औपचारिक माध्यम था। बाद में यूनानी पद्धति अलाउद्दीन खिलजी के अस्तित्व में आयी, जिस दौरान आयुर्वेदिक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया गया। 16वीं सदी के प्रारंभ में पुर्तगालियों ने वर्ष 1510 में रॉयल पुर्तगीज हॉस्पिटल के नाम से देश का पहला अस्पताल स्थापित किया, लेकिन यहां सिर्फ यूरोपीय ईसाइयों

को ही इलाज की सुविधा दी जाती थी। इसके बाद 1665 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने फोर्ट सेंट जॉर्ज, मद्रास में ब्रिटिश सैनिकों के लिये अपना पहला अस्पताल शुरू किया। बढ़ती आबादी और सैनिकों की संख्या को देखते हुये 1764 में इंडियन मेडिकल सर्विसेज प्रारंभ हुयी। 19वीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार ने भारत में कई अस्पताल बनाये। उस काल में अधिसंख्य भारतीय आबादी आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा की पारंपरिक व्यवस्था पर ही विश्वास करती थी। वैद्य और हकीम लगभग 80 फीसदी भारतीय आबादी की स्वास्थ्य जरूरतों को पूरा करते थे।

इसकी एक वजह यह भी थी कि तब आधुनिक चिकित्सा के डॉक्टर बेहद कम थे। ब्रिटिश शासन ने वैद्यों और हकीमों को आधुनिक चिकित्सा की शिक्षा देने का प्रयास किया, लेकिन इसमें अधिक कामयाबी नहीं मिल सकी। समय के साथ भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाएं किनारे होती चली गयीं और इनका इस्तेमाल अकसर तभी होने लगा, जब एलोपैथिक डिस्पेंसरियों में चिकित्सा सुविधा नहीं मिल पा रही हो। 20वीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटिश शासन ने भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं के खिलाफ अभियान चलाया, जिसके तहत इनके चिकित्सकों के पंजीकरण को बंद कर दिया गया। इसके विरोध में विख्यात वैद्यों और हकीमों ने आयुर्वेद और यूनानी पद्धतियों को बचाये रखने के लिये राष्ट्रव्यापी आंदोलन शुरू किया। हालांकि, पश्चिमी चिकित्सा व्यवस्था को नायक के तौर पर स्थापित करने और औपनिवेशिक शासन भारतीय चिकित्सा व्यवस्था को हाशिये पर डालने में सफल रहा। पश्चिमी वैज्ञानिक चिकित्सा को भारत में सिद्धांत और चिकित्सा कार्य के तौर पर स्थापित कर दिया, जिसके चलते यह राज्य द्वारा निर्धारित जैवचिकित्सा पद्धति बन गयी। ब्रिटिश शासनकाल से प्रारंभ हुयी यह चिकित्सा व्यवस्था स्वतंत्रता के बाद भी चलती रही।

स्वतंत्रता से पूर्व कांग्रेस द्वारा शौकी कमेटी का गठन किया गया, जिसने भारत में तत्कालीन स्वास्थ्य व्यवस्थाओं की स्थिति और पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं आयुर्वेदिक-यूनानी के प्रति विश्वास, उनकी संरक्षात्मक उपचार पद्धतियों के चलते उनके विकास और प्रोत्साहन के पक्ष में रिपोर्ट दी। इस कमेटी ने यह भी संस्तुति की कि आयुर्वेदिक वैद्यों और यूनानी हकीमों को प्रशिक्षित किया जाये, ताकि वे चिकित्सा व्यवस्था की मुख्यधारा में शामिल हो सकें। लेकिन, भारत की पहली स्वास्थ्य सर्वेक्षण और विकास कमेटी यानी बोहरे कमेटी ने भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं को लेकर कोई सकारात्मक पक्ष नहीं रखा और इन्हें अवैज्ञानिक के तौर पर प्रदर्शित किया। 1946 में चोपड़ा कमेटी ने एक बार फिर यह सुझाव दिया कि भारत में बड़ी आबादी को बेहतर चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने के लिये पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं और आधुनिक चिकित्सा व्यवस्थाओं के एकीकरण की जरूरत जतायी।

1983 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति लागू होने तक कई अन्य समितियां पंचवर्षीय योजनाओं के तहत बनायी गयीं, जिन्होंने देश में समग्र स्वास्थ्य विकास के लिये आधुनिक चिकित्सा को ही प्राथमिकता दी। 1978 की अल्मा आता घोषणा पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं के लिहाज से महत्वपूर्ण है। यह पहली बार हुआ, जब 'सबके लिये स्वास्थ्य' के नारे के साथ वर्ष 2000 में सर्वव्यापी चिकित्सा सुविधा का लक्ष्य तय किया गया। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं और इनसे जुड़े उपचारकों को भी मान्यता प्रदान की गयी। नीति में पारंपरिक उपचारकों को विशेष प्रशिक्षण का सुझाव भी दिया गया, ताकि वे देश में प्राथमिक चिकित्सा सेवा में मददगार साबित हो सकें। इस तरह 1983 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं को समृद्ध एवं विरासती चिकित्सा-स्वास्थ्य विज्ञान के तौर पर स्वीकृति दी गयी। नीति में विभिन्न स्तरों पर पारंपरिक भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं के एकीकरण की राय दी। वर्ष 1995 में केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के अधीन भारतीय चिकित्सा पद्धतियों और होम्योपैथी के लिये अलग विभाग की स्थापना की गयी, जिसे वर्ष 2003 में आयुष (AYUSH) नाम दिया गया, जिसमें आयुर्वेद, योग,

यूनानी, सिद्ध और होम्योपैथी पद्धतियों को शामिल किया गया। वर्ष 2014 में अलग आयुष मंत्रालय का गठन किया गया।

स्पष्ट है कि भारत में चिकित्सा बहुलवाद ब्रिटिश उपनिवेशकाल से ही भारत में अस्तित्व में रहा, लेकिन जैवचिकित्सा और वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था के बीच समय-समय पर शक्तियों के असमान वितरण, सेवा प्रदाताओं में अंतर के चलते विरोध सामने आते रहे। पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाएं न तो कभी पूरी तरह बंद ही हो सकीं, न ही कभी (ब्रिटिश राज में भी नहीं) उनका नियमन-नियंत्रण किया जा सका। स्वतंत्रता के बाद भी जैवचिकित्सा विशेषज्ञों की कमी, भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं के उपचारकों की राजनीतिक एवं सामाजिक शक्तियां, रोगों के उपचार में उनका प्रभावी कार्य और राष्ट्रवादी व सांस्कृतिक विचारों ने भारतीय चिकित्सा व्यवस्था को स्वास्थ्य क्षेत्र में विशेष स्थान दिया। बीते दो दशकों में जैवचिकित्सा के साइड इफेक्ट को देखते हुये वैकल्पिक चिकित्सा की बढ़ती मांग और आयुर्वेद व जड़ी-बूटी चिकित्सा की बाजार में हिस्सेदारी ने वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था को भारतीय समाज में बहुलवादी चिकित्सा में संगठित स्वरूप दिया है। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि आयुर्वेद, सिद्ध और यूनानी चिकित्सा पद्धतियां देश के सभी प्रदेशों में समान रूप से लोकप्रिय नहीं हैं। पश्चिम बंगाल आयुर्वेद का सबसे प्रमुख केन्द्र था, जहां वर्ष 1916 में सबसे पहला आयुर्वेद संस्थान स्थापित हुआ और अब इसे होम्योपैथी के केन्द्र के तौर पर जाना जाता है। इसी तरह महाराष्ट्र, केरल और कर्नाटक में भी पारंपरिक भारतीय चिकित्सा उपचार की बेहतर व्यवस्था उपलब्ध हैं, जबकि इन राज्यों में जैवचिकित्सा की भी सार्वजनिक व्यवस्था मौजूद हैं। यही नहीं, वैकल्पिक चिकित्सा के सांस्थानिक प्रशिक्षण प्राप्त विशेषज्ञ उपचारकों की संख्या भी प्रतिवर्ष बढ़ रही है।

9.8 भारत में प्रचलित विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाएं (Different Medical Systems in India)

आयुर्वेद

आयुर्वेद शब्द मूलतः दो शब्दों आयु (जीवन) और वेद (ज्ञान) से मिलकर बनता है, जिसका अर्थ है जीवन का विज्ञान। भारत में प्रचलित वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्थाओं में आयुर्वेद सबसे प्रमुख और पहली उपचार व्यवस्था है। आयुर्वेद के संबंध में पहला ग्रंथ 1500 ईसापूर्व सुश्रुत संहिता है। माना जाता है कि आयुर्वेद की न तो रचना की गयी, न ही इसे लिखा गया, बल्कि सृष्टि के रचनाकार ब्रह्मा की स्मृतियों में यह समाहित था। यह ज्ञान देवताओं और ऋषियों के माध्यम से बेहद सूक्ष्म रूप में धरती तक पहुंचा। आयुर्वेद की दो शाखाएं मानी जाती हैं, आत्रेय- जो औषधीय यानी दवाओं के उपचार से संबंधित है और धन्वन्तरि- जो शल्य चिकित्सा की प्रक्रियाओं से संबंधित हैं। आयुर्वेद में रोगों की रोकथाम के लिये स्वस्थ जीवनशैली को अपनाने पर जोर दिया जाता है, इसके बाद उपचार की बात आती है। आयुर्वेद की आठ विशिष्टताएं थीं, जिनमें से रसायन (कायाकल्प) और वाजीकरण (कामोद्दीपक) विशेष रूप से स्वास्थ्य आधारित हैं।

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण में शरीर को अलग नहीं देखा जाता, बल्कि शरीर को ब्रह्मांड का प्रतिनिधि माना जाता है। शरीर में वायु, सूर्य (अग्नि) और चंद्र (जल) क्रमशः वात, पित्त और कफ के परिचायक माने जाते हैं। आयुर्वेद की मूल धारणाओं में त्रिदोष, सप्तधातु, त्रिमल और पंचभूत हैं। आयुर्वेद समग्र रूप से शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आध्यात्मिक उपचार पर जोर देता है। इसे सुश्रुत संहिता में बताया गया स्वास्थ्य की परिभाषा से समझा जा सकता है। संहिता के अनुसार दोषों की संतुलनपूर्ण स्थिति, अग्नि (पाचक अग्नि), धातु (शरीर के उत्तक), मल (शरीर का अपशिष्ट) और मानसिक गतिविधियों की सामान्य स्थिति ही शारीरिक स्वास्थ्य के ठीक होने के द्योतक हैं। आत्मा, इन्द्रियों और मन की प्रसन्न स्थिति मानसिक, भावात्मक और आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ होने के

संकेत हैं। आयुर्वेद का उपचार दृष्टिकोण विभिन्न कारकों के अलग-अलग मूल्यांकन का है। पंचकर्म ऐसी ही तकनीकों में से एक है, जिसे हाल में ही पुनर्विकसित किया गया है और जो वैश्विक तौर पर लोकप्रिय हो चुकी है। दुनियाभर में कई विकट रोगों के उपचार के लिये इसका प्रयोग किया जा रहा है।

पहला आयुर्वेदिक कॉलेज वर्ष 1916 में कलकत्ता में स्थापित हुआ था। वर्तमान में भारत में चार सौ से अधिक आयुर्वेदिक कॉलेज हैं जहां आयुर्वेद में स्नातक पाठ्यक्रम संचालित किये जाते हैं। सेंट्रल काउंसिल ऑफ मेडिसिन भारत सरकार के अधीन स्वायत्त संस्था है जो आयुर्वेद के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों की निगरानी करती है। 1971 में आयुर्वेद शोध परिषद का गठन किया गया, जिसका मकसद आयुर्वेद में वैज्ञानिकता के आधार पर समन्वय, विकास और शोध को बढ़ावा देना था। वर्ष 2016 में दिल्ली में ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ आयुर्वेद की भी स्थापना की गयी है।

योग एवं नेचरोपैथी

योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द युज से हुयी है, जिसका अर्थ है संघ या एकता से है। यह शरीर एवं मन की एकता और व्यक्ति व ब्रह्मांड की संयुक्त जागृति का प्रतीक है। यह आध्यात्मिक शाखा है, जिसका उपयोग प्राचीन काल से किया जा रहा है। हठयोग, राजयोग इसके विभिन्न प्रकारों में से दो प्रमुख और प्रचलित विधाएं हैं। राजयोग से जुड़ने के लिये व्यक्ति का शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है, जो हठयोग से संभव है। योग के अंतर्गत विभिन्न शारीरिक क्रियाएं, श्वास अभ्यास, ध्यान और विश्राम का अभ्यास किया जाता है। योग की पहुंच समग्र है और यह जीवन के सभी आयामों में संतुलन की स्थापना के साथ रोगों से बचाव व स्वास्थ्य में वृद्धि का माध्यम है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार भगवान शिव योग के प्रथम शिक्षक थे। योग के ऐतिहासिक प्रमाण 2700 ईसापूर्व सिंधु घाटी सभ्यता से मिलता है। ऋग्वेद में भी योग का उल्लेख है। लेकिन योग का स्वर्णिम काल पांच सौ से आठ सौ ईसापूर्व माना जाता है। जैन और बुद्ध दर्शन में भी योग विज्ञान का जुड़ाव मिलता है। पतंजलि का योगसूत्र योग का मूल ग्रंथ है। आठ सौ से 1700 ईसवी का समय योग के मध्यकाल और 1700 से 1900 तक का काल योग के आधुनिक काल के तौर पर देखा जाता है। 20वीं सदी और इसके बाद योग पूरी दुनिया में अभ्यास किया जाने लगा। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि अष्टांग योग के आठ भाग हैं, जिनका योगाभ्यास करने वाले व्यक्ति के लिये पालन करना आवश्यक होता है। योग को शारीरिक गतिविधियों, शरीर के लचीलेपन और शक्ति बढ़ाने में उपयोगी पाया गया है। इसके अलावा अवसाद, अस्थमा, आर्थराइटिस आदि रोगों के उपचार में भी इसका उपयोग होता है। योग के संरक्षात्मक और स्वास्थ्य संबंधी बेहतर परिणामों के चलते इसे नेचरोपैथी के साथ भारतीय चिकित्सा व्यवस्था में शामिल करने के अलावा वर्ष 2003 में आयुष के तहत लाया गया। 21 जून को दुनियाभर में अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस भी मनाया जाता है।

नेचरोपैथी शब्द का इस्तेमाल सर्वप्रथम जॉन शील ने 1895 में किया था। यह शब्द दो लैटिन शब्दों नेचुरा और पैथोस से बना है, जिनके अर्थ क्रमशः जन्म और पीड़ा से हैं। इस तरह नेचरोपैथी दवाओं के इस्तेमाल के बिना प्राकृतिक उपचार की पद्धति है। चिकित्सा की अन्य व्यवस्थाओं की तरह स्वास्थ्य और रोगों को लेकर इसके भी अपने सिद्धांत हैं। नेचरोपैथी का सिद्धांत यह है कि अधिकतर बीमारियों का कारण रुग्णता शरीर के भीतर ही मौजूद तत्व है और शरीर के भीतर स्वयं का उपचार करने की भी क्षमता है। नेचरोपैथी का दृष्टिकोण भी समग्रता लिये हुये है और इसमें भोजन को ही औषधि माना जाता है। मृदा चिकित्सा, उपवास, चुंबक चिकित्सा, जल चिकित्सा, एक्यूंपंचर और एक्यूंप्रेशर नेचरोपैथी की कुछ विधाएं हैं। रुडोल्फ जस्ट लिखित पुस्तक 'Return to Nature' के

आधार पर गांधी भी नेचरोपैथी के बड़े समर्थक थे। यद्यपि योग और नेचरोपैथी आयुष के ही भाग हैं, लेकिन इनके शैक्षिक संस्थानों का विकास आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और होम्योपैथी के मुकाबले काफी कम है। इन दोनों ही क्षेत्रों में उच्चशिक्षित एवं प्रशिक्षित विशेषज्ञों का अभाव है। हालांकि, अब बढ़ती हुयी मांग को देखते हुये विभिन्न विश्वविद्यालयों ने इन दोनों क्षेत्रों में शैक्षिक कार्यक्रमों का संचालन प्रारंभ किया है।

सोवा-रिग्पा

सोवा-रिग्पा का अर्थ उपचार का विज्ञान है और इसे भी आयुष के तहत वैकल्पिक चिकित्सा की पहचान दी गयी है। यह तिब्बती चिकित्सा सबसे पुरानी पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं में से एक है। तिब्बत, नेपाल, भूटान, रूस आदि ऐसे देशों में इस चिकित्सा व्यवस्था का प्रसार है, जहां बौद्ध धर्म का प्रभाव है। भारत में भी सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, हिमाचल प्रदेश (धर्मशाला) और लद्दाख में यह चिकित्सा व्यवस्था प्रचलित है। यह व्यवस्था आयुर्वेद के काफी समान है और कई अवधारणाएं जैसे जुंग-वा-न्गा (आयुर्वेद में पंचभूतम) और न्पोपा-सम (त्रिदोष) आयुर्वेद की ही तरह हैं। सोवा-रिग्पा के चिकित्सकों को मेन्पा कहा जाता है जो गुरु-शिष्य परंपरा या पारिवारिक परंपरा के तहत यह विधा सीखते हैं। भारत में चार संस्थानों में सोवा-रिग्पा का पाठ्यक्रम (मेन्पा कचूपा) संचालित किया जा रहा है, जहां छात्रों को आधुनिक चिकित्सा विधाओं की भी जानकारी दी जाती है।

यूनानी

चिकित्सा की यह व्यवस्था ग्रीस में जन्मी और भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाली वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्थाओं में यह एक है। इसे यूनानी चिकित्साशास्त्र, अरबी चिकित्सा या इस्लामी चिकित्सा के नाम से भी जाना जाता है। चूंकि यह चिकित्सा व्यवस्था दो ग्रीक चिकित्सकों हिप्पोक्रेट्स और गैलन की शिक्षाओं पर आधारित है, इसलिये इसे यूनानी चिकित्सा नाम दिया गया। हिप्पोक्रेट्स (460-370 ईसापूर्व) वह पहले चिकित्सक थे, जिन्होंने इस चिकित्सा व्यवस्था को विज्ञान का दर्जा दिया। उनके बाद गैलन ने इस विज्ञान की बुनियाद रखी। *The Canon of Medicine* को यूनानी चिकित्सा व्यवस्था का इनसाइक्लोपीडिया और सन्दर्भग्रंथ माना जाता है, जिसे पारसी दार्शनिक अवेसेन्ना ने लिखा था। 632 ईसवी तक अधिकतर ग्रीक ज्ञान का अरबी में अनुवाद किया जा चुका था। ग्रीस से मध्य एशिया और फिर दक्षिण एशिया तक पहुंचते-पहुंचते इस चिकित्सा व्यवस्था में कई नये बदलाव आते गये। भारत में 11वीं सदी में यह चिकित्सा व्यवस्था पहुंची और 13वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी के प्रयासों से चरक और सुश्रुत के आयुर्वेदिक ग्रंथों को शामिल कर इसे और अधिक परिष्कृत किया गया।

यूनानी चिकित्सा की बुनियादी अवधारणा आयुर्वेद से कुछ भिन्न है। यूनानी चिकित्सा में यह विश्वास किया जाता है कि स्वास्थ्य छह अनिवार्य तत्वों पर निर्भर है। इस व्यवस्था में रोग की जांच नाड़ी-धड़कन, मल एवं मूत्र से की जाती है। ऐसी कई दवाएं हैं, जिनका इस्तेमाल आयुर्वेद और यूनानी दोनों तरह की चिकित्सा में किया जाता है। यूनानी चिकित्सक हकीम कहलाते हैं। प्रारंभ में 18वीं सदी तक यूनानी चिकित्सा का इस्तेमाल आयुर्वेद के साथ ही किया जाता रहा, जब तक कि आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था का परिचय भारत से हुआ। हकीम अजमल खान और कुछ अन्य प्रख्यात परिवारों के प्रयासों से यह चिकित्सा व्यवस्था भारत में पुनर्स्थापित हुयी। स्वतंत्रता के बाद केन्द्रीय सरकार ने भी इस व्यवस्था को वैकल्पिक उपचार के तौर पर विकसित करने में मदद की। आयुर्वेद और सिद्ध की तरह यूनानी चिकित्सा शिक्षा की निगरानी भी सेंट्रल काउंसिल ऑफ मेडिसिन द्वारा

की जाती है। यूनानी चिकित्सा और दवाओं के मानकीकरण की देखरेख सेंट्रल काउंसिल फॉर रिसर्च इन यूनानी मेडिसिन करती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वर्ष 1976 में इस चिकित्सा को वैकल्पिक चिकित्सा के तौर पर मान्यता दी। यूनानी चिकित्सा भी आयुष का अभिन्न अंग है।

होम्योपैथी

होम्योपैथी शब्द का इस्तेमाल सबसे पहले 1807 में सैमुअल हेनमैन ने किया था, जिन्हें होम्योपैथी का जनक माना जाता है। यह दो लैटिन शब्दों होमियोस और पैथोस से बना है, यहां होमियोस का अर्थ समान या की तरह है, जबकि पैथोस का अर्थ पीड़ा से है। इस तरह होम्योपैथी का अर्थ यह है कि यह “*similia similibus curentur*” यानी ‘...की तरह इलाज’ करने की पद्धति है। इसके अनुसार कोई तत्व किसी व्यक्ति में स्वस्थ होने के लक्षण की वजह बनता है, वही रोगी व्यक्ति में रोग के लक्षणों को समाप्त करता है। होम्योपैथी का एक अन्य सिद्धांत दवा की बेहद कम मात्रा देने का है। इसका तर्क यह है कि रोगी को दवा के कारण नगण्य या शून्य साइड इफेक्ट होना चाहिये। यही वजह है कि होम्योपैथी की अधिकतर दवाएं जल में मिलाकर बेहद मंदित करके दी जाती हैं। कुछ विचारक मानते हैं कि होम्योपैथी का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है और यह असल में छद्म विज्ञान है। वे मानते हैं कि यह उपचार प्रभावी होने के बजाय कूटभेषज है। भारत में 19वीं सदी में होम्योपैथी चिकित्सा पहुंची जब 1839 में पंजाब के महाराज रणजीत सिंह के इलाज के लिये फ्रांस से डॉक्टर होनीगबर्गर को बुलाया गया। बाद में वह कलकत्ता चले गये और वहीं होम्योपैथी चिकित्सा कार्य करने लगे। वहां वह काफी लोकप्रिय हो गये और बंगाल के लोगों का होम्योपैथी पर विश्वास जमने लगा। 1891 में कलकत्ता में पहला होम्योपैथी कॉलेज स्थापित किया गया। 1973 में भारत सरकार ने इसे राष्ट्रीय चिकित्सा व्यवस्थाओं में से एक माना और होम्योपैथी के लिये अलग से सेंट्रल काउंसिल फॉर होम्योपैथी की स्थापना की गयी जो होम्योपैथी चिकित्सा कार्य और शिक्षा का नियंत्रण और नियमन करती है।

सिद्ध

यह चिकित्सा व्यवस्था भारत के दक्षिणी राज्यों, विशेषकर तमिलभाषी क्षेत्रों में प्रचलित है। इसका प्रारंभ तमिलनाडु के तमिलकम से हुआ। सिद्ध का अर्थ उपलब्धि है। इस व्यवस्था के विशेषज्ञ सिद्ध कहलाते हैं। यह मान्यता है कि मानवजाति के विकास के साथ ही इस व्यवस्था का भी जन्म हुआ। माना जाता है कि भगवान शिव और पार्वती के पुत्र मुरुगन ने यह उपचार व्यवस्था अगतियर या अगत्य मुनि को सौंपी थी। ऐसे में अगतियर को पहला सिद्ध माना जाता है, जिन्होंने यह विद्या 18 अन्य सिद्धों को विश्वभर में प्रसारित करने के लिये सिखायी। माना जाता है कि सिद्धों के पास आठ सिद्धियां (अलौकिक शक्तियां होती हैं)। सिद्ध के मूल ग्रंथ तमिल भाषा में हैं, जो जीवन के विभिन्न पहलुओं पर केन्द्रित हैं। सिद्ध मानते हैं कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा वास करती है यानी आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये बेहतर शारीरिक स्वास्थ्य आवश्यक है। यह माना जाता है कि लोगों का उपचार करने से पूर्व सिद्ध को शारीरिक और आध्यात्मिक रूप से स्वयं को सर्वश्रेष्ठ साबित करना होता है। इसके लिये सिद्धों को कठिन यौगिक क्रियाओं, ध्यान, उपवास आदि से गुजरना पड़ता है ताकि वे अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर तक पहुंच सकें, जहां से उन्हें ज्ञान मिल पाता है। सिद्ध की मूल धारणाएं भी आयुर्वेद के समान हैं। इस व्यवस्था में भी आयुर्वेद की ही तरह तीन दोष, पांच तत्वों, तीन मल और सात उतकों को महत्वपूर्ण माना जाता है। सिद्ध उपचार मुख्यतः भोजन और जीवनशैली पर आधारित है। यह चिकित्सा शरीर को पुनर्जीवित करने के साथ रोग के लिये जिम्मेदार कारणों को दूर करती है। मर्म चिकित्सा सिद्ध व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण और विशिष्ट चिकित्सा विधा है। मर्म का अर्थ शरीर के ऊर्जा बिन्दुओं से है, जिन्हें ठीक कर शरीर, मस्तिष्क एवं

आत्मा का उपचार किया जाता है। सिद्ध चिकित्सा विधा में भी स्नातक और परास्नातक पाठ्यक्रम संचालित किये जाते हैं। इनकी निगरानी सेंट्रल काउंसिल ऑफ इंडियन मेडिसिन करती है। चेन्नई स्थित रिसर्च काउंसिल इन सिद्ध इस चिकित्सा व्यवस्था के संरक्षण, शोधकार्यों और चिकित्सकीय कार्यों की निगरानी करती है।

9.9 आयुष का मुख्यधाराकरण (Mainstreaming of Ayush)

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (National Rural Health Mission: NRHM) के प्रारंभ के साथ केन्द्र सरकार ने आयुष को मुख्यधारा में लाने का काम किया, जिसके तहत ऐसे प्राथमिक और जिलास्तरीय स्वास्थ्य केन्द्रों में आयुष डॉक्टरों की तैनाती की गयी, जहां एमबीबीएस चिकित्सक उपलब्ध नहीं थे। इन आयुष चिकित्सकों को निश्चित दायरे में एलोपैथिक उपचार करने की भी छूट दी गयी। इस प्रयास से सार्वजनिक स्वास्थ्य सेक्टर को मजबूत करने में मदद मिली, लेकिन इससे कुछ नैतिक मुद्दे भी खड़े हुये, जिनमें चिकित्सा व्यवस्थाओं का एकीकरण, आयुष चिकित्सकों द्वारा एकीकृत चिकित्साकार्य, आयुष की वास्तविक चिकित्साकार्य को पुनर्जीवित करना और स्वास्थ्य सेवाओं के पदानुक्रम संबंधी विषय सामने आये। तमिलनाडु में आयुर्वेद और सिद्ध चिकित्सा को इस तरह मुख्यधारा में लाया गया कि ये दोनों ही चिकित्सा पद्धतियां अपनी अलग पहचान भी कायम रख सकें। तमिलनाडु में इन दोनों पद्धतियों से जुड़ी 50 से अधिक दवाएं विकसित करायी गयी हैं, जो दूरस्थ क्षेत्रों में काम कर रहे इन पद्धतियों के चिकित्सकों को उपलब्ध करायी गयी हैं।

12वीं पंचवर्षीय योजना के तहत सितंबर 2014 में प्रारंभ हुये राष्ट्रीय आयुष मिशन के तहत आयुष को मुख्यधारा में लाने के प्रयास शुरू हुये। इसका लक्ष्य आयुर्वेद, योग, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी चिकित्सा व्यवस्था को प्रसारित करना और इन चिकित्सा व्यवस्थाओं में शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था उपलब्ध कराना है। अभियान के तहत सरकार समाज की स्वास्थ्य संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इन वैकल्पिक उपचार व्यवस्थाओं को पुनर्जीवित, संगठित कर रही है। मिशन के तहत इन चिकित्सा पद्धतियों से संबंधित चिकित्सकों को डिस्पेंसरियों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और जिला अस्पतालों में तैनाती दी जा रही है। इसके अलावा इन चिकित्सा व्यवस्थाओं में इस्तेमाल होने वाले पौधों के संरक्षण, उत्पादन और प्रमाणीकरण के जरिये गुणवत्ता पर भी ध्यान दिया जा रहा है। आयुष वेलनेस सेंटर, आयुष द्वारा खेलों में उपचार आदि के भी प्रस्ताव हैं।

9.10 निष्कर्ष (Conclusion)

भारत को चिकित्सा बहुलवाद का जीवंत उदाहरण माना जाता है और व्यापक संदर्भ में देखा जाये तो भारत में बड़ी आबादी व तुलनात्मक रूप से प्रशिक्षित जैवचिकित्सा विशेषज्ञों के अभाव को ध्यान में रखते हुये यह आवश्यक भी बन जाता है। समृद्ध वर्ग तो सामान्यतः जैवचिकित्सा के महंगे सांस्थानिक उपचार और आयुर्वेदिक इलाज को भी हासिल कर लेते हैं, लेकिन निर्धन वर्ग के लोगों के लिये असंस्थागत चिकित्सा पर निर्भर रहना पड़ता है जिनकी गुणवत्ता बेहद खराब होती है। ऐसे में भारत में चिकित्सा व्यवस्थाओं के जनतंत्रीकरण के लिये यह आवश्यक है कि अधिसंख्य आबादी तक इनकी पहुंच बढ़ायी जाये। सरकार ने इस बात को समझा है और सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था को बेहतर बनाने के लिये ही आयुष अभियान प्रारंभ किया है, जिसके अच्छे परिणाम नजर भी आने लगे हैं। आने वाले वर्षों में ये प्रयास प्रत्ये व्यक्ति को उसकी इच्छा के अनुरूप चिकित्सा व्यवस्था से इलाज करवाने में मददगार होंगे।

9.11 अभ्यास प्रश्न (Exercise)

- उन ने कितने प्रकार की चिकित्सा व्यवस्थाएं बतायी हैं, इनके बारे में विस्तार से बतायें।

- पेशेवर या विशेषज्ञ, लोकसमाज या पारंपरिक बहुलवाद में क्या अंतर है?
- चिकित्सा बहुलवाद से क्या लाभ हैं, विस्तार से समझायें।
- चिकित्सा बहुलवाद के चयन के पीछे कौन से कारण मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं।
- भारत में प्रचलित विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं के बारे में बतायें।
- चिकित्सा एकीकरण से आप क्या समझते हैं?

9.12 भावी अध्ययन (Further Readings)

1. Abraham, Leena 2005. Indian Systems of Medicine and Public Health Care in India', in Leena V. Gongolli, R. Duggal and A. Shukla, ed., Review of Health Care in India. Mumbai: Centre for Enquiry into Health and Allied themes (CEHAT).
2. Cant Sarah And Ursula Sharma 1999, 'A New Medical Pluralism? Alternative Medicine, Doctors, Patients and The State'. Routledge, New York.
3. [Christine Wade](#) 2008. Medical Pluralism Among American Women: Results Of A National Survey, [Journal Of Womens Health \(Larchmt\)](#). Jun; 17(5): 829–840.
4. Das J, Hammer J. 2007. Location, Location: Residence, Wealth, And The Quality Of Medical Care In Delhi, India. Health Affair 26 (3): 338-351.
5. [Dinges](#) Martin 2017. Medical Pluralism In Europe And India: Concept, Historical Background, Perspectives Indian Journal Of Research In Homoeopathy, Volume 11, Issue 2 : 118-122
6. Dunn 1976, 'Traditional Asian Medicine And Cosmopolitan Medicine As Adaptive Systems', In , "Asian Medical Systems A Comparative Study" Ed. Leslie Charles. University Of California Press, London.
7. Geisler And Pool, 2005 , 'Medical Anthropology' . Berkshire Mc-Graw Hill Education.
8. Government of India. Ministry Of Health And Family Welfare. Planning And Evaluation Department Of Indian Systems Of Medicine And Homeopathy. Indian Systems Of Medicine And Homeopathy In India; 1998
9. Hardiman D 2007. Healing, Medical Power And The Poor: Contests In Tribal India. Econ Polit Wkly. Apr 21; 42 (16): 1404-08
10. Langford J M 2002, 'Fluent Bodies: *Ayurvedic Remedies For Postcolonial Imbalance*'. Durham, Nc: Duke University Press.
11. Naraindas Harish 2006. Of spineless babies and folic acid: evidence and efficacy in biomedicine and Ayurvedic medicine. *Social Science & Medicine*, 62, 11: 2658-2669.
12. Nisula T 2006. In The Presence Of Biomedicine: Ayurveda, Medical Integration And Health Seeking In Mysore, South India. *Anthropology & Medicine*. Dec; 13 (3): 207-24.
13. Shim J-M (2017) .The Coordination Of Plural Logics Of Action And Its Consequences: Evidence From Plural Medical Systems. *Plos One* 12(12)
14. Sujatha V and Abraham Leena 2012, 'Medical Pluralism in Contemporary India'. Orient Blackswan; New Delhi.
15. V. Sujatha 2011. Innovation within and between Traditions: Dilemma of Traditional Medicine in Contemporary India. *Science, Technology & Society* 16: (2): 191–213

-
16. World Health Organization. Legal Status Of Traditional Medicine And Complementary/Alternative Medicine: A Worldwide Review. Geneva: Who; 2001.
 17. World Health Organization. Who Traditional Medicine Strategy 2002-2005. Geneva: Who; 2002

इकाई -10**चिकित्सा देखभाल, अस्पताल एवं उपचार केन्द्र (Medical Care, Hospitals and Healing Centres)**

10.1: उद्देश्य

10.2: परिचय

10.3: अस्पताल संगठन

10.4: प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र का महत्व

10.5: पीएचसी में संचालित महत्वपूर्ण कार्यक्रम

10.6: अन्य केन्द्रों का ढांचा

10.7: निष्कर्ष

10.8: सन्दर्भ

10.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं:

1. चिकित्सकीय देखभाल के सम्बन्ध में जानना।
2. चिकित्सा सुविधा प्राप्त करने हेतु आवश्यक स्थानों का चयन।
3. चिकित्सा हेतु आवश्यक एवं सही स्थिति का ज्ञान होना।
4. चिकित्सालयों में चिकित्सा सुविधा प्राप्त करने हेतु क्रमवद्ध चरणों की स्थिति समझना।
5. आवश्यक चिकित्सा सुविधा हेतु विभिन्न चिकित्सा केन्द्रों की स्थिति को समझना।
6. विभिन्न स्वास्थ्य केन्द्रों में कार्यरत कर्मचारियों की स्थिति।

10.2: परिचय (Introduction)

सर्वप्रथम भारत वर्ष के स्वरूप भौगोलिक परिस्थितियों का आंकलन एवं विवेचन के पश्चात यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि चिकित्सकीय सुविधा आम जनमानस तक किन-किन माध्यमों से पहुंच रही है एवं उसका वास्तविक प्रतिशत कितना है। यह पर यह जानना अति आवश्यक है कि आम जन सामान्य तक चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाने हेतु सरकारें कृत संकल्प रही है। समय-समय पर विषय विशेषज्ञों द्वारा प्राप्त आंकड़ों एवं तथ्यों का आंकलन एवं विवेचन उपरान्त देश में स्वास्थ्य सेवाओं को सतही स्तर तक पहुंचाने हेतु सतत प्रयास किये जाते रहे हैं। देश की भौगोलिक स्थिति एवं आम जन सामान्य की आर्थिक स्थिति को आपस में जोड़ते हुए स्वास्थ्य के क्षेत्र में विभिन्न चरणों में सेवाओं को पहुंचाने का कार्य किया गया है।

10.3: अस्पताल संगठन (Hospital Organization)

प्रत्येक अस्पताल की व्यवस्था और संगठन अलग अलग होता किसी भी अस्पताल या चिकित्सालय का प्रबन्ध सरकारी या गैर सरकारी प्रबन्ध समिति के पास होता है। इसके विभिन्न चरण निम्न प्रकार है—

- **उपकेन्द्र:** प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र में 5000 जनसंख्या पर उक्त केन्द्र स्थापित होता है। तत्काल सामान्य चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाने हेतु केन्द्र में एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता (ANM), एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता को नियुक्त किया गया है। उक्त केन्द्र का कार्य आच्छादित जनसंख्या में 0 से 5 वर्ष तक के बच्चों एवं गर्भवती महिलाओं हेतु आवश्यक टीकाकरण करना है। साथ ही सामान्य रोगों हेतु आवश्यक औषधी वितरण भी स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं द्वारा किया जाता है।
- **प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र:** प्रत्येक 20 से 30 हजार की जनसंख्या पर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र बनाया गया है। आदीवासी क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए वहां पर जनसंख्या 20 हजार का मापदंड रखा गया है। उक्त केन्द्रों में चिकित्साधिकारी के साथ-साथ दवाई वितरण एवं अन्य कार्य हेतु आवश्यक स्टाफ नियुक्त किया गया है। उप केन्द्रों की तुलना में इसका स्वरूप बड़ा माना गया है साथ ही मिलने वाली चिकित्सा सुविधाओं का स्तर उपर का होता है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र में रोगी की चिकित्सकीय देखभाल हेतु चिकित्साल में भर्ती सुविधा उपलब्ध रहती है।
- **सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र:** उक्त केन्द्र लगभग 80 हजार जनसंख्या पर कार्य रकता है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के पश्चात विशेषज्ञ चिकित्सकों द्वारा स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान करने हेतु उक्त केन्द्र प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र से अगले चरण का स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने वाला केन्द्र माना गया है। इसमें चिकित्सा अधीक्षक के साथ-साथ अन्य रोगों हेतु आवश्यक चिकित्सा विशेषज्ञ उपलब्ध रहते हैं। सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों से रेफर किये गये रोगियों को आवश्यक चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाता है सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र में स्त्री रोग विशेषज्ञ, सर्जन, बाल रोग विशेषज्ञ, अस्ति रोग विशेषज्ञ, दंत रोग विशेषज्ञ, निश्चेतक उपलब्ध रहते हैं। सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र वृहद समुदाय को चिकित्सा सुविधा प्रदान करता है। सामुदायिक स्तर पर स्वास्थ्य सेवाओं को उच्च स्तरीय आकार प्रदान करने एवं निर्धन व्यक्ति, समुदाय तक स्वास्थ्य सेवाएं पहुंचाने हेतु परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा श्री एच0वी0कृष्णन अतिरिक्त मुख्य सचिव पश्चिम बंगाल की अध्यक्षता में सन् 1982 में कृष्णन कमेटी का गठन किया गया जिसका मुख्य कार्य उम्दा स्तर पर मुख्यतः निर्धन व्यक्तियों तक स्वास्थ्य सुविधा पहुंचाने हेतु आवश्यक दिशानिर्देश प्रदान कर कार्य करवाना था।
- **जिला चिकित्सालय:** सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र के पश्चात उच्च स्तरीय चिकित्सा सुविधा जन समुदाय प्रदान करने हेतु जिला चिकित्सालय की स्थापना की गई है। जिला चिकित्सालय जो कि प्रमुख चिकित्सा अधीक्षक के नियंत्रणाधीन रहता है में विभिन्न रोगों के आवश्यक निदान हेतु चिकित्सा विशेषज्ञ उपलब्ध रहते हैं। जिला चिकित्सालय उप केन्द्र, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र से रेफरल रोगियों एवं अन्य गम्भीर रोगों की चिकित्सा हेतु जिले में सवोच्च इकाई मानी जाती है। जिला चिकित्सालय में जहां रोगियों की आवश्यक शारीरिक जाँचें सम्भव है वहीं चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा विभिन्न गम्भीर रोगों का निदान किया जाता है। जिला चिकित्सालय चूंकि जिले का सबसे उच्च स्वास्थ्य माना गया है कारणवश यहा पर रोगियों की संख्या का भार निचले स्तर के चिकित्सालयों की अपेक्षा कई गुना ज्यादा रहता है। मुख्यतः जिला चिकित्सालय में स्वास्थ्य सेवाएं उच्च स्तर की प्रदान करने हेतु जिला चिकित्सालय तत्पर रहता है।

10.4: प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र का महत्व (Importance of Primary Health Centres)

सरकारों द्वारा चलाये जा रहे स्वास्थ्य से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों, योजनाओं, सुविधाओं आदि को ग्रामीण क्षेत्रों के आम जन सामान्य तक पहुंचाने का कार्य प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और अस्पतालों द्वारा संपन्न किया जाता है। स्वास्थ्य से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों, योजनाओं और कार्यक्रमों के लिये प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र मूल बिन्दु की तरह काम करते हैं। इन सभी कार्यक्रमों को प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में त्वरित स्वास्थ्य सुविधा एवं देखभाल हेतु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र सर्व सुलभ माध्यम है। इसके अतिरिक्त प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के मुख्य एवं महत्वपूर्ण कार्य निम्न हैं:

- संक्रामक रोगों की रोकथाम करना।
- पर्यावरण स्वच्छता एवं संतुलन, शुद्ध पेयजल वितरण प्रणाली का निरीक्षण करना।
- मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य (MCH)
- स्कूल स्वास्थ्य कार्यक्रम
- परिवार नियोजन
- स्वास्थ्य शिक्षा
- राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रमों को क्षेत्र में क्रियान्वित करना।

प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र में नियमित चिकित्साधिकारी क्षेत्र में सभी स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करने हेतु अधिकृत है। उक्त क्रम में एक चिकित्साधिकारी द्वारा मुख्यतः निम्न बिन्दुओं पर कार्य किया जाता है।

1. प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र बाह्य रोगी (OPD) विभाग को सम्भालना।
2. स्वास्थ्य केन्द्र की आन्तरिक सेवाओं को व्यवस्थित रख सेवाएं प्रदान करना।
3. समस्त आपातकालीन सेवाओं हेतु उपस्थित रहना।
4. लैब से सम्बन्धित कार्यों का समन्वय करना।
5. प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र से गम्भीर रोगियों को उच्च चिकित्सा संस्थानों में रेफर करना।

प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के चिकित्साधिकारी द्वारा क्षेत्र में स्वास्थ्य आदि पर कार्य कर रही समस्त संस्थाओं के साथ समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। इसके साथ ही समस्त सरकारी विभाग यथा राजस्व, कृषि, शिक्षा आदि विभागों के साथ आवश्यक समन्वय व संयोजन स्थापित कर स्वास्थ्य सेवाओं को महत्ता प्रदान करना भी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के चिकित्साधिकारी कार्य है।

10.5: पीएचसी में संचालित महत्वपूर्ण कार्यक्रम (Important programmes in PHCs)

- **ग्रामीण स्वास्थ्य प्रशिक्षण संस्थान:** कुछ एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में मेडिकल कालेज के सामुदायिक चिकित्सा से सम्बन्धित कार्यों हेतु आवश्यक प्रशिक्षण उपलब्ध करवाने हेतु ग्रामीण स्वास्थ्य प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किया जाता है। इस केन्द्र में स्वयं का स्टाफ / कर्मचारी कार्यरत रहते हैं जो कि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के साथ आवश्यक समन्वय स्थापित कर स्वास्थ्य सेवाओं को क्षेत्र तक पहुंचाने का कार्य करते हैं जो कि मेडिकल में स्नातक कर रहे छात्रों के प्रशिक्षण हेतु आवश्यक है।

- **मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य:** प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र में मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य के अन्तर्गत गर्भवती महिलाओं की प्रसवपूर्व एवं प्रसव पश्चात नियमित जांचें प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की पूर्ण जिम्मेदारी मानी गई है। केन्द्र के अधीन आच्छादित जनसंख्या में कोई भी प्रसव अप्रिशिक्षित द्वारा ना किया जाय। सरकार द्वारा प्रशिक्षित दाई व स्वास्थ्य कर्मियों द्वारा प्रसव कराये जाने के दिशा-निर्देशों के क्रम में 1993 से प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मी द्वारा कराये गये प्रशव की दर बढ़कर 48.8 प्रतिशत तक पहुंच गई है।
- **परिवार नियोजन:** भारत सरकार द्वारा चलाये जा रहे परिवार नियोजन कार्यक्रम की सफलता एवं क्रियान्वयन में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी गई हैं। परिवार नियोजन से सम्बन्धित समस्त सेवाओं को जनसामान्य तक पहुंचा स्वास्थ्य लाभ के सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करता है। चूंकि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र दूरस्त ग्रामीण क्षेत्रों के जनमानस को स्वास्थ्य लाभ पहुंचाने का माध्यम है कारणवश प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र पर क्रियान्वित होने वाले कार्यक्रमों का आच्छादित जनसंख्या पर सीधा प्रभाव रहता है।
- **स्कूल स्वास्थ्य कार्यक्रम:** प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के चिकित्सा अधिकारी से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले स्कूलों में छात्रों के स्वास्थ्य को दृष्टिगत रखते हुए समय-समय पर स्वास्थ्य जागरूकता कार्यक्रमों का आयोजन करें जिसके माध्यम से छात्रों को स्वास्थ्य सम्बन्धित जानकारी प्राप्त हो सकें।
- **राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम:** भारत सरकार द्वारा एक बड़े पैमाने पर व्यक्ति के स्वास्थ्य में सुधार हेतु वृहद स्तर पर राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया गया है। उक्त सभी कार्यक्रम परिवार स्वास्थ्य से सम्बन्धित है। उदाहरण के रूप में मलेरिया, फाइलेरिया, कुष्ठ रोग, तपेदिक, दृष्टि रोग आदि सम्बन्धित विभिन्न राष्ट्रीय कार्यक्रम वर्तमान में सफलतापूर्वक क्रियान्वित हो रहे है।

10.6: अन्य केन्द्रों का ढांचा (Structure of Other Centres)

सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र (Community Health Centres): सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों में (आई0पी0एच0एस0) इण्डियन पब्लिक हेल्थ स्टैन्डर्ड के मानकानुसार निम्नलिखित सेवाएँ आच्छादित जनसंख्या क्षेत्रों को उपलब्ध करवाना अति आवश्यक है। प्रत्येक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र में इण्डियन पब्लिक हेल्थ स्टैन्डर्ड 2010 के अनुसार निम्न कार्मिक, चिकित्सकों का होना अनिवार्य एवं आवश्यक माना गया है। जो निम्न प्रकार है।

1. जनरल सर्जन – 01 (प्रस्तावित)
2. फिजीशियन– 01 (प्रस्तावित)
3. स्त्री एवं प्रसूति रोग विशेषज्ञ –01 (प्रस्तावित)
4. बाल रोग विशेषज्ञ – 01 (प्रस्तावित)
5. निस्चेतक –01 (प्रस्तावित)
6. पब्लिक हेल्थ मैनेजर – 01 (प्रस्तावित)
7. नेत्र सर्जन – 01 (प्रस्तावित)
8. दंत रोग विशेषज्ञ –01 (प्रस्तावित)
9. सामान्य कार्य चिकित्साधिकारी – 06 (प्रस्तावित) कम से कम दो महिला चिकित्सक
10. आयुर्वेद आयुष विशेषज्ञ –01 (प्रस्तावित)
11. सामान्य कार्य आयुष विशेषज्ञ –01 (प्रस्तावित)

सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र हेतु सहयोगी अन्य कर्मचारी

1. स्टाफ नर्स – 19
2. पब्लिक हेल्थ नर्स – 01
3. ए0एन0एम– 01
4. फार्मासिस्ट – 01
5. लैब टैक्नीशियन – 01
6. रेडियोग्राफर – 01
7. नेत्र सहायक– 01
8. वार्ड बॉय– 01
9. स्वच्छक – 01
10. पंजीकरण लिपिक– 01
11. लेखाकार – 01
12. डाटा इंटी आपरेटर – 01
13. ओ0पी0डी0 अटैण्डेन्ट – 02
14. सल्य सहायक – 01

जिला चिकित्सालय चूंकि जिले में एक ही होता है कारणवश जिले के प्रत्येक क्षेत्र के विभिन्न तरीके के रोगी उपचार हेतु यहां पर आते हैं। जिला चिकित्सालय में सामान्यतः वरिष्ठ फिजीशियन उच्च स्तर के सर्जन वरिष्ठ आँख, कान, गला रोग विशेषज्ञ, नेत्र रोग विशेषज्ञ, दंत रोग विशेषज्ञ, निस्चेतक, रेडियोलॉजी विशेषज्ञ, हृदय रोग विशेषज्ञ आदि का होना आवश्यक है। उक्त रोगों से सम्बन्धित विभिन्न इकाइयां जिला चिकित्सालय में कार्यरत रहती हैं।

10.7: निष्कर्ष (Conclusion)

उपरोक्त बिन्दुओं का क्रमवार आंकलन एवं विवेचन करने के उपरान्त यह तथ्य पाया गया है कि स्वास्थ्य सेवाओं को क्रमवद्ध रूप से क्रियान्वित करने हेतु सरकार द्वारा विभिन्न स्तरों पर चरणवद्ध रूप से स्वास्थ्य सेवाओं का ढांचा तैयार किया गया है। जनसंख्या अनुपात अनुसार प्रत्येक स्वास्थ्य केन्द्र की क्षमताओं एवं कार्यों का निर्धारण किया गया है ताकि स्वास्थ्य सेवाओं द्वारा आप जन सामान्य को लाभान्वित किया जा सकें।

10.8: सन्दर्भ (References)

- 1- Joseph G. Desrochers J.Kalathil M. Health Care in India Bangalore: Center for Social Actin. 4-6, 1994.
- 2- WHO Primary Health Care HFA Sr. No 1,1978
- 3- India Public Health Standards (IPHS) for Primary Helth Centres. Guidelines. Directorate Genral of Health Services. Ministry of Health and Family Welfare. Government of India. March 2006.
- 4- Primary Health Care : A Joint Report by the Dierector Generl of WHO and the Executive Director of UNICEF. 1978;2-6.23-3.2

इकाई -11**चिकित्सा से संबद्ध संस्थाएं (Allied Institutions)**

11.1: उद्देश्य

11.2: परिचय

11.3: संबद्ध संस्थाएं

11.4: निष्कर्ष

11.5: सन्दर्भ

11.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं—

- चिकित्सा—स्वास्थ्य से संबद्ध संस्थाओं का परिचय
- परिवार का महत्व एवं पड़ोसी की भूमिका
- परिवार के साथ सम्बन्ध संस्थाओं आदि की भूमिका
- गैर सरकारी संस्थाएं एवं उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य

11.2: परिचय (Introduction)

व्यक्ति के स्वास्थ्य की उचित देखभाल हेतु जहां विभिन्न स्तरों पर चिकित्सालय स्थापित हैं वहीं इनके साथ-साथ अन्य संस्थानों परिवार व पड़ोसी आदि का भी स्वास्थ्य देखभाल में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है। प्रायः देखा गया है कि सरकारी चिकित्सालय की दूरी और आवागमन का साधन समय पर रोगी की देखभाल में प्रतिकूल भूमिका निभाते हैं। ऐसे समय में रोगी को प्राथमिक उपचार प्रदान करने में अन्य चिकित्सालय से सम्बद्ध संस्थानों, परिवार व पड़ोसी आदि की महत्वपूर्ण भूमिका परिलक्षित होती पाई गई है। विभिन्न शोधों में यह तथ्य सामने आया है कि परिवार या पड़ोसी के द्वारा प्रदान की जाने वाली प्राथमिक चिकित्सा द्वारा रोगी की जान बचाई जा सकती है। इस हेतु यह भी अति आवश्यक है कि विभिन्न संस्थानों परिवार व पड़ोसियों को आवश्यक तत्काल प्राथमिक उपचार का संक्षिप्त ज्ञान विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रदान किया जाय।

11.3: संबद्ध संस्थाएं (Allied institutions)

विभिन्न गैर सरकारी संगठन क्षेत्र में कार्यरत जन जागरूकता समूह द्वारा समय-समय पर क्षेत्र में जाकर सामुदायिक जागरूकता सभाओं का आयोजन किया जाता है। जिसमें व्यावहारिक रूप से गम्भीर बीमारियों में प्राथमिक उपचार के सम्बन्ध में बतलाया जाता है। यह भी देखने में आया है कि ऐसे जागरूकता कार्यक्रमों द्वारा समुदाय में जागरूकता उत्पन्न हुई है जो कि कई रोगियों को तत्काल प्राथमिक उपचार देकर जान बचाने में कारगर सिद्ध हुई है। उक्त क्रम सम्बद्ध संस्थाओं से तात्पर्य ऐसी संस्थाओं से है जो कि सरकार द्वारा स्थापित स्वास्थ्य सेवाओं के साथ आवश्यक समन्वय स्थापित कर दुर्गम अतिदुर्गम क्षेत्रों तक विभिन्न माध्यमों द्वारा स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने का कार्य करती हैं।

उदाहरण के रूप में सरकार द्वारा क्रियान्वित पुनरक्षित राष्ट्रीय तपेदिक नियंत्रण कार्यक्रम (RNTCP) इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा कार्यक्रम के सफल क्रियान्वयन हेतु रोगियों की सुविधा के लिए क्षेत्र में डाट्स प्रोवाइडर बना दिये गये हैं ताकि रोगी को अपने घर से दूर चिकित्सालय तक दवा लेने न जाना पड़े। इसी क्रम में सम्बद्ध संस्थाओं को साथ लेकर राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम (NACO), विभिन्न संक्रामक रोगों एवं तत्काल चिकित्सकीय आपदा से सम्बन्धित कार्यक्रमों के सफल एवं सुचारु क्रियान्वयन हेतु आवश्यक सहयोग लिया जाता रहा है जिसके परिणाम भी सकारात्मक पाये गये हैं।

गैर सरकारी संस्थाएँ एवं उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य

इस तरह विभिन्न गैर सरकार संगठन (एन.जी.ओ.) सरकार के साथ समन्वय स्थापित कर स्वास्थ्य सुविधाओं को आम जन सामान्य तक पहुंचाने का कार्य कर रहे हैं। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि स्वास्थ्य सेवाओं में सम्बद्ध संस्थाओं की भूमिका भी अति महत्वपूर्ण है। इसी तरह यह भी देखने में आया कि ग्रामीण क्षेत्रों में बिना आवश्यक डिग्री डिप्लोमा के व्यक्ति चिकित्सकीय कार्य करते हैं जो कि पूर्णतः सरकार द्वारा प्रतिबन्धित एवं अवैध हैं। किन्तु शोध में यह तथ्य भी उजागर हुए हैं कि डायरिया जैसी बीमारियों में उक्त कथित चिकित्सकों द्वारा समय पर रोगी को उपचार देना डिहाइड्रेशन (पानी की कमी) से होने वाली मृत्यु से बचाया गया है। कारण स्पष्ट है कि उक्त कथित चिकित्सक ग्रामीण क्षेत्र में अन्दर तक पहुंचकर अपना व्यवसाय करते हैं यहां तक देखने में आया है कि उक्त तथा कथित चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा हेतु धनराशि न होने पर उधार पर भी रोगी का उपचार किया जाता है।

उपरोक्त तथ्यों के विवेचन पश्चात यह स्पष्ट होता है कि सम्बद्ध संस्थाओं परिवार एवं पड़ोसी आदि का भी स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने या यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक देखभाल में अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

11.4: निष्कर्ष (Conclusion)

समाज सेवा एवं परिवार पड़ोसी व सम्बन्ध संस्थाओं के सम्बन्ध में आंकलन करने पर ज्ञात होता है कि स्वास्थ्य सेवा के मजबूत ढांचे के खड़े रहने के पीछे कार्यरत सम्बन्ध संस्थाएं परिवार व पड़ोसी का भी एक अति महत्वपूर्ण योगदान रहता है जबकि समान्यतः स्वास्थ्य के साथ हम परिवार एवं सम्बद्ध संस्थाओं की अनदेखी करते हैं किन्तु विभिन्न अध्ययन एवं व्यवहारिक रूप में यह पाया गया है कि स्वास्थ्य सेवाओं को उच्च स्तर प्रदान करते हुए किसी भी व्यक्ति की जान बचाने के पीछे परिवार पड़ोसी एवं सम्बन्ध संस्थाओं की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर किये गये शोध कार्य इसकी पुष्टि करते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि स्वास्थ्य सेवा के तत्काल स्तर को प्रथम बिन्दु मानते हुए परिवार, पड़ोसी एवं सम्बद्ध संस्थाओं की एक महत्वपूर्ण एवं जिम्मेदारी से पूर्ण भूमिका होती है।

11.5: सन्दर्भ (References)

1. Govt. of India. Report of the Committee on integration of Health Services. New Delhi: Ministry of Health, 19967.
2. Govt. of India. Report of the Committee on Multipurpose Workers under Health and Family Planning Programme. New Delhi. Ministry of Health 1973.
3. Govt. of India. Report of the Group on Medical Education and Support Manpower. New Delhi: Ministry of Health, 1975.

इकाई -12

औषधि (Pharmaceuticals)

12.1: उद्देश्य

12.2: परिचय

12.3: औषधियों के रखरखाव के चरण

12.4: औषधि वितरण नियम

12.5: औषधियों का वर्गीकरण

12.6: निष्कर्ष

12.7: सन्दर्भ

12.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं—

1. औषधि के सम्बन्ध में जानना ।
2. जीवन रक्षा हेतु औषधियों का महत्त्व ।
3. औषधियों की रोगानुसार महत्ता, प्रकार ।
4. औषधियों की आवश्यक रखरखाव हेतु विभिन्न चरणों का ज्ञान ।
5. औषधि वितरण एवं नियम ।

12.2: परिचय (Introduction)

स्वास्थ्य सेवाओं की प्राप्ति एवं उपचार हेतु एक अहम बिन्दु औषधी (Medicine) मानी गई है। अर्थात् उन स्वास्थ्य सुविधा आम जन सामान्य को तभी पूर्ण रूप से प्राप्त होती है जब उसे आवश्यक उपचार पद्धति में रोगानुसार औषधियां प्राप्त हो। उपरोक्त के संदर्भ में यह जानना भी अति आवश्यक है कि पूर्ण स्वास्थ्य ढांचे में औषधि का क्या स्थान है? किसी भी चिकित्सालय चाहे वह उप केन्द्र, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र, जिला चिकित्सालय या मेडिकल कालेज हो वहां पर दवाईयों के भण्डारण हेतु समुचित व्यवस्था एवं क्रमवद्ध रूप से औषधी वितरण हेतु आवश्यक कर्मचारी एवं स्थान हो । इस हेतु आवश्यक व्यवस्था सभी स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने वाले केन्द्रों में उनकी क्षमतानुसार संरचना में निर्धारित की गई है।। दवाओं हेतु प्रत्येक चिकित्साल में उप औषधालय, औषधालय एवं केन्द्रीय औषधालय का होना अति आवश्यक है। उपरोक्त क्रम में केन्द्रीय औषधालय द्वारा स्वास्थ्य केन्द्रों की मांग के अनुरूप दवाईयों की आपूर्ति सुनिश्चत की जाती है।

12.3: औषधियों के रखरखाव के चरण (Steps of Maintening Pharmaceuticals)

यहां पर यह जानना अति आवश्यक है कि प्रत्येक स्वास्थ्य केन्द्र में दवाईयों की आपूर्ति केन्द्र की क्षमता व चिकित्सालय की बैड क्षमतानुसार ही की जाती है। इसमें उप केन्द्र को दी जाने वाले

औषधियां उसी स्तर की प्रदान की जाती हैं जो कि केन्द्र में कार्यरत स्वास्थ्य कार्यकर्ता या ए0एन0एम0 स्तर की हो। इस हेतु भारत सरकार द्वारा ड्रग सैड्यूल बनाया गया है जिसमें प्रत्येक दवा किस स्तर के कर्मचारी/चिकित्सक के द्वारा दी जानी है। इस हेतु आवश्यक दिशानिर्देश दिये गये हैं। औषधि कार्यों हेतु यह भी आवश्यक माना गया है कि दवाओं के रख रखाव के लिए कर्मचारियों को आवश्यक एवं उच्च स्तर का प्रशिक्षण प्राप्त हो ताकि केन्द्रों से प्राप्त औषधियों का निर्देशानुसार आवश्यक रख रखाव किया जा सके। औषधालय में कार्यरत समस्त फार्मसिस्ट के लिए आवश्यक है कि वह वाछित शैक्षिक योग्यता के साथ पूर्ण रूप से प्रशिक्षित हो ताकि औषधियों के रख रखाव एवं वितरण में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पाये। औषधि वितरण में त्रुटि जन हानि की प्रतीक मानी गई है। एक फार्मसी के अन्दर दवाओं के रखरखाव एवं उनको निर्धारित तापमान पर रखने हेतु आवश्यक उपकरणों, संयंत्रों का होना आवश्यक है साथ ही निश्चित तापमान पर रखी गई औषधियों का प्रत्येक दिवस तापमान पंजीकाओं में अंकित होना आवश्यक माना गया है। यहां पर यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्वास्थ्य केन्द्रों की क्षमतानुसार प्रत्येक स्वास्थ्य केन्द्र पर जीवन रक्षक औषधियों का होना अत्यावश्यक है। इस हेतु स्पष्ट निर्देश केन्द्रीय औषधि निदेशालय द्वारा दिये गये हैं।

12.4: औषधि वितरण नियम (Pharmaceutical Distribution Rules)

1. अलग-अलग श्रेणी की दवाओं के रखरखाव हेतु अलग-अलग कैबिनेट को होना आवश्यक है।
2. वाह्य रूप से प्रयोग होने वाली औषधियों को आन्तरिक रूप से प्रयोग होने वाली औषधियों से अलग रखा जाना चाहिए।
3. विषैली औषधियों अलग कपबोर्ड (अलमारी) में ताला लगाकर रखना चाहिए।
4. विषैली औषधियों वाली अलमारी किसी वरिष्ठ स्वास्थ्य कर्मचारी के प्रभार में दी जानी चाहिए।
5. समस्त विषैली औषधियों में लाल स्याही से बिष लिखकर रखा होना चाहिए।
6. प्रत्येक औषधि की समाप्ति दिनांक एवं बैच न0 स्पष्ट रूप से लिखा होना आवश्यक है।
7. आपातकालीन औषधिया ऐसे स्थान पर रखी होनी चाहिए जहां पर आपात स्थिति में तत्काल सुगमता से उपलब्ध हो सकें।

औषधियों का वितरण इस प्रकार हो कि उसके सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो सकें। इसके लिए आवश्यक है कि वितरण करने वाले को सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो। उदाहरण के रूप में—

1. औषधि की प्रकृति अर्थात् दवाई का नाम वर्गीकरण प्रभाव व मात्रा।
2. औषधि आदेश के आवश्यक भाग को संरक्षित रखना।
3. औषधि लिखने में प्रयुक्त संक्षिप्त रूप एवं संकेत।
4. उपयोग में आने वाले माप तोल।
5. दवाइयां देने के नियम।

औषधियों के समुचित एवं नियमानुसार वितरण हेतु यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम औषधि नियंत्रक भारत सरकार द्वारा दी गई गाइडलाइन का भलीभाँति ज्ञान हो। एक फार्मासिस्ट, चिकित्सा के लिए अतिआवश्यक है कि वह औषधि नियंत्रक भारत सरकार के दिशानिर्देशों का गम्भीतापूर्वक पालन करें। चिकित्सक द्वारा लिखी जाने वाली औषधि आदेश में 6 मुख्य बातें होती हैं। दवा मरीज को सुरक्षित रूप से दी जा सकें इसके लिए आवश्यक है कि औषधि आदेश सही तरीके से पढ़ना आता हो।

1. मरीज (रोगी) का नाम।
2. औषधि का नाम।
3. औषधि की मात्रा या खुराक।
4. देने की विधि।
5. दिनांक
6. चिकित्सक के हस्ताक्षर

12.5: औषधियों का वर्गीकरण (Classification of Pharmaceuticals)

औषधियों को ऐसे पदार्थ के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो निम्नलिखित प्रयोजन से दिये जा सकते हैं—

1. स्वास्थ्य की उन्नति हेतु ।
2. रोगों से बचाव हेतु।
3. रोगों के निदान हेतु ।
4. रोगों के प्रभाव को कम करने हेतु

सभी औषधियों के दो नाम होते हैं एक रासायनिक एवं दूसरा व्यापारिक रासायनिक जिससे फार्मासिस्ट परिचित रहते हैं। एक ही प्रकार की औषधि कई व्यापारिक संगठन द्वारा बनाई जा सकती है। इसलिए उनके कई नाम हो सकते हैं किन्तु उसका रासायनिक नाम केवल एक ही हो सकता है। उदाहरण के रूप में पैरासिटामॉल एक रासायनिक नाम है जबकि व्यापारिक रासायनिक नाम से कालपोल, मैटासिन, क्रोसिन आदि दवा उपलब्ध हैं। औषधियों को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। उनके संगठन, उनकी क्रिया व उनके उपयोगों के आधार पर उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

- 1- पीड़ाहारी या दर्द निवारक (analgesic)
2. संवेदनाहारी या निष्चेतक (anaespathich)
3. कृमिनाशक (vermifuges)
4. ज्वरनाशक (antipyritics)
- 5- प्रतिकार या विष निवारक (antidotes)
6. प्रतिसंक्रामक या संक्रमण रोधी (antiinfectives)
7. प्रर्धा रोधी (antiinflamnatoruy)
8. स्कन्ध रोधी (anticoagulants)
9. हिस्टेमिन रोधी (antihistamin)
- 10- एन्टासीड या अम्ल रोधी (antacids)

11. प्रतिजैविक (antibiotics)
12. कफ रोधी (antitussive)
- 13- दमा रोधी (antiasthmatics)
- 14- तपेदिक रोधी (antitubercular)
- 15- रक्त शर्करा रोधक (hypoogalycaemics)

औषधियां प्रमुख रूप रोग निदान हेतु प्रयोग की जाती है। औषधियां बाजार में कई रूपों में उपलब्ध रहती है इसी के अनुरूप इनको देने की विधि भी रहती है। यहां यह ध्यान रखा जाना अतिआवश्यक है कि दवाइयों के वांछित एवं ठीक स्वरूप का उल्लेख हो।

12.6: निष्कर्ष (Conclusion)

औषधि फार्मासुटिकल जैसे महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में आधारभूत जानकारी प्राप्त करने पर यह तथ्य परिलक्षित होता है कि औषधियां स्वास्थ्य सेवा का एक महत्वपूर्ण भाग है। या यह कहा जा सकता है कि दोनों एक दूसरे के पूरक है। स्वास्थ्य सेवा तबतक पूर्ण नहीं मानी जा सकती जबतक कि उसमें औषधि अनुभाग की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका न हो। विवेचन में यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि औषधियों की किसी भी व्यक्ति के जीवन रक्षा हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उच्च स्तर की भूमिका होती है।

12.6: निष्कर्ष (Conclusion)

- WHO. Planning and Programing for Nursing Services. Public Health Papers No. 197; 44.
- Govt. of India Report of the Health Survey and Development Committee. Shimla: Govt. of India Press, 1946.
- Planning Commission, Govt. of India. Draft Approvel Paper to Tenth Five Year Plan (2002-2007). Published on May 1, 2001.

इकाई -13**भारत में स्वास्थ्य नियोजन एवं नीतियां (Health Planning and Policy in India)****13.0: उद्देश्य****13.1: परिचय****13.2: भारत में स्वास्थ्य नियोजन****13.3: विभिन्न स्वास्थ्य समितियां और उनके सुझाव****13.4: पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य नियोजन****13.5: भारत में स्वास्थ्य नीतियां****13.6: भारत में स्वास्थ्य कार्यक्रम****13.7: निष्कर्ष****13.8: अभ्यास प्रश्न****13.9: सहायक अध्ययन****13.0: उद्देश्य (Objectives)**

इस इकाई में हम भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की जरूरतों और इनके लिये आवश्यक नीतियों, नियोजन की जानकारी हासिल करेंगे।

13.1: परिचय (Introduction)

भारतीय संविधान में हर नागरिक को बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने के लिये सरकार की जिम्मेदारी तय किये जाने के बावजूद भारत में स्वास्थ्य और स्वास्थ्य सेवाएं कभी प्राथमिकता में नहीं रहीं। संविधान में कई अनुच्छेदों में देश के नागरिकों के अच्छे स्वास्थ्य को बनाये रखने की बात कही गयी है। दुनियाभर में विकसित देशों में अपनी आबादी की सेहत के लिये विशेष स्वास्थ्य योजनाएं चलायी जाती हैं, जिनमें स्वास्थ्य बीमा या सरकार द्वारा संचालित स्वास्थ्य सेवाएं अथवा दोनों शामिल हैं। विकासशील देशों में यह संभव नहीं हो पाता। इसका एक मुख्य कारण यह है कि विकास में बाधक बनने वाले कारक ही अविकसित स्वास्थ्य सेवाओं के लिये जिम्मेदार हैं। सकल घरेलू उत्पाद का महज 1.2 प्रतिशत स्वास्थ्य पर खर्च करने से इस मामले में भारत काफी पीछे है।

13.2: भारत में स्वास्थ्य नियोजन (Health Planning in India)

स्वतंत्र भारत में वर्ष 1983 तक संगठित स्वास्थ्य नीति नहीं थी। तब तक केन्द्र सरकार की ओर से इस दिशा में कार्यक्रमों का ही संचालन किया जाता था, जिनके लिये सरकार विभिन्न परिषदों, समितियों से सुझाव लेती थी। यद्यपि स्वास्थ्य राज्य का विषय है, लेकिन राज्य सरकारों के स्तर पर भी इस दिशा में कोई पहल होती नहीं थी। स्वास्थ्य कार्यक्रमों का संचालन केन्द्र सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के तहत करती थी। इनमें से अधिकतर कार्यक्रम संरक्षा अथवा प्रोत्साहन आधारित थे, उदाहरण के लिये महामारी नियंत्रण और शिशु-मातृ स्वास्थ्य कार्यक्रम। इन कार्यक्रमों के संचालन के

लिये कोष की व्यवस्था केन्द्र सरकार करती थी। सफाई और अन्य स्वास्थ्य देखभाल संबंधी लक्ष्यों जैसे मेडिकल कॉलेज, अस्पताल, डिस्पेंसरी आदि की स्थापना के लिये राज्य सरकारों को अपने स्तर पर ही संसाधनों और कोष की व्यवस्था करनी होती थी। जनसंख्या नियंत्रण, परिवार कल्याण, चिकित्सा शिक्षा, दवा निर्माण एवं नियंत्रण जैसे कुछ कार्यक्रम राज्य और केन्द्र दोनों सरकारों के समन्वय से चलाये जाते हैं। ऐसे कार्यक्रमों में आर्थिक व्यवस्था का कुछ हिस्सा केन्द्र सरकार की ओर से तो कुछ भाग राज्य सरकार की ओर से दिया जाता है।

13.3: विभिन्न स्वास्थ्य समितियां और उनके सुझाव (Various Health Committees and Recommendations)

सोखे समिति (Sokhey Committee, 1938)

भारत की पहली समिति थी, जिसने देश के लोगों की स्वास्थ्य हालत पर ध्यान दिया। वर्ष 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने यह समिति गठित की थी। समिति ने देशभर में कुपोषण और सफाई की व्यवस्था नहीं होने की समस्या को प्रमुख रूप से उठाया गया। उस दौर में भारत में मलेरिया, चेचक, हैजा, आंत्रज्वर, टिटनस, टीबी और डिप्थीरिया जैसे संक्रामक रोगों से लोग बहुतायत में पीड़ित होते थे। समिति ने देश में उपलब्ध स्वास्थ्य सुविधाओं के बिखराव को भी उभारा। समिति ने उपचार और संरक्षा दोनों कार्यों को एकीकृत करने का सुझाव देते हुये स्वास्थ्यकर्मियों को लोगों और समुदायों में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता अभियान चलाने, प्राथमिक उपचार, सामान्य स्वास्थ्य उपचार का प्रशिक्षण देने की जरूरत जतायी। समिति ने आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों के राज्य की स्वास्थ्य व्यवस्था में एकीकरण और इन पद्धतियों से जुड़े लोगों को प्रशिक्षण देने का सुझाव दिया।

बोहरे समिति (Bohre Committee, 1946)

भारत में स्वास्थ्य की स्थिति पर सबसे पहली और सर्वाधिक महत्वपूर्ण रिपोर्ट पेश की। सर जोसेफ बोहरे इसके अध्यक्ष थे, जिन्होंने ब्रिटिश भारत में स्वास्थ्य संगठनों, व्यवस्थाओं की तत्कालीन हालत और भावी विकास के लिये सुझाव दिये। उस समय तक राष्ट्रीय स्तर पर इससे पहले कार्यवाही तय करने को लेकर ऐसी कोई रिपोर्ट नहीं आयी थी। 1946 में पेश की गयी इस 'स्वास्थ्य सर्वेक्षण एवं विकास' रिपोर्ट में देश में उपलब्ध स्वास्थ्य सेवाओं और सुविधाओं की समीक्षा की गयी और स्वास्थ्य प्रशासन के भविष्य को इंगित किया गया। बोहरे समिति को भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा का प्रतीकचिह्न माना जाता है, क्योंकि इस रिपोर्ट में ही सबसे पहले प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं और तीन चरणीय स्वास्थ्य सेवाओं का सुझाव दिया गया।

समिति ने सर्वे के दौरान पाया कि भारत में स्वास्थ्य स्तर बेहद कमजोर था। मृत्युदर काफी अधिक थी और जन्मोपरांत औसत जीवन प्रत्याशा महज 27 साल थी। समिति ने स्पष्ट किया कि स्वास्थ्य और विकास परस्पर निर्भर हैं। समिति ने पोषण, सफाई, जल वितरण और बेरोजगारी को स्वास्थ्य से जुड़े अहम कारकों में शामिल किया। समिति ने मलेरिया, टीबी, चेचक, कुष्ठ, प्लेग, हैजा, फिलेरियासिस, यौन रोगों और मनोरोगों के उपचार के लिये विशेष प्रयासों की जरूरत जतायी। समिति ने पाया कि अधिकतर स्वास्थ्य समस्याओं का उपचार और संरक्षण संभव है, इसलिये समिति ने उपचार और संरक्षण संबंधी कार्यों के प्रशासनिक स्तर पर एकीकरण पर जोर दिया और सुझाव दिया कि मरीज के इलाज के दौरान दोनों तरह की गतिविधियां समान्तर संचालित की जानी चाहिये। समिति ने ग्रामीण आबादी पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया और इस बात पर जोर दिया कि स्वास्थ्य व्यवस्था लोगों के नजदीक उपलब्ध होनी चाहिये। समिति ने उपचार और संरक्षण दोनों तरह की स्वास्थ्य सेवाओं को निःशुल्क उपलब्ध कराने का भी सुझाव दिया, ताकि किसी भी पीड़ित को

भुगतान नहीं कर पाने की स्थिति का सामना नहीं करना पड़े। आधुनिक चिकित्सा सेवा में परीक्षण, उपचार, परामर्श, प्रयोगशाला आदि की जटिलताओं को समझते हुये समिति ने सामूहिक उपचार प्रक्रिया का सुझाव दिया, जिसमें सभी कार्य एकसाथ, एक ही स्थान पर उपलब्ध हों।

समिति ने पाया कि तत्कालीन प्रति एक लाख आबादी पर न्यूनतम 567 बेड का अस्पताल, 62 डॉक्टर और 151 नर्सों की आवश्यकता है। ऐसे में समिति ने देशभर में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना की जरूरत जतायी, जो तीन चरणों की स्वास्थ्य सेवाओं का प्रारंभ हो। समिति ने तीन चरणों में स्वास्थ्य सेवाओं के तहत प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, द्वितीयक केन्द्र और जिला अस्पताल की कल्पना दी, जिनका लक्ष्य तीन लाख आबादी को स्वास्थ्य सेवाएं देना हो। समिति ने स्पष्ट किया कि चिकित्सक को सामाजिक चिकित्सक (Social Physician) होना चाहिये, इसके लिये समिति ने चिकित्सा शिक्षा के दौरान तीन माह के विशेष कोर्स की जरूरत जतायी, जिसके तहत संरक्षण और उपचार के सामाजिक तरीकों का प्रशिक्षण दिया जाये। समिति का दृष्टिकोण न सिर्फ घर, बल्कि कार्यस्थल पर भी स्वास्थ्य को बरकरार रखने का था। समिति ने माताओं और शिशुओं के लिये विशेष कार्यक्रम चलाने और औद्योगिक कर्मचारियों के लिये विशेष स्वच्छता व व्यावसायिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों के संचालन का सुझाव दिया।

बोहरे समिति के प्रस्तावों को भारत सरकार ने वर्ष 1952 में मंजूर किया, लेकिन इन पर आंशिक रूप से ही काम हो सका। स्वास्थ्य नीति के लिहाज से इसे पहला दस्तावेज माना जाता है। लेकिन, आज भी 80 प्रतिशत ग्रामीण, पिछड़े वर्गों, महिलाओं की आबादी के लिहाज से देखें तो बोहरे समिति के सुझावों को अमल में नहीं लाया जा सका है। बोहरे समिति के बाद कई अन्य समितियां भी इस दिशा में बनीं। इनमें मुदालियर कमेटी (1959), चड्ढा कमेटी (1963), मुखर्जी कमेटी (1965), जुगलवाला कमेटी (1967), करतार सिंह कमेटी (1973), श्रीवास्तव कमेटी (1975) और बजाज कमेटी (1985) शामिल हैं। इन सभी ने समय-समय पर जनता की स्वास्थ्य जरूरतों और इनकी पूर्ति के लिये आवश्यक कदमों पर अपनी रिपोर्ट पेश कीं।

मुदालियर समिति (Mudaliar Committee, 1959)

बोहरे कमेटी की रिपोर्ट और प्रारंभिक दो पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य क्षेत्र में किये गये कार्यों और इनके परिणामों के मूल्यांकन के लिये मुदालियर समिति का गठन किया गया था। समिति ने पाया कि अधिकतर प्राइमरी स्वास्थ्य केन्द्रों में स्टाफ की कमी थी और इनमें से कई सिर्फ स्वास्थ्यकर्मियों के भरोसे चल रहे थे। समिति ने स्पष्ट किया कि विभिन्न रोग नियंत्रण कार्यक्रमों ने महामारियों पर रोकथाम की दिशा में विशेष सफलता हासिल की। समिति ने भारतीय प्रशासनिक सेवा (All India Administrative services) की तरह भारतीय स्वास्थ्य सेवा (All India Health Services) की व्यवस्था का सुझाव दिया।

चड्ढा समिति (Chadha Committee, 1963)

इस समिति का गठन मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के लिये आवश्यक व्यवस्थाओं और कदमों की जानकारी के लिये किया गया था। समिति ने सुझाव दिया कि कार्यक्रम के सफल संचालन के लिये बुनियादी स्वास्थ्यकर्मियों के साथ गतिविधियों को चलाना जरूरी है। समिति ने यह भी बताया कि ये कर्मचारी बहुदेशीय कर्मचारी के तौर पर काम करेंगे। मलेरिया कार्यक्रम के अलावा वे परिवार नियोजन और सांख्यिकीय आंकड़ों के संग्रहण का भी काम करेंगे।

मुखर्जी समिति (Mukherjee Committee, 1965)

चड़ढा समिति की सिफारिशों को अव्यावहारिक पाये जाने पर इस समिति का गठन किया गया। चड़ढा समिति की सिफारिश इस लिहाज से अव्यावहारिक पायी गयी कि स्वास्थ्य कर्मियों के लिये मलेरिया उन्मूलन और परिवार नियोजन (तत्कालीन दो बड़े स्वास्थ्य कार्यक्रम) की जिम्मेदारी एकसाथ संभाल पाना संभव नहीं था। मुखर्जी समिति ने सुझाव दिया कि परिवार नियोजन कार्यक्रम के लिये अलग से कर्मचारियों की व्यवस्था की जानी चाहिये, जबकि मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के लिये स्वास्थ्यकर्मियों को लगाया जा सकता है।

जुगलवाला समिति (Jugalwalla Committee, 1967)

इस समिति का गठन विभिन्न स्वास्थ्य सेवाओं के एकीकरण और सरकारी सेवारत चिकित्सकों के निजी प्रैक्टिस करने पर रोक लगाने के मकसद से किया गया था। समिति ने सुझाव दिया कि सभी चिकित्सा उपचार और सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों का एकल मुख्य प्रशासक होना चाहिये, जिसका निर्धारण पदानुक्रम से हो। समिति ने सेवारत चिकित्सकों के लिये एकीकृत काडर और वरिष्ठता के मूल्यांकन का भी सुझाव दिया।

करतार सिंह समिति (Kartar Singh committee, 1973)

यह समिति इसलिये महत्वपूर्ण रही, क्योंकि मौजूदा ग्रामीण स्वास्थ्य ढांचा इस समिति के प्रस्तावों और सुझावों का ही परिणाम है। समिति ने सुझाव दिया कि विभिन्न श्रेणियों के द्वितीय दर्जे के कर्मचारियों को बहुउद्देश्यीय कर्मचारी के तौर पर जिम्मेदारी देनी चाहिये। समिति ने प्रति 50 हजार आबादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की स्थापना की सलाह दी और यह भी सुझाव दिया कि हर स्वास्थ्य केन्द्र को 16 उपकेन्द्रों में विभाजित किया जाये, जिनमें से हरेक में कम से कम एक पुरुष और एक महिला स्वास्थ्यकर्मी तैनात हो।

श्रीवास्तव समिति (Shrivastav Committee, 1975)

इस समिति का गठन देश की जरूरतों के हिसाब से चिकित्सा शिक्षा के पुनर्गठन और स्वास्थ्य सहायकों के लिये पाठ्यक्रम के विकास के मकसद से किया गया। स्वास्थ्य सहायकों का अर्थ उन कर्मचारियों से है, जो बहुउद्देश्यीय कर्मचारियों और स्वास्थ्य अधिकारियों के बीच की कड़ी हों। समिति का महत्वपूर्ण सुझाव था, 'जनता का स्वास्थ्य जनता के हाथों में' इसका तात्पर्य यह है कि जनता के स्वास्थ्य की देखभाल के लिये समाज के बीच ही स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। समिति ने स्पष्ट किया कि ये कार्यकर्ता स्वास्थ्य उपविशेषज्ञ हो सकते हैं, जिनमें शिक्षक, पोस्टमास्टर आदि हों। यानी ये लोग अपने मूल काम के साथ स्वास्थ्य संबंधी छोटी जरूरतों को पूरा कर सकें। समिति का महत्वपूर्ण सुझाव चिकित्सा एवं स्वास्थ्य शिक्षा आयोग (Health and Medical Education Commission) का गठन था जो चिकित्सा शिक्षा में आवश्यक सुधारों को लागू और नियोजित कर सके। इसका गठन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) की तर्ज पर करने का सुझाव दिया गया। समिति के प्रस्तावों और सुझावों को 1977 में मंजूर किया गया और ग्रामीण स्वास्थ्य योजनाओं में इन्हें लागू किया गया।

बजाज समिति (Bajaj Committee, 1985)

समिति का गठन स्वास्थ्य क्षेत्र में श्रमशक्ति, उत्पादन और प्रबंधन के मूल्यांकन के लिये किया गया। समिति ने राष्ट्रीय चिकित्सा एवं स्वास्थ्य शिक्षा नीति और राष्ट्रीय स्वास्थ्य श्रम नीति (National Health Manpower Policy) के गठन का सुझाव दिया। समिति के सुझावों में स्वास्थ्य विज्ञान शिक्षा आयोग और विभिन्न राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों में चिकित्सा विश्वविद्यालयों की स्थापना भी शामिल थे। पराचिकित्सा (Paramedical) क्षेत्र में कर्मियों की संख्या में बढ़ोतरी और प्रशिक्षण के लिये इंटरमीडिएट स्तर पर चिकित्सा व्यावसायिक शिक्षा पाठ्यक्रम प्रारंभ करने का भी सुझाव दिया।

13.4: पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य नियोजन (Health Planning Through Five year Plans)

भारत में पहली स्वास्थ्य नीति के निर्धारण से पूर्व स्वास्थ्य गतिविधियां विभिन्न समितियों के सुझावों-सलाहों के आधार पर पंचवर्षीय योजनाओं में शामिल की जाती थीं। अब हम जानेंगे कि विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कौन-कौन सी गतिविधियों, कार्यक्रमों और लक्षित योजनाओं को शामिल किया गया था।

- पहली पंचवर्षीय योजना वर्ष 1951 से 1956 तक चली, जबकि दूसरी पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल 1956 से 1961 तक रहा। इन दोनों योजनाओं में बोहरे कमेटी के कुछ सुझावों को लागू किया गया, जिनमें मुख्यतः मलेरिया, चेचक जैसी महामारियों से निपटने का लक्ष्य अहम रहा। इसी अवधि में विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization: WHO) की मदद से राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। उस दौर में मलेरिया भारत ही नहीं, बल्कि दुनियाभर के लिये चिंता का विषय था। इसी अवधि में क्षयरोग (TB) उपचार कार्यक्रम भी शुरू हुये, जिसके तहत बीसीजी टीकाकरण, क्षयरोग अस्पताल, आवासीय चिकित्सा सेवा (Domiciliary Medical Services) और उपचारोपरांत देखभाल के कार्यक्रम संचालित किये गये। स्वास्थ्यकर्मियों को चेचक, कुष्ठरोग, हाथीपांव (Filariasis), हैजा जैसी बीमारियों के इलाज, मरीजों की देखभाल और इन रोगों की रोकथाम के लिये आवश्यक प्रशिक्षण दिया गया। यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन, रॉकफेलर फाउंडेशन जैसी संस्थाओं के जरिये इन बीमारियों से निपटने के लिये दवाएं और टीके उपलब्ध कराये जाते थे। उस दौर में अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की मदद से ही इन कार्यक्रमों का संचालन किया जाता था। हालांकि, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था में ज्यादा अंतर नहीं आया था और शहरी क्षेत्र ही तीन चौथाई से अधिक संसाधनों का उपयोग कर रहे थे। ग्रामीण क्षेत्रों में व्यवस्थाएं सामुदायिक विकास कार्यक्रम (Community Development Programme: CDP) के तहत संचालित की जाती थीं, जिनका लक्ष्य कृषि समेत कई अन्य कार्य भी थे। सीडीपी के तहत हर ब्लॉक में एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र था, जिसके अधीन एक द्वितीयक स्वास्थ्य इकाई भी रहती थी। इन स्वास्थ्य संगठनों का उद्देश्य न सिर्फ स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराना था, बल्कि जल वितरण, सफाई, मानव एवं पशुजनित कचरे का निस्तारण, मलेरिया, चेचक जैसी महामारियों की रोकथाम और सफाई तथा पोषण को लेकर स्वास्थ्य जागरूकता भी था।
- तीसरी पंचवर्षीय योजना का काल 1961 से 1966 तक रहा। मुदालियर कमेटी का गठन प्रारंभिक दो पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य क्षेत्र में हुये विकास के मूल्यांकन के लिये किया

गया था। समिति की रिपोर्ट में स्पष्ट हुआ कि ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं के विकास में खासा अंतर था। शहरी क्षेत्र सीडीपी कार्यक्रम में शामिल नहीं थे और वहीं स्वास्थ्य सुविधाओं का तेजी से विकास हुआ। रिपोर्ट ने बताया कि 1961 के अंत तक देशभर में सिर्फ 2800 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र थे। तीसरी पंचवर्षीय योजना की शुरुआत तक देश में 1,40,000 आबादी के लिये सिर्फ एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र था, जो बोहरे कमेटी की सिफारिश (हर दस हजार आबादी के लिये एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र) के मुकाबले नगण्य था। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में स्वास्थ्य सुविधाओं के भारी अंतर का अंदाजा इससे ही लगाया जा सकता है कि शहरों में प्रति 440 आबादी के लिये अस्पतालों में एक बेड उपलब्ध था, लेकिन गांवों में 7000 लोगों के लिये मात्र एक बेड था। इस पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की संख्या में वृद्धि और मौजूदा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में स्टाफ की कमी को दूर करना था। नये मेडिकल कॉलेजों की स्थापना, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी एम्स की स्थापना, संरक्षण, सामाजिक उपचार और मनोवैज्ञानिक चिकित्सा से जुड़े विभिन्न विभागों की स्थापना जैसे काम भी इसी पंचवर्षीय योजना के तहत किये गये। प्रारंभिक दो पंचवर्षीय योजनाओं में महामारियों पर रोकथाम, मृत्यु दर में गिरावट, जन्मदर में बढ़ोतरी के लक्ष्यों की दिशा में बेहतर परिणाम हासिल करने के बाद तीसरी योजना में जनसंख्या दर पर नियंत्रण का लक्ष्य तय किया गया। इस अवधि में सरकारी संस्थाओं को जनसंख्या नियंत्रण की दिशा में काम करने के लिये प्रेरित किया गया। इस लिहाज से स्वास्थ्य मंत्रालय के अधीन अलग से परिवार नियोजन कार्यक्रम संचालित किया गया, जिसके लिये अलग विभाग का गठन भी किया गया। योजना में डॉक्टरों की कमी को दूर करने के लिये प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में पांच साल से कार्यरत स्वास्थ्य सहायकों के लिये विशेष कोर्स की भी शुरुआत का प्रस्ताव रखा गया, जिसे पूरा करने के बाद स्वास्थ्य सहायक डॉक्टर बन सकते थे। लेकिन डॉक्टरों और चिकित्सा परिषद के विरोध के चलते इस प्रस्ताव पर काम नहीं किया जा सका।

- **चौथी पंचवर्षीय योजना (1969–1974)** दो साल के अंतराल के बाद प्रारंभ हुयी थी। इस योजना में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों को सशक्त बनाने पर ध्यान दिया गया, क्योंकि प्रारंभ में रोकथाम की दिशा में रोकथाम के बेहतर परिणाम के बावजूद मलेरिया ने एक बार फिर हमला किया था, जिसने पुराने मामलों से कहीं अधिक जान ली थीं। ऐसे में इस पंचवर्षीय योजना में संरक्षात्मक स्वास्थ्य सेवाओं को महत्व दिया गया, जिनका लक्ष्य मलेरिया, टीबी, कुष्ठ, रोहुआ (Trachoma), चेचक पर नियंत्रण था। विकास की राह में जनसंख्या की बाधा के बिन्दु को ध्यान में रखते हुये परिवार नियोजन इस योजना की प्राथमिकताओं में सबसे ऊपर था और कुल स्वास्थ्य बजट का 42 प्रतिशत हिस्सा सिर्फ इसके लिये ही रखा गया था। इस पंचवर्षीय योजना में जल वितरण और सफाई संबंधी विभागों को स्वास्थ्य से अलग कर आवास और क्षेत्रीय विकास सेक्टर में शामिल किया गया।
- **1974 से 1979 तक पांचवीं पंचवर्षीय योजना** का काल रहा। इस समय तक शिशु मृत्युदर में खासी गिरावट आ गयी थी, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी शहरी क्षेत्रों के मुकाबले स्वास्थ्य सेवाओं और सुविधाओं का अभाव था। इस बिन्दु को ध्यान में रखते हुये इस योजना में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (Minimum Needs Programme: MNP) प्रारंभ किया गया, जिसका उद्देश्य ग्रामीण स्वास्थ्य ढांचे की कमियों को दूर करना था। परिवार नियोजन में पोषण और शिशु प्रतिरक्षण (Immunization) को शामिल किया गया। करतार सिंह कमेटी के सुझाव के अनुरूप बहुदेशीय कार्यकर्ता योजना 1971 में प्रारंभ की गयी, जिसके तहत मौजूदा स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को विभिन्न आनुषंगी कार्यों जैसे मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम, से

जोड़ा गया। इसके लिये उन्हें स्वास्थ्य संबंधी विभिन्न कार्यक्रमों का प्रशिक्षण दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं से कई कार्यक्रम जोड़े गये।

सामुदायिक स्वास्थ्य मार्गदर्शन योजना 1977 में प्रारंभ की गयी, जिसके तहत गांवों में चयनित कुछ लोगों को तीन माह का प्रशिक्षण दिया गया, जिसमें एलोपैथी और पारंपरिक चिकित्सा दोनों की जानकारी दी जाती थी और ये बहुदेशीय कार्यकर्ता के तौर पर काम करते थे। श्रीवास्तव कमेटी का गठन भी इसी दौर में हुआ था, जिसने पाया कि विभिन्न सामाजिक-आर्थिक कारणों से डॉक्टर ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं जा रहे थे, इस समस्या के निस्तारण के लिये कमेटी ने 'जनता का स्वास्थ्य, जनता के हाथ' योजना का सुझाव दिया यानी समाज के बीच से ही स्वास्थ्य कार्यकर्ता तलाशे जायें। पांचवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि में ही देश में आपातकाल लागू हो गया था, इस दौरान जनसंख्या नियंत्रण के नाम पर बलपूर्वक पुरुष नसबंदी (Vasectomy) अभियान चलाया गया। इस अभियान का तीखा विरोध हुआ और नसबंदी ऑपरेशन के दौरान कई मौत के मामले भी सामने आये। इस दौरान राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की घोषणा भी की गयी, लेकिन आपातकाल समाप्त होने के बाद नयी सरकार के गठन के बाद इसे लागू नहीं किया गया।

- **1980 से 1985 तक संचालित छठी पंचवर्षीय योजना** का मुख्य फोकस अवस्थापना विकास पर रहा। 1978 की अल्मा अता घोषणा (अल्मा अता कजाकस्तान का शहर है, जिसे अब अल्माती नाम से जाना जाता है) ने इस पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य नियोजन को निर्णायक दिशा दी। इसका कारण यह था कि भारत भी सार्वजनिक स्वास्थ्य के मुद्दे पर आयोजित उस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में शामिल हुआ था, जो अल्मा अता में छह से 12 सितंबर 1978 तक आयोजित किया गया। यह पहली अंतर्राष्ट्रीय घोषणा थी, जिसमें हर व्यक्ति को प्राथमिक स्वास्थ्य देने की जरूरत पर जोर दिया गया। इसका ध्येय वाक्य था 'सबके लिये स्वास्थ्य' और यह लक्ष्य वर्ष 2000 तक हासिल किया जाना था। इस प्रक्रिया में विकासशील देशों पर अधिक जोर दिया गया। विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनिसेफ, सभी अंतर्राष्ट्रीय संगठन, सभी देशों की सरकारें, सभी स्वास्थ्य कर्मी और कार्यकर्ता, सबसे यह अपील की गयी कि वे अभियान को वित्तीय और तकनीकी समर्थन प्रदान कर इसे सफल बनायें। सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों की दिशा में इसे मील का पत्थर माना जाता है। इस घोषणा को ध्यान में रखते हुये ही भारत ने वर्ष 1983 में पहली स्वास्थ्य नीति तैयार की, जिसमें समाज के हर वर्ग को प्राथमिक चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने का लक्ष्य तय किया गया। इस दौरान यह पहलू भी उभरकर सामने आया कि शहरी क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं का तेज गति से विकास-विस्तार हुआ है और इन क्षेत्रों में समाज का हर वर्ग इन सुविधाओं का लाभ ले रहा था। ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी स्वास्थ्य सेवाओं-सुविधाओं का अभाव बना हुआ था। ऐसे में ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम को बढ़ावा देने की वकालत की गयी। इस नीति में क्षैतिज और उर्ध्वाधर, यानी दोनों दिशाओं में अंतर्संबंधित कार्यक्रमों जैसे जल वितरण, पर्यावरण, स्वच्छता, हाईजीन, पोषण, शिक्षा, परिवार नियोजन आदि पर भी पूरा ध्यान दिया गया।
- **सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-1990)** में विकेन्द्रीकरण और स्वास्थ्य नियोजन में जनसहभागिता को बढ़ावा देने पर ध्यान दिया गया। स्वास्थ्य नियोजन प्रक्रिया में पंचायतीराज संस्थानों की भूमिका को अहम माना गया। इस योजना में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति के सुझावों को मंजूर किया गया। इस योजना में क्षेत्रीय वितरण के दौरान विशेषज्ञता और अतिविशेषज्ञता का समर्थन किया गया।

- **1992 से 1997 तक संचालित आठवीं पंचवर्षीय योजना** का दौर वैश्वीकरण का दौर था। इसी दौरान ढांचागत व्यवस्थाओं पर खास जोर दिया गया, जिसके लिये ढांचागत व्यवस्था कार्यक्रम संचालित हुआ। आर्थिक संकट से निपटने के लिये सरकार की ओर से संचालित किये जाने वाले अस्पताल को सार्वजनिक निजी भागीदारी (**Public Private Partnership: PPP**) पर दे दिया गया। स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में निजी कंपनियों को बढ़ावा देने के लिये विशेष कर छूट के भी प्रावधान किये गये। लेकिन, इसके चलते उपचार का मूल्य बढ़ता चला गया और बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं हासिल कर पाना बड़ी आबादी की पहुंच से दूर हो गया।
- **1997 से 2002 तक नवीं पंचवर्षीय योजना** रही। इस योजना में कुछ नवोन्मेषी सुझावों पर काम किया गया। इस योजना में बोहरे कमेटी की रिपोर्ट के कुछ बिन्दुओं से सन्दर्भ लिये गये और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों इनके सहयोगी उपकेन्द्रों की स्थापना पर जोर दिया गया। इस योजना के दौरान राज्यों में विशेष रणनीतियों पर जोर दिया गया। इसी अवधि में राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000 और राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2002 जारी की गयीं। इसके साथ ही सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में सरकार और निजी सेक्टर की सीमाएं भी तय की गयीं। निर्धारित किया गया कि प्राथमिक स्वास्थ्य सरकार की जिम्मेदारी है। शहरी क्षेत्रों में बस्तियों में रहने वाले लोगों के प्राथमिक स्वास्थ्य के मसले पर भी इस योजना में ध्यान केन्द्रित किया गया।
- **दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002 से 2007)** में स्वास्थ्य सेवाओं-सुविधाओं की गुणवत्ता में सुधार पर जोर दिया गया। इस योजना में भी लक्षित क्षेत्र ग्रामीण क्षेत्र ही था, जहां बेहतर स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराना और अधिक से अधिक ग्रामीण आबादी तक इनकी पहुंच बढ़ाना मकसद रहा। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये वर्ष 2007 में राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (**National Rural Health Mission: NRHM**) लांच किया गया। इसके बाद वर्ष 2012 से 2017 की 12वीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2017 जारी की गयी।

13.5: भारत में स्वास्थ्य नीतियां (Health Policies in India)

भारत में बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं और सेवाओं के विस्तार, अस्पतालों-मेडिकल कॉलेजों की स्थापना, चिकित्सकों और अन्य स्वास्थ्यकर्मियों की कमी दूर करने समेत विभिन्न स्वास्थ्य संबंधी मुद्दों को लेकर निम्न नीतियां और अभियान संचालित किये गये:

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 1983 (National Health Policy 1983)

भारत की पहली राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति वर्ष 1983 में लागू हुयी, इसे अल्मा अता घोषणा के बाद जारी किया गया था, जिसका मकसद वर्ष 2000 तक बेहतर स्वास्थ्य लक्ष्यों को हासिल करना था। इसका लक्ष्य समुदाय की प्राथमिकताओं और वास्तविक जरूरतों के अनुरूप सार्वजनिक, व्यापक प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराना था, जो बेहद कम लागत पर जनता के लिये उपलब्ध हो। इस नीति में जनसंख्या के आधार पर सुझाव दिये गये थे। इस नीति में शामिल कुछ अहम बिन्दु निम्नवत रहे:

- इस नीति में संरक्षात्मक, प्रोत्साहनात्मक और पुनर्वासात्मक प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं-सुविधाओं के बढ़ावे पर जोर दिया गया

- नीति में देशभर में व्यापक प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा नेटवर्क की स्थापना के लिये समयबद्ध और चरणबद्ध कार्यक्रम चलाये जाने की जरूरत जतायी गयी
- नीति में पर्याप्त जानकारी और कौशल रखने वाले स्वयंसेवियों और स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं (गैर व्यवसायीकरण) की मदद से स्वास्थ्य सेवाओं के विकेन्द्रीकृत करने का सुझाव दिया गया
- स्वास्थ्य शिक्षा को बढ़ावा दिया जाना चाहिये, ताकि प्राथमिक स्तर की स्वास्थ्य समस्याओं को लोग अपने स्तर पर ही सुलझा सकें
- विशिष्ट और अति विशिष्ट सुविधाओं के लिये निजी सेक्टर के स्वास्थ्य केन्द्रों के नेटवर्क को बढ़ाया जाना चाहिये, ताकि सरकार का बोझ कुछ कम हो सके
- देशभर में महामारी से संबंधित क्षेत्रों की पहचान और उन इलाकों में विभिन्न स्वास्थ्य सेवाओं की एकीकृत व्यवस्था को बढ़ावा दिया जाना चाहिये
- उच्चकृत स्वास्थ्य केन्द्रों पर मरीजों का भार कम करने के लिये रेफरल व्यवस्था प्रारंभ की गयी, ताकि छोटी बीमारियों, स्वास्थ्य समस्याओं का इलाज विकेन्द्रीकृत केन्द्रों पर हो सके

हालांकि, यह माना गया था कि यह नीति सबको, विशेष रूप से निर्धन और उपेक्षित समूहों को बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं मिलेंगी, लेकिन वर्ष 2000 तक यह स्पष्ट हुआ कि वित्तीय संसाधनों और स्वास्थ्य प्रशासन के अभाव में यह लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सका। विकेन्द्रीकरण और गैर विशेषज्ञीकरण ने कुछ हद तक काम किया, लेकिन सामुदायिक सहभागिता बढ़ाने की दिशा में बेहतर परिणाम नहीं मिल सके। ग्रामीण प्राथमिक स्वास्थ्य व्यवस्था में अपेक्षित सुधार नहीं आ सका और इन क्षेत्रों के लोगों को बेहतर इलाज के लिये निजी चिकित्सकों के पास या फिर शहरी क्षेत्रों के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर जाना पड़ता था। इस नीति का परिणाम संतोषजनक नहीं रहा और विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में तय किये गये लक्ष्य पूरे नहीं किये जा सके। इसके अलावा इस नीति ने उपचारात्मक स्वास्थ्य व्यवस्था के निजीकरण को भी प्रोत्साहित किया।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2002 (National Health policy 2002)

इस नीति में व्यवस्था की व्यावहारिकता और पहुंच में सुधार पर ध्यान केन्द्रित किया गया। इसके लिये निजी और सार्वजनिक चिकित्सालयों में समन्वय, सहयोग पर जोर दिया गया, ताकि देश की जरूरत के हिसाब से बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करायी जा सकें। नीति में मौजूदा संस्थानों में नये अवस्थापना विकास पर जोर दिया गया ताकि विकेन्द्रीकृत सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था को बढ़ावा दिया जा सके। प्राथमिक स्वास्थ्य स्तर पर ही संरक्षण और उपचारात्मक सुविधाएं उपलब्ध कराना नीति की प्राथमिकता रही। नीति में निजी चिकित्सा सुविधा के योगदान पर भी ध्यान दिया गया। इसमें जेनेरिक दवाओं और टीकों की उपलब्धता पर जोर दिया गया, ताकि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा को और प्रभावी व सस्ता बनाया जा सके। नीति में दवाओं के पारंपरिक और सिद्ध, यानी जिनका परीक्षण किया जा चुका हो, तरीकों के उपयोग को भी प्रोत्साहित किया गया।

क्षय रोग, मलेरिया, अंधता और एड्स वो बीमारियां थीं, जिन पर इस नीति में विशेष ध्यान दिया गया। इस नीति में समयबद्ध तरीके से विभिन्न लक्ष्य तय किये गये थे, जिन्हें हम निम्न सारिणी से आसानी से समझ सकेंगे।

कुष्ठरोग उन्मूलन	2005
बलाजार का उन्मूलन	2010
एचआईवी-एड्स की बढ़ती दर को शून्य करना	2007
क्षयरोग, मलेरिया और अन्य जलजनित व संक्रामक रोगों के कारण मृत्यु दर को 50 प्रतिशत तक कम करना	2010
अंधता के प्रसार पर रोकथाम कर इसे 0.5 प्रतिशत से भी कम पर लाना	2010
शिशु मृत्यु दर को 30/1000 और मातृ मृत्युदर को 100/ एक लाख तक घटाना	2010
सकल घरेलू उत्पाद में स्वास्थ्य पर खर्च को मौजूदा 0.9 प्रतिशत से बढ़ाकर दो प्रतिशत करना	2010
कुल स्वास्थ्य खर्च में केन्द्रीय अनुदान को कम से कम 25 प्रतिशत तक बढ़ाना	2010
राज्य सेक्टर में बजट में स्वास्थ्य खर्च को 5.5 प्रतिशत से बढ़ाकर सात फीसदी करना	2005

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (National Rural Health Mission 2005)

यह मिशन यूपीए सरकार के कार्यकाल में न्यूनतम साझा कार्यक्रम के तहत प्रारंभ किया गया था। इसका लक्ष्य ग्रामीण क्षेत्रों की आबादी को बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराना था, जिसके अंतर्गत समान, सस्ती और गुणवत्तायुक्त सेवाएं उपलब्ध करायी जानी थीं। अभियान में उन 18 राज्यों को वरीयता दी गयी, जहां स्वास्थ्य सूचकांक या अवस्थापना विकास बेहद कमजोर था। पहली बार स्वास्थ्य को विकास का घटक माना गया था, यही वजह थी कि इस मिशन में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा-सुविधाओं पर होने वाला खर्चा भी बढ़ा दिया गया था। टीकाकरण, क्षयरोग नियंत्रण, कुष्ठरोग उन्मूलन, कैंसर नियंत्रण आदि कई कार्यक्रम इस एक मिशन के तहत एकीकृत किये गये। स्वच्छता, पोषण, साफ पेयजल जैसे बेहतर स्वास्थ्य के बुनियादी कारकों को भी इसके जरिये स्वास्थ्य नियोजन में शामिल किया गया। ग्राम स्तर तक पहुंच बढ़ाने के लिये पंचायती राज संस्थाओं को भी स्वास्थ्य कार्यक्रमों से जोड़ा गया। पंचायतों, स्वयंसेवी संस्थाओं और अन्य राष्ट्रीय, राज्यस्तरीय व जिलास्तरीय हितधारकों के जरिये जनसहभागिता को बढ़ाने पर जोर दिया गया। महिला स्वास्थ्य कार्यकर्ता 'आशा' तैयार की गयीं, जिनका मकसद ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं के अंतर को पाटना और हर घर की स्वास्थ्य सुविधाओं, योजनाओं तक पहुंच बढ़ाना था। आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथ, योग जैसे वैकल्पिक उपचारात्मक साधनों को भी मिशन में शामिल किया गया। इस कार्यक्रम के तहत स्वास्थ्य पर होने वाले खर्च को सकल घरेलू उत्पाद का दो से तीन फीसदी करने का प्रस्ताव दिया गया, जो उस वक्त तक 0.9 फीसदी था। सार्वजनिक निजी साझेदारी मिशन का अहम साधन रहा। इसी दौरान जननी सुरक्षा योजना, जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम भी प्रारंभ किये गये, जिनका लक्ष्य शिशु और मातृ मृत्यु दर में गिरावट लाना था।

राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन (National Urban Health Mission 2014)

इस अभियान का लक्ष्य शहरी निर्धन वर्ग, विशेषकर बस्तियों में रहने वाले लोग और उपेक्षित वर्गों (जैसे कुली, ठेलीवाले, रिक्शाचालक आदि) की प्राथमिक स्वास्थ्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काम करना था। इस अभियान के तहत एक लाख या इससे अधिक आबादी वाले देश के सभी शहरों को शामिल किया गया। बाद में एनआरएचएम और एनयूएचएम, इन दोनों अभियानों को एकीकृत कर राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (National Health Mission) नाम दिया गया।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति (National Health Policy 2017)

पिछली स्वास्थ्य नीति के बाद से अब तक आये सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों और महामारियों की स्थिति के कारण उभरती चुनौतियों को ध्यान में रखते हुये वर्ष 2017 में यह नीति प्रारंभ हुयी। इस नीति के केन्द्र में निर्धनता को बढ़ावा देने की वजह बनने वाले बीमारियों के कारण भारी भरकम खर्च को कम करना, मजबूत स्वास्थ्य सेवा उद्यम को बढ़ाना और आर्थिक विकास को बढ़ाना था, ताकि राजकोषीय क्षमता को और बढ़ाया जा सके। यह नीति 15 मार्च 2017 को मंजूर हुयी। इस नीति के बुनियादी सिद्धान्तों में कुशलता-विशेषज्ञता, एकीकरण और मूल्य, समानता, सामर्थ्य, सार्वजनिक, रोगी केन्द्रित एवं गुणवत्तापरक देखभाल, विश्वसनीयता एवं बहुलवाद शामिल हैं। इस नीति में समयबद्ध तरीके से वर्ष 2025 तक सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कुल सकल घरेलू उत्पाद का ढाई प्रतिशत खर्च करने और प्रदेशों में वर्ष 2020 तक कुल राज्य बजट का आठ प्रतिशत खर्च करने का प्रस्ताव रखा गया है। स्वास्थ्य बजट का भी दो तिहाई व्यय प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं पर करने का प्रस्ताव है। नीति के अनुसार प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में वृद्ध स्वास्थ्य सेवा (Geriatric Healthcare), उपशामक या शांति देने वाली औषधीय स्वास्थ्य सेवा (Palliative Healthcare) और पुनर्वास स्वास्थ्य सेवाएं (Rehabilitative Healthcare) शामिल हैं, जिनके लिये स्वास्थ्य और कल्याण केन्द्रों की मदद ली जानी है। नीति में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने और सबको कम खर्च पर गुणवत्तापरक स्वास्थ्य सुविधाएं देने पर जोर दिया गया है।

नीति में कई ऐसे सुझाव भी दिये गये हैं, जिनके जरिये वर्ष 2025 तक स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के कारण होने वाले गैरजरूरी खर्चों और इसके परिणामस्वरूप सामने आने वाली निर्धनता को वर्तमान से 25 प्रतिशत तक कम किया जा सके। नीति का उद्देश्य प्रजनन, शिशु, किशोर स्वास्थ्य, संक्रामक, गैर-संक्रामक व उपजीविकाजन्य रोगों के निदान के लिये समन्वित और व्यापक प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने का है। इस नीति में सार्वजनिक अस्पतालों में निःशुल्क दवाएं, निःशुल्क जांच और निःशुल्क आपातकालीन सुविधाएं प्रदान करने का प्रस्ताव है। नीति में यह भी जोर दिया गया है कि जिला स्तरीय सार्वजनिक अस्पतालों में ही द्वितीय स्तर की सभी स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध होनी चाहिये। आयुष सेवाओं (आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी, सिद्ध और योग) को राष्ट्रीय आयुष मिशन (NAM) के जरिये मुख्यधारा में लाना भी इस नीति का एक अहम बिन्दु है। डॉक्टरों और विशेषज्ञ चिकित्सकों की कमी से जूझने के लिये नीति में मौजूदा मेडिकल कॉलेजों को मजबूत करने और सभी जिला अस्पतालों को नये मेडिकल कॉलेजों में बदलने का सुझाव दिया गया है। आशा कार्यकर्त्रियों को एएनएम, नर्स या पैरामेडिकल कोर्स करने योग्य बनाने पर भी जोर दिया गया है।

संरक्षणात्मक स्वास्थ्य को देखते हुये नीति में ऐसे सात क्षेत्रों की पहचान की गयी है, जहां सुधार की जरूरत महसूस हुयी है। इनमें स्वच्छता के लिये स्वच्छ भारत अभियान, संतुलित-पोषक भोजन और नियमित व्यायाम, तंबाकू से हानि पर जागरूकता, शराब और मादक द्रव्यों का सेवन, यात्री सुरक्षा (हादसों में होने वाली मौतों में कमी लाने के लिये), निर्भया नारी (लैंगिक हिंसा में कमी लाना), कार्यस्थल पर तनाव में कमी व सुरक्षा में वृद्धि तथा घर के बाहर व भीतर प्रदूषण में कमी लाना शामिल हैं। नीति में तय किये गये कुछ लक्ष्य निम्नवत हैं:

- वर्ष 2025 तक औसत आयु 67.5 वर्ष से बढ़ाकर 70 वर्ष करना
- पांच वर्ष से कम आयु के शिशुओं की मृत्यु तक को वर्ष 2025 तक 23 करना और मातृ मृत्युदर को 2020 तक 100 पर लाना
- शिशु मृत्युदर को वर्ष 2019 तक 28 पर लाना

- एचआईवी-एड्स के सन्दर्भ में वर्ष 2020 तक वैश्विक लक्ष्य हासिल करना, जिसे 90:90:90 नाम दिया गया है, इसका अर्थ यह है कि एचआईवी संक्रमित 90 प्रतिशत लोगों को अपनी स्थिति की जानकारी हो, एचआईवी संक्रमित होने की जानकारी रखने वाले 90 प्रतिशत लोगों को लगातार एंटीरेट्रोवायरल थेरेपी उपलब्ध हो और थेरेपी ले रहे 90 प्रतिशत लोग वायरस के दमन में सक्षम हो सकें
- वर्ष 2025 तक कैंसर, हृदयरोग, मधुमेह और श्वास रोगों के कारण होने वाली असमय मौतों को घटाकर 25 प्रतिशत तक लाना
- सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं के स्तर और उपयोग में वर्ष 2025 तक मौजूदा स्तर से 50 प्रतिशत तक बढ़ोतरी
- वर्ष 2025 तक ऐसी व्यवस्था करना कि 90 प्रतिशत नवजात एक साल की आयु तक प्रतिरक्षण (Immunization) के दायरे में आ जायें
- वर्ष 2025 तक परिवार नियोजन के निर्धारित लक्ष्य को 90 प्रतिशत तक हासिल करना
- वर्ष 2025 तक उच्च रक्तचाप और मधुमेह पीड़ित 80 प्रतिशत लोगों की बीमारी को नियंत्रण की स्थिति में लाना
- तंबाकू के मौजूदा उपयोग को वर्ष 2020 तक 15 प्रतिशत और 2025 तक 30 प्रतिशत तक घटाना
- स्वच्छ भारत मिशन के तहत वर्ष 2020 तक सबके लिये साफ पानी और सफाई की व्यवस्था
- वर्ष 2020 तक उच्च प्राथमिकता वाले सभी जिलों में भारतीय सार्वजनिक स्वास्थ्य मानक के अनुरूप डॉक्टरों और पैरामेडिकल स्टाफ की उपलब्धता सुनिश्चित करना
- वर्ष 2025 तक सभी उच्च प्राथमिकता वाले जिलों (जनसंख्या अथवा अन्य तात्कालिक मानकों के अनुरूप) में प्राथमिक एवं द्वितीयक स्वास्थ्य उपचार सुविधाएं उपलब्ध कराना

13.6: भारत में स्वास्थ्य कार्यक्रम (Health Programmes in India)

हम पहले ही जान चुके हैं कि राष्ट्रीय स्तर पर संक्रामक और अन्य रोगों के कारण मृत्यु दर में गिरावट के मकसद से कई कार्यक्रमों को लागू किया गया है। भारत में इन कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक संचालित किया गया और इनके काफी हद तक अपेक्षित परिणाम भी मिले, लेकिन परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप समय-समय पर इन कार्यक्रमों में कई बदलाव भी किये जाते रहे। वर्तमान में संचालित कुछ राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रमों में राष्ट्रीय संक्रामक रोग नियंत्रण कार्यक्रम, राष्ट्रीय क्षयरोग नियंत्रण कार्यक्रम, राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम, राष्ट्रीय कुष्ठरोग उन्मूलन कार्यक्रम आदि शामिल हैं।

- राष्ट्रीय संक्रामक रोग नियंत्रण कार्यक्रम को वर्ष 2003-04 में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा प्रारंभ किया गया था, जिसकी देखरेख राष्ट्रीय वेक्टरजनित रोग नियंत्रण कार्यक्रम निदेशालय बतौर नोडल एजेंसी करता है। इस कार्यक्रम के तहत ऐसी बीमारियों की रोकथाम का लक्ष्य निर्धारित है, जो रोगाणुओं के कारण फैलती हैं। इनमें मलेरिया, कालाजार, हाथीपांव, जापानी बी इन्सेफिटलाइटिस, डेंगू आदि शामिल हैं।
- मातृ एवं शिशु मृत्युदर में गिरावट के लिये पहली पंचवर्षीय योजना से ही कुछ कार्यक्रम प्रारंभ किये गये थे। प्रारंभिक कार्यक्रमों में ही जरूरतों के हिसाब से समय-समय पर बदलाव और उच्चीकरण किये जाते रहे। वर्तमान में ऐसे दो कार्यक्रम स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण

मंत्रालय के अधीन चल रहे हैं, जिनके नाम जननी सुरक्षा योजना एवं जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम हैं। जननी सुरक्षा योजना के तहत गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाली यानी बीपीएल श्रेणी में आने वाली सभी गर्भवती महिलाओं को कवर किया जा रहा है। इन महिलाओं का प्रसव सरकारी अथवा निर्धारित निजी अस्पताल में करने को प्रोत्साहन देने के लिये इन गर्भवती महिलाओं को आर्थिक मदद दी जाती है। योजना के तहत उन आशा कार्यकर्त्रियों के लिये भी प्रोत्साहन की व्यवस्था है, जो इन गर्भवती महिलाओं को सांस्थानिक प्रसव के लिये तैयार करती हैं। जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम के तहत सार्वजनिक अस्पतालों में प्रसव करने वाली सभी महिलाओं को नॉर्मल अथवा सीजेरियन डिलीवरी की सुविधा निःशुल्क प्रदान की जाती है। इसके अलावा प्रसव के बाद अस्पताल में ठहरने और दवाओं का भी कोई खर्चा नहीं लिया जाता है। जन्म के बाद तीस दिन तक शिशु के निःशुल्क उपचार का भी प्रावधान है।

- टीकाकरण से वंचित रह गये अथवा उन बच्चों तक पहुंचने के लिये, जिनका आधा-अधूरा टीकाकरण हुआ है, दिसंबर 2014 में मिशन इंद्रधनुष प्रारंभ हुआ। कार्यक्रम के तहत देशभर में उच्च प्राथमिकता वाले जिलों में विभिन्न चरणों में टीकाकरण कार्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं।
- व्यवसायजनित रोगों के उपचार एवं नियंत्रण के लिये राष्ट्रीय कार्यक्रम वर्ष 1998-99 में प्रारंभ हुआ। इसके तहत कार्यस्थल पर मौजूद परिस्थितियों के कारण सिलिकोसिस, एस्बेस्टोसिस, अस्थमा जैसी बीमारियों की चपेट में आने वाले लोगों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। बोहरे कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कार्यस्थल पर कामगारों की सुरक्षा को सर्वाधिक प्राथमिकता दी थी, राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 1983 और फिर 2002 में भी इसे महत्वपूर्ण घटक माना गया है।
- मानसिक अक्षमता से जुड़े रोगों के लिये भी सामाजिक न्याय एवं सशक्तीकरण मंत्रालय के अधीन कई कार्यक्रम एवं योजनाएं संचालित की जा रही हैं। इनमें दिशा, विकास, घरौंदा, निर्माया, प्रेरणा, संभव, सहयोगी और बढ़ते कदम आदि शामिल हैं।
- प्रधानमंत्री स्वास्थ्य सुरक्षा योजना, राष्ट्रीय तंबाकू नियंत्रण कार्यक्रम, बुजुर्गों के स्वास्थ्य के लिये राष्ट्रीय कार्यक्रम, राष्ट्रीय अंधता उन्मूलन कार्यक्रम, किशोर स्वास्थ्य कार्यक्रम, बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम आदि उन कुछ कार्यक्रमों में शामिल हैं, जो केन्द्रीय सरकार की ओर से समाज के कल्याण के लिये संचालित किये जा रहे हैं।

आयुष्मान भारत (Ayushman Bharat)

आयुष्मान भारत योजना स्वास्थ्य सुरक्षा योजना है, जिसके तहत देश के सभी राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों की अनुमानित दस करोड़ परिवारों (करीब 50 करोड़ आबादी, यानी देश की करीब 40 प्रतिशत जनसंख्या), जो विशेष तौर पर निर्धन और उपेक्षित वर्ग से जुड़े हुये हैं, को स्वास्थ्य बीमा देने की योजना है। योजना के तहत हर परिवार को प्रतिवर्ष सार्वजनिक अथवा निर्धारित निजी अस्पताल में उपचार के लिये पांच लाख रुपये का बीमा कवर दिया जाता है। केन्द्रीय स्तर पर आयुष्मान भारत राष्ट्रीय स्वास्थ्य सुरक्षा अभियान परिषद बनायी जायेगी, जिसके अध्यक्ष स्वास्थ्य मंत्री होंगे। यह परिषद राज्यों के साथ एक राज्यस्तरीय स्वास्थ्य एजेंसी के जरिये समन्वय करेगी। बीमित परिवारों को पेपरलेस, कैशलेस सुविधा इस योजना के तहत प्रदान की जानी है। विशेष बात यह है कि इस योजना के तहत परिवार के सदस्यों की संख्या की कोई बाध्यता नहीं है। इसी तरह की दो अन्य बीमा योजनाएं राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना और वरिष्ठ नागरिक स्वास्थ्य बीमा योजना भी हैं। ये दोनों योजनाएं भी आयुष्मान भारत योजना के अंतर्गत आयेंगी।

राष्ट्रीय आयुष मिशन (National AYUSH Mission)

आयुष मिशन सितंबर 2014 में 12वीं पंचवर्षीय योजना के तहत लागू हुआ। इस अभियान के जरिये सरकार ने वैकल्पिक उपचार एवं स्वास्थ्य व्यवस्थाओं को प्रोत्साहित, पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है, ताकि वे समाज की स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों को पूरा कर सकें। योजना के तहत आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, योग, होम्योपैथी पद्धतियों को विस्तार दिया जाना है, जिसमें डिस्पेंसरियों का उच्चीकरण, अस्पतालों-डिस्पेंसरियों की व्यवस्था, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और जिलास्तरीय अस्पताल बनाने की योजना है।

भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधा व्यवस्था (Public Healthcare System in India)

1. **प्रशासनिक ढांचा:** सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में प्रशासनिक ढांचे के तीन चरण या घटक हैं, केन्द्रीय स्तर, राज्य स्तर और स्थानीय स्तर। केन्द्रीय स्तर पर इसके घटक निम्नवत हैं:
 - केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, इसमें भी दो भाग हैं— स्वास्थ्य विभाग और परिवार कल्याण विभाग
 - स्वास्थ्य सेवाओं का महानिदेशालय
 - केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद, जिसके अध्यक्ष केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री हैं और राज्यों के स्वास्थ्य मंत्री इसके सदस्य हैं

इसी तरह राज्य स्तर पर इसके घटक निम्नवत हैं:

- राज्य स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय
- राज्य स्वास्थ्य निदेशालय, जिसके दो घटक हैं— चिकित्सा शिखा निदेशालय एवं स्वास्थ्य निदेशालय

जिला स्तर पर प्रशासन छह भागों में बंटा हुआ है:

- उपखंड या परगना
- तहसील
- विकासखंड
- नगर निकाय
- गांव
- पंचायत

2. **स्वास्थ्य सेवाप्रदाता ढांचा:** इसे हम तीन हिस्सों, प्राथमिक, द्वितीयक और प्रादेशिक स्तर पर बांट सकते हैं:
 - प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएं प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों यानी पीएचसी और उपकेन्द्रों के जरिये प्रदान की जाती हैं
 - द्वितीय स्वास्थ्य सेवाएं सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों यानी सीएचसी और जिलास्तरीय अस्पतालों में मिलती हैं
 - प्रादेशिक स्वास्थ्य सेवाएं क्षेत्रीय स्वास्थ्य केन्द्रों या केन्द्रीय स्तरीय संस्थानों में प्रदान की जाती हैं

13.7: निष्कर्ष (Conclusion)

उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पर्याप्त बजट के अभाव और लागू किये जाने में ढिलाई के चलते भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति इतनी बेहतर नहीं हो सकी कि वे गुणवत्तापरक हो सकें। इससे ग्रामीण क्षेत्रों, उपेक्षित और निर्धन वर्ग के लोगों को इनका बेहतर लाभ नहीं मिल सका। इस समस्या से निपटने के लिये आवश्यक सेवाओं को निजी हाथों में सौंपा जाने लगा है, लेकिन इस कदम से स्वास्थ्य और उपचार की सेवाएं निर्धन वर्ग के लोगों की पहुंच से दूर होती जा रही हैं। चूंकि, स्वास्थ्य विकास का एक अहम पैमाना है, जरूरत यह है कि भविष्य के लिये और अधिक बेहतर व व्यावहारिक नीतियों को तैयार किया जाये ताकि हर व्यक्ति तक बेहतर स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराना सुनिश्चित किया जा सके।

13.8: अभ्यास प्रश्न (Model Questions)

- बोहरे कमेटी का गठन कब और क्यों किया गया था? इस कमेटी के प्रमुख सुझावों पर प्रकाश डालें।
- किस कमेटी ने सामूहिक चिकित्सा का सुझाव दिया?
- सामाजिक चिकित्सक की अवधारणा क्या है?
- बहुदेशीय स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं से आप क्या समझते हैं?
- भारत की पहली पंचवर्षीय योजना में किस कमेटी के सुझावों को शामिल किया गया था?
- भारत की पहली राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति को लागू करने के पीछे क्या वजहें रहीं?

13.9: सहायक अध्ययन (Suggested Readings)

- Baru. Rama and Bisht . (2010)Health service inequalities as challenge to health security, Oxfam India, New Delhi.
- Duggal Ravi (2001) , 'Evolution Of Health Policy In India'CEHAT, New Delhi.
- Praveen Jha(2003) 'Current Government Policies Towards Health,Education and Poverty Alleviation in India: An Evaluation', the Council for Social Development, New Delhi,
- Sujatha.V. 2014. 'Sociology of Health and Medicine, new perspectives'. New Delhi: Oxford Univesity Press.
Website : [www. Nhp.govt.in](http://www.Nhp.govt.in) National health portal

इकाई -14

भारत में स्वास्थ्य प्रशासन (Healthcare Administration in India)

14.1 उद्देश्य

- 14.2 परिचय
- 14.3 भारत में स्वास्थ्य नीतियों का विकास
- 14.4 स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय का संगठन
- 14.5 भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थानों की भूमिका
- 14.6 स्वास्थ्य योजनाएं और कार्यक्रम
- 14.7 निष्कर्ष
- 14.8 भावी अध्ययन

14.1 उद्देश्य (Objects)

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम जान सकेंगे कि—

- भारत में स्वास्थ्य देखभाल का संवैधानिक आधार, प्रमुखता एवं सुनिश्चितता
- भारत में स्वास्थ्य देखभाल नीतियों के विकास को कालक्रमानुसार समझना
- भारत में स्वास्थ्य देखभाल के मसले पर गठित विभिन्न कमेटियां
- स्वास्थ्य देखभाल प्रशासन में शासन की भूमिका
- स्वास्थ्य देखभाल के क्षेत्र में सार्वजनिक संस्थानों की उपलब्धता, भूमिका और कार्य
- भारत में स्वास्थ्य देखभाल संबंधी नीतियां और योजनाएं

14.2 परिचय (Introduction)

भारतीय संविधान ने स्वास्थ्य के अधिकार को मूलभूत अधिकारों में जगह दी है। प्रस्तावना और राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में सार्वजनिक स्वास्थ्य के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से स्थान दिया गया है। सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया है कि अनुच्छेद 21 (जीवन के अधिकार) के अंतर्गत भारत में स्वास्थ्य के अधिकार को बुनियादी अधिकार के रूप में विभिन्न प्रावधानों से संरक्षित किया गया है। नीति निर्देशक तत्वों के अलावा स्वास्थ्य संबंधी प्रावधानों को 11वीं और 12वीं अनुसूची में पंचायतों और नगर पालिकाओं के अधीन रखा गया है। इनमें पेयजल का अधिकार, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता, परिवार कल्याण, महिला एवं बाल सशक्तीकरण, सामाजिक कल्याण आदि शामिल हैं। संविधान राज्य को लोगों की स्वास्थ्य देखभाल की स्थितियों में सुधार के कदम उठाने के लिये निर्देशित करता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सफाई व्यवस्था, अस्पतालों और डिस्पेंसरियों को राज्य सूची में रखा गया है ऐसे में लोगों की स्वास्थ्य देखभाल के संबंध में राज्य प्रशासन की बड़ी जिम्मेदारी और भूमिका बन जाती है। प्रत्येक राज्य को इतना सशक्त बनाया गया है कि वह लोगों की बेहतरी के लिये अपने स्वयं के स्वास्थ्य कार्यक्रमों का संचालन कर सके और नीतियों का निर्माण कर सके। इसके अलावा संविधान में स्वास्थ्य को मूलभूत अधिकार के तौर पर स्थापित करने के लिये स्वास्थ्य को समन्वित बनाने की दिशा में भी कई अन्य पहल की गयी हैं। वर्ष 1989 में परमानंद कटारा बनाम भारतीय गणराज्य के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने ऐतिहासिक निर्णय दिया। अपने इस फैसले में अदालत ने कहा कि यह डॉक्टर—चाहे निजी हो या सार्वजनिक अस्पताल में कार्यरत— का कर्तव्य है कि वह जीवन की सुरक्षा के लिये अपनी सेवाओं को विस्तार दे। कोर्ट ने कहा कि मानव जीवन का संरक्षण सर्वोच्च प्राथमिकता में होना चाहिये।

14.3 भारत में स्वास्थ्य नीतियों का विकास (Evolution of Healthcare policies in India)

औपनिवेशिक काल से ही भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के मूल्यांकन और समीक्षा के लिये विभिन्न कमेटियों का गठन किया गया। इनका कार्य स्वास्थ्य हालात की जानकारी देना और

नागरिकों को बेहतर सुविधाएं मुहैया कराने के लिये आवश्यक सुझाव देना था। ऐसी कुछ प्रमुख समितियां निम्न हैं:

भोरे कमेटी, 1946

ब्रिटिशकाल में वर्ष 1943 में इस कमेटी का गठन किया गया था। इसका मकसद तत्कालीन स्वास्थ्य व्यवस्था का सर्वे करना था। कमेटी ने बताया कि भारत में संरक्षात्मक स्वास्थ्य के लिहाज से कार्यक्रमों का विकास करना आवश्यक है और भारत में स्वास्थ्य के इलाज की व्यवस्था के साथ स्वास्थ्य प्रशासन की व्यवस्था होनी चाहिये। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट वर्ष 1946 में दी। कमेटी के कुछ प्रस्ताव निम्न हैं:

- कोई भी व्यक्ति चिकित्सा उपचार से इसलिये वंचित नहीं रहना चाहिये कि वह इलाज के दाम का भुगतान कर पाने में अक्षम है
- आधुनिक चिकित्सा अभ्यास की जटिलता को ध्यान में रखते हुये, यह आवश्यक है कि इनका विकास करते हुये समुचित परीक्षण और उपचार के लिये परामर्श, जांच, सांस्थानिक सुविधाएं अनिवार्य रूप से व्यवस्था की जाये
- स्वास्थ्य समस्या के उपचार के दौरान यह आवश्यक है कि संरक्षात्मक दृष्टि पर जोर दिया जाये
- देश की बड़ी ग्रामीण आबादी को चिकित्सकीय सुविधाएं और देखभाल प्रदान करना अत्यावश्यक है
- सामुदायिक स्तर पर अधिकतम सुविधा और सेवा प्रदान करने के लक्ष्य से यह आवश्यक है कि स्वास्थ्य सुविधाएं जनता के नजदीक उपलब्ध करायी जायें
- स्वास्थ्य कार्यक्रमों के विकास में जनता की सक्रिय सहभागिता को सुनिश्चित करना आवश्यक है
- प्रत्येक 20 हजार आबादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, 60 हजार आबादी पर द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्र और तीन लाख आबादी पर हर जिला मुख्यालय में स्वास्थ्य मुख्यालय की स्थापना की जाये
- लोगों को स्वस्थ एवं सुखी जीवन देने की दिशा दिखाने के लिये संरक्षात्मक एवं चिकित्सकीय उपचार का तीन माह का प्रशिक्षण देकर सामाजिक चिकित्सक तैयार किये जायें

मुदालियर कमेटी, 1962

वर्ष 1959 में भारत सरकार ने इस कमेटी का गठन किया, जिसका लक्ष्य स्वास्थ्य व्यवस्था में विकास का मूल्यांकन करना और जिला अस्पतालों के विस्तार, भावी विकास तथा मजबूती को लेकर सुझाव देना था। इस समिति ने भारत में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा प्रशासन, उप प्रभागीय और जिला अस्पतालों के विकास की तत्कालीन स्थिति को मजबूत करने पर जोर दिया। मुदालियर कमेटी के कुछ प्रमुख सुझाव हैं:

- प्रारंभिक दो पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य क्षेत्र में किये गये प्रयासों, उपलब्धियों को समन्वित करना
- जिला अस्पतालों में विशेषज्ञ सुविधाओं को उपलब्ध कराना

- स्वास्थ्य सुविधाओं और सेवाओं का क्षेत्रीयकरण करना, यानी राज्य और जिला मुख्यालयों के बीच विभिन्न क्षेत्रीय स्तर पर स्वास्थ्य ढांचे का विकास करना
- यह सुनिश्चित करना कि प्रत्येक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र 40 हजार आबादी को स्वास्थ्य सेवा प्रदान करे
- प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर उपलब्ध तत्कालीन सुविधाओं में सुधार करना
- बोहरे कमेटी में दिये गये सुझावों के अनुरूप चिकित्सकीय और स्वास्थ्य सेवाओं का एकीकरण करना
- भारतीय प्रशासनिक सेवा यानी आईएएस की तरह अखिल भारतीय स्वास्थ्य सेवा का गठन

चड़ढा कमेटी, 1963

तत्कालीन स्वास्थ्य सेवा महानिदेशक डॉ. एमएस चड़ढा की अध्यक्षता में इस कमेटी का गठन किया गया था। इसका लक्ष्य राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम की देखरेख और व्यवस्थाओं का अध्ययन करना था। कमेटी के मुख्य सुझाव निम्नवत रहे:

- राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम की निगरानी की जिम्मेदारी सामान्य स्वास्थ्य सेवाओं की होनी चाहिये
- स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के जरिये घर-घर जाने का मासिक लक्ष्य निर्धारित किया जाये, कमेटी ने प्रत्येक स्वास्थ्य कर्मी के लिये 10 हजार आबादी का लक्ष्य रखने का सुझाव दिया
- अन्य अहम आंकड़े जुटाना और परिवार कल्याण कार्यक्रम का संचालन भी स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त दायित्व हों, ऐसे तीन से चार स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं पर पर्यवेक्षक के तौर पर परिवार कल्याण स्वास्थ्य सहायक हो।
- जिला स्तर पर मरम्मत और रखरखाव का जिम्मा भी सामान्य स्वास्थ्य सेवा के जिम्मे होना चाहिये

मुखर्जी कमेटी, 1965

इस कमेटी का लक्ष्य नियोजन कार्यक्रमों और गतिविधियों के लिये अलग कर्मचारियों की व्यवस्था करना रहा, क्योंकि पूर्ववर्ती कमेटियों के सुझाव के अनुरूप स्वास्थ्य सेवाओं के अलावा परिवार नियोजन, चेचक, कुष्ठ, मलेरिया उन्मूलन जैसे कार्यक्रमों की देखरेख कर पाना राज्यों के लिये संभव नहीं हो पा रहा था। इसका एक मुख्य कारण पर्याप्त बजट का अभाव था। कमेटी ने भारतीय प्रशासन व्यवस्था में बुनियादी स्वास्थ्य व्यवस्था को मजबूत करने पर जोर दिया।

जंगलवाला कमेटी, 1967

इस कमेटी का गठन स्वास्थ्य सेवाओं के हालात तथा समस्याओं के मूल्यांकन और इनके एकीकरण के लिये सुझाव देने के लक्ष्य से किया गया था। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा, एकीकरण की प्रक्रिया का अर्थ क्रांति के बजाय क्रमागत विकास होना चाहिये।

करतार सिंह कमेटी, 1973

केन्द्र सरकार में अतिरिक्त सचिव स्वास्थ्य करतार सिंह की अध्यक्षता में इस कमेटी का गठन किया गया, जिसका लक्ष्य स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन कार्यक्रम से जुड़े बहुउद्देश्यीय कार्यकर्ताओं की

कार्यपद्धति और कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिये किया गया। कमेटी ने एकीकृत सुविधाओं को पर्यवेक्षक के तौर पर देखा। कमेटी ने परिवार नियोजन कार्यक्रम और सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था के अंतर्गत बहुउद्देश्यीय कर्मचारियों की आवश्यकता, उनके प्रशिक्षण की आवश्यकताओं, मोबाइल सर्विस यूनिट की स्थापना पर जोर दिया।

श्रीवास्तव समूह रिपोर्ट, 1975

इस समूह का गठन चिकित्सा शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में कर्मचारियों की संख्या बढ़ाने के लिये सुझाव देने के मकसद से किया गया था। स्वास्थ्य सहायकों का कैंडर विकसित करने के लिये समूह ने उपयुक्त पाठ्यक्रम लागू करने का सुझाव दिया, ताकि प्रशिक्षित चिकित्सा विशेषज्ञों और बहुउद्देश्यीय कर्मचारी बेहतर व प्रभावी स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने में एक-दूसरे का भरपूर सहयोग कर सकें।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान 1975 से 1977 तक देश में आपातकाल लागू हो गया। इस अवधि में बड़े पैमाने पर जनसंख्या नियंत्रण के मानक लागू किये गये। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की घोषणा की गयी, जिसका लक्ष्य विकास के लिये निरंतर बढ़ती आबादी पर काबू पाना था और इसके लिये अनिवार्य नसबंदी अभियान चलाया गया। लेकिन आपातकाल हटने और नयी सरकार के गठन के साथ इस नीति को हटा दिया गया। पांचवीं योजना में पेयजल वितरण और स्वच्छता पर भी जोर दिया गया, जिनका नागरिकों के स्वास्थ्य से सीधा संबंध है। छठी पंचवर्षीय योजना में समुदाय आधारित स्वास्थ्य सेवाओं के महत्व पर जोर दिया गया। इसकी वजह यह थी कि तत्कालीन चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवाओं में अस्पतालों, विशेषज्ञ चिकित्सकों व उच्च प्रशिक्षित डॉक्टरों पर जोर दिये जाने से शहरी और अभिजात्य वर्ग तक ही ये सीमित रह गये थे, जबकि ग्रामीण आबादी को अब तक इनका पूरा लाभ नहीं मिल पा रहा था। वर्ष 1983 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति की घोषणा की गयी थी। इस नीति में समुदाय आधारित और हर नागरिक की पहुंच में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने पर जोर दिया गया। ऐसी चिकित्सकीय सेवाओं के विकास पर ध्यान दिया गया, जिनकी वास्तव में आवश्यकता हो और जो सार्वभौमिक व समग्र हों। इस नीति की खासियत यह थी कि यह स्वास्थ्य सेवाओं के पश्चिम आधारित और मात्र उपचारात्मक व्यवस्था के बजाय संरक्षात्मक और पुनर्वास संबंधी प्राथमिक चिकित्सा सेवा दृष्टिकोण पर जोर देती है। नीति में विकेन्द्रीकृत स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था, सामुदायिक सहभागिता और स्वास्थ्य सेवा प्रशासन के गठन पर जोर दिया गया है, जो महामारी प्रभावित क्षेत्रों में विभिन्न स्वास्थ्य कार्यक्रमों को समन्वित और एकीकृत कर सकें।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 1983 में समग्र स्वास्थ्य सेवा पर जोर तो दिया गया, लेकिन इसे मूलभूत अधिकार के तौर पर स्थापना नहीं दी जा सकी। इस नीति की आलोचना इसलिये की जाती है कि इसमें शामिल कई बिन्दु कागजों पर ही रह गये, जबकि धरातल पर उपयुक्त काम नहीं किया जा सका। वर्ष 2002 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में कई नये नीतिपरक लक्ष्य तय किये गये, जिनमें स्वास्थ्य व्यवस्था में न्यूनमत मानकों के नियमन और नियंत्रण के लिये वैधानिक इकाईयों के गठन, सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थानों के विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वशासन को सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों को लागू करने लायक सशक्त बनाने पर जोर दिया गया। इसके अलावा प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धतियों और होम्योपैथी से जुड़े चिकित्सकों को भी स्वास्थ्य सेवाओं से जोड़ने की भी व्यवस्था दी गयी। नागरिकों के अच्छे स्वास्थ्य के लिये आवश्यक मानकों को पूरा करने का लक्ष्य नीति में तय किया गया। इस नीति में स्वास्थ्य सेवा से जुड़े अन्य पहलुओं, वित्त, समानता, सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों, स्वास्थ्य अवस्थापना ढांचा, स्वास्थ्य सेवा संबंधी शिक्षा, शोधकार्य,

गैरसरकारी संस्थाओं की भूमिका, सिविल सोसायटी और गुणवत्तापरक भोजन आदि को भी शामिल किया गया।

वर्ष 2017 में फिर नयी स्वास्थ्य नीति लागू की गयी है। इस नीति में स्वास्थ्य बजट में ढाई प्रतिशत की बढ़ोतरी का प्रस्ताव दिया गया है। सभी सार्वजनिक अस्पतालों में निःशुल्क दवाएं, निःशुल्क जांच, निःशुल्क आपातकालीन और आवश्यक चिकित्सकीय सेवाएं प्रदान करने की बात भी इस नीति में कही गयी है। हालांकि, यह नीति भी स्वास्थ्य को न्यायपरक अधिकार के तौर पर स्थापित नहीं कर पायी है। केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय सभी स्वास्थ्य नीतियों, कार्यक्रमों और योजनाओं को प्रभावी तौर पर लागू करने का जिम्मा निभाता है। इनमें परिवार कल्याण, प्राथमिक चिकित्सा सेवा, संरक्षा और नियंत्रण आदि शामिल हैं। संवैधानिक व्यवस्था में सार्वजनिक स्वास्थ्य, अस्पताल-डिस्पेंसरी और सफाई व्यवस्था राज्य सूची में रखे गये हैं। जनसंख्या नियंत्रण, परिवार नियोजन, स्वास्थ्य शिक्षा, भोजन और अन्य सामग्री में मिलावट, विषाक्त एवं मादक द्रव्य, चिकित्सा विशेषज्ञ, जन्म-मृत्यु पंजीकरण आदि समवर्ती सूची में शामिल हैं।

14.4 स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय का संगठन (Organization of Ministry of Health)

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के मुखिया कैबिनेट मंत्री होते हैं, जिनके साथ राज्यमंत्री या उपमंत्री भी तैनात किये जा सकते हैं, जो संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मंत्रालय के कार्यकारी मुखिया भारत सरकार के स्वास्थ्य सचिव होते हैं। मंत्रालय के अधीन स्वास्थ्य विभाग चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य के मसलों की देखरेख के साथ दवाओं के नियंत्रण, खाद्य पदार्थों में मिलावट के मामलों को देखता है, जबकि परिवार कल्याण विभाग राज्यों में संचालित विभिन्न कार्यक्रमों की निगरानी के साथ समन्वय, मातृ-शिशु स्वास्थ्य, शिक्षा, मीडिया आदि तकनीकी पहलुओं की देखरेख करता है। राज्य स्तर पर कैबिनेट या राज्यमंत्री स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय का दायित्व संभालते हैं। एक वरिष्ठ आईएएस अधिकारी सचिवालय में विभागीय कार्य संभालता है और वह मंत्री को स्वास्थ्य नीतियों के निर्माण, कार्यक्रमों के संचालन के सुझाव तथा निदेशालय व फील्ड ऑफिसों के माध्यम से निगरानी का काम करते हैं। जिला स्तर पर सिविल सर्जन या मुख्य चिकित्सा अधिकारी यानी सीएमओ स्वास्थ्य विभाग के प्रशासनिक मुखिया होते हैं। सीएमओ जन्म-मृत्यु पंजीकरण के पदेन जिला निबंधक यानी रजिस्ट्रार भी होते हैं। ब्लॉक स्तर पर स्वास्थ्य विभाग का प्रशासनिक नियंत्रण प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के वरिष्ठ चिकित्सा अधिकारी पर रहता है। उनका जिम्मा विभिन्न स्वास्थ्य कार्यक्रमों, उपचारात्मक सेवाओं को ब्लॉक स्तर पर उपलब्ध कराना होता है। केन्द्र सरकार वित्तीय मदद, निर्देशन के साथ गैरसरकारी संस्थाओं को सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में प्रोत्साहन देती है। इसमें सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाओं पर जोर दिया जाता है।

14.5 भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थानों की भूमिका (Role of Public Health Organizations in India)

विभिन्न समितियों और उनके सुझावों के अलावा केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय ने कई अन्य वैधानिक इकाइयों की भी व्यवस्था दी है, जो स्वास्थ्य नीतियों, कार्यक्रमों के सफल संचालन में मददगार बनती हैं। भावी स्वास्थ्य नीतियों और कार्यक्रमों में भी ये सहायक होती हैं। ऐसी कुछ इकाइयां निम्नवत हैं:

मेडिकल काउंसिल ऑफ इंडिया (Medical Council of India)

भारतीय चिकित्सा परिषद या मेडिकल काउंसिल का गठन वर्ष 1956 में भारतीय चिकित्सा परिषद एक्ट के तहत किया गया। परिषद भारत में स्वास्थ्य शिक्षा के क्षेत्र में उच्च मानकों की स्थापना और निगरानी के लिये उत्तरदायी है। परिषद चिकित्सा शिक्षा के लिये आवश्यक न्यूनतम मानक तय करने के साथ मेडिकल कॉलेजों में भी मानकों को तय करती है, जिनके आधार पर चिकित्सा शिक्षा प्रदान की जा सके। परिषद के मुख्य कार्य निम्नवत हैं:

- विश्वविद्यालयों में चिकित्सा परास्नातक पाठ्यक्रमों के संचालन संबंधी मानक तय करना
- शिक्षण एवं परीक्षा कार्यों से संबंधित जानकारी एवं सूचनाएं हासिल करना
- चिकित्सा योग्यताओं के संबंध में केन्द्र सरकार के समक्ष प्रस्तुतीकरण
- मेडिकल कॉलेजों का नियमित निरीक्षण और प्रशिक्षण संबंधी सुविधाओं को सक्षम बनाना
- भारतीय मेडिकल रजिस्टर तैयार करना

डेंटल काउंसिल ऑफ इंडिया (Dental Council of India)

डेंटल काउंसिल का गठन वर्ष 1948 में किया गया। इसकी स्थापना भारत में दंत चिकित्सा शिक्षा के नियमन के लिये वैधानिक इकाई के तौर पर की गयी। इसके मुख्य कार्यों में दंत चिकित्सा शिक्षा के पाठ्यक्रमों और सुविधाओं के मानकों की निगरानी करना है। मानकों के नियमन के लिये नियमित निरीक्षण किये जाते हैं। इन निरीक्षणों के माध्यम से भारत में स्वास्थ्य सेवा प्रशासन आगे सुधार और पाठ्यक्रमों के उन्नयन का काम करता है। साथ ही मानकों के अनुरूप सुविधाएं प्रदान करने का काम भी किया जाता है।

इंडियन नर्सिंग काउंसिल (Indian Nursing Council)

1947 में गठित यह परिषद नर्सों, दाइयों, सहायक नर्सों और अन्य स्वास्थ्यकर्मियों को निश्चित मानकों के तहत प्रशिक्षण और निगरानी का दायित्व संभालती है। यह नर्सिंग पाठ्यक्रमों को तैयार करने, अध्यापन संबंधी तकनीकों और विभिन्न राज्यों की परिषदों से समन्वय तथा भारतीय नर्स रजिस्टर में पंजीकरण का भी काम करती है।

फार्मसी काउंसिल ऑफ इंडिया (Pharmacy Council of India)

वर्ष 1949 में इस परिषद का गठन किया गया। इस परिषद के मुख्य कार्यों में फार्मसी शिक्षा के मानकों का निर्धारण और निगरानी करना तथा पंजीकरण के लिये आवश्यक मान्यताओं को ध्यान में रखना है। इसके साथ ही सेट्रल रजिस्टर ऑफ फार्मसिस्ट की देखरेख भी इसका कार्य है।

नेशनल बोर्ड ऑफ एक्जामिनेशन (National Board of Examinations)

परास्नातक परीक्षाओं के मानकों को तय करने के लिये भारत सरकार ने प्रतिष्ठित परीक्षा इकाई का गठन किया है, जिसे नेशनल बोर्ड ऑफ एक्जामिनेशन कहा जाता है। इसका कार्य परास्नातक स्तर पर विदेशी योग्यताओं, मसलन एफआरसीएस और एमआरसीपी की तरह भारत में परीक्षाओं का आयोजन कराना है।

इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च (Indian Council of Medical Research: ICMR)

1950 में गठित यह स्वायत्त निकाय है, जिसका लक्ष्य बायोमेडिकल शोध को बढ़ावा देना, समन्वय और मानकीकरण करना है। आईसीएमआर के महत्वपूर्ण कार्य निम्नवत हैं:

- रोगों से संरक्षा में आवश्यक शोधकार्यों में सहयोग, संयोजन, प्रोत्साहन तथा ज्ञान-ज्ञानकारियों तथा प्रायोगिक मानकों का प्रसार करना
- भारत में चिकित्सकीय वैज्ञानिक शोधकार्यों को बढ़ावा देना और विभिन्न संस्थानों को रोगों, उनसे संरक्षण, करणीय संबंधों तथा उपचार के अध्ययन के लिये मदद और प्रोत्साहन देना
- शोधकार्यों को वित्तीय मदद उपलब्ध कराना
- समान प्रोजेक्ट पर काम कर रहे दूसरे वैज्ञानिकों, संस्थाओं और संगठनों के साथ सूचनाओं का आदान-प्रदान
- शोधपत्र या पत्रिकाओं को तैयार करना और प्रकाशित करना अथवा ऐसी किसी पत्रिका में योगदान करना, ताकि परिषद के भावी उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके
- प्रशिक्षु शोधकर्ताओं को प्रोत्साहित करने के लिये फेलोशिप, छात्रवृत्ति और पुरस्कार योजनाओं का संचालन

सेंट्रल काउंसिल ऑफ हेल्थ (Central Council of Health)

केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद या सेंट्रल काउंसिल ऑफ हेल्थ का गठन अनुच्छेद 263 में प्रदत्त प्रावधानों के अनुरूप राष्ट्रपति के आदेश पर अगस्त 1952 में किया गया। परिषद में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री अध्यक्ष होते हैं, जबकि सभी राज्यों के स्वास्थ्य मंत्री इसके सदस्य हैं। परिषद का मुख्य कार्य भारत में स्वास्थ्य सेवा प्रशासन को उपचार, संरक्षा, पर्यावरणीय स्वच्छता, पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षा और प्रशिक्षण एवं शोधकार्यों के प्रोत्साहन के लिये आवश्यक सुझाव देना है। इसके साथ ही सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा से जुड़े मसलों में विधि निर्माण का भी काम यह परिषद करती है। त्योहारों, महामारी और गंभीर आपदाओं आदि के दौरान अंतरराज्यीय स्तर पर स्वास्थ्य संबंधी समन्वय स्थापित करना भी परिषद का दायित्व है। उपलब्ध अनुदान के राज्यों को वितरण को लेकर केन्द्र सरकार को यह परिषद सुझाव देती है। इसके अलावा विभिन्न राज्यों में किये गये कार्यों की समयवार समीक्षा भी की जाती है, ताकि दिये गये अनुदान के उपयोग की सही जानकारी उपलब्ध करायी जा सके। साथ ही राज्य और केन्द्रीय स्वास्थ्य प्रशासन के मध्य समन्वय स्थापित करना भी इसका काम है।

14.6 स्वास्थ्य कार्यक्रम एवं योजनाएं (Health Programmes and Schemes)

उपरोक्त सभी इकाइयों के सहयोग से स्वास्थ्य से जुड़े विभिन्न मसलों के निस्तारण के लिये कई कार्यक्रम और योजनाओं का संचालन देश में किया गया है:

- **राष्ट्रीय संक्रामक रोग निगरानी कार्यक्रम:** 1997-98 में यह कार्यक्रम लांच किया गया, जिसका लक्ष्य विभिन्न संक्रामक बीमारियों की रोकथाम करना था
- **राष्ट्रीय वेक्टर बॉर्न रोग नियंत्रण कार्यक्रम:** मलेरिया, कालाजार, फिलेरियासिस उन्मूलन के पूर्वसंचालित कार्यक्रमों को दसवीं पंचवर्षीय योजना में विस्तार देते हुये उसमें डेंगू, जापानी इंसेफलाइटिस जैसे रोगों को भी शामिल किया गया
- **नेशनल एंटी मलेरिया प्रोग्राम:** इस कार्यक्रम के तहत भारत सरकार मलेरिया प्रभावित सभी क्षेत्रों में राज्य सरकारों को तकनीक, उपचार आदि की व्यवस्था उपलब्ध कराती है, ताकि मलेरिया उन्मूलन के लक्ष्य को हासिल किया जा सके

- **नेशनल फिलेरिया कंट्रोल प्रोग्राम:** वर्ष 2004-05 में लिंफेटिक फिलेरियासिस के उन्मूलन के वैश्विक प्रयासों के तहत सात राज्यों के 13 चिह्नित जिलों में इस कार्यक्रम को पायलट प्रोजेक्ट के तौर पर प्रारंभ किया गया
- **कालाजार नियंत्रण कार्यक्रम:** कालाजार यानी काला बुखार या लिस्मेनियासिस को भारत की गंभीर स्वास्थ्य समस्या माना जाता है, बंगाल में यह बीमारी बहुत अधिक होती थी और इसके निरंतर प्रसार को देखते हुये केन्द्र सरकार ने स्थिति को नियंत्रण में लाने के लिये यह कार्यक्रम लांच किया, विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वर्ष 2017 तक कालाजार को पूरी तरह उन्मूलन करने का लक्ष्य तय किया है और भारत सरकार विभिन्न सहयोगियों के साथ इस दिशा में कार्यरत है (www.nhp.gov.in)
- **राष्ट्रीय डेंगू नियंत्रण कार्यक्रम:** भारत में डेंगू का पहला मामला वर्ष 1963 में कलकत्ता में सामने आया था, 1956 से 1993 की अवधि में यह लगातार बढ़ता गया है, चूंकि डेंगू बहुत तेजी से फैलता है, यह भारत की प्रमुख स्वास्थ्य समस्याओं में से एक बन गया, NVBDCP के अनुसार डेंगू का प्रसार आंध्र प्रदेश, गोआ, गुजरात, कर्नाटक, हरियाणा, मध्य प्रदेश, केरल, दिल्ली, महाराष्ट्र, पंजाब और तमिलनाडु में सर्वाधिक है, वर्ष 2010 से 2012 के बीच यह अन्य राज्यों तक भी पहुंच गया, हालांकि डेंगू के कारण होने वाली मौतों पर बेहतर रिपोर्ट, जांच-परीक्षण, उपचार और रोगी प्रबंधन सुविधाओं के जरिये खासी लगाम कसी जा चुकी है (Cecilia, 2014)
- **जापानी इंसेफलाइटिस नियंत्रण कार्यक्रम:** यह वायरस संक्रमण से होने वाला रोग है, जिसके मामले 26 राज्यों में सामने आते रहे हैं, आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा, कर्नाटक, मणिपुर, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में इसके मामले बार-बार सामने आये हैं, इसे देखते हुये केन्द्र सरकार समय-समय पर राष्ट्रीय स्तरीय टास्क फोर्स का गठन करती रही है, वर्ष 2006 से भारत में इस बीमारी की रोकथाम के लिये टीकाकरण भी प्रारंभ किया जा चुका है
- **एड्स नियंत्रण कार्यक्रम:** वर्ष 2006 में UNAIDS के एक आकलन के अनुसार भारत में पांच लाख से अधिक एचआईवी संक्रमित लोग हैं, भारत में एड्स का पहला मामला वर्ष 1986 में सामने आया था, प्रारंभ में शहरी इलाकों में ही यह बीमारी सामने आयी, लेकिन धीरे-धीरे ग्रामीण क्षेत्रों में भी यह तेजी से बढ़ती गयी, बड़े पैमाने पर महिलाएं और गर्भवस्थ शिशु भी इससे संक्रमित हो रहे थे, दूसरी ओर इस रोग से संक्रमित महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले लांछन और भेदभाव झेलना पड़ता है, वर्ष 2001 में सरकार ने राष्ट्रीय एड्स संरक्षा और नियंत्रण नीति लागू की और इस महामारी पर रोकथाम का लक्ष्य तय किया
- **राष्ट्रीय कुष्ठ निवारण कार्यक्रम:** 1955 में यह कार्यक्रम प्रारंभ हुआ, लेकिन 1970 में ही निश्चित उपचार की पहचान की जा सकी, जिसका विस्तार 1982 तक जाकर हुआ, इसके बाद वर्ष 1983 में इस कार्यक्रम की रूपरेखा दोबारा तय की गयी, जिसे विश्व बैंक की मदद से आगे बढ़ाया गया, चार विभिन्न चरणों में चलाये गये इस अभियान के बाद वर्ष 2002 में कुष्ठ रोग को वर्ष 2005 तक प्रति दस हजार पर एक व्यक्ति तक ले जाने का लक्ष्य तय किया गया, वर्ष 2005 में रोगोन्मूलन की घोषणा की गयी, लेकिन विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार भारत में अब भी कुष्ठ रोग के नये मामले सामने आ रहे हैं
- **राष्ट्रीय क्षयरोग नियंत्रण कार्यक्रम:** विश्व स्वास्थ्य संगठन और स्वीडिश इंटरनेशनल डेवलपमेंट एजेंसी यानी सीडा की मदद से वर्ष 1992 में यह कार्यक्रम प्रारंभ किया गया, लेकिन कई परेशानियों के चलते यह कार्यक्रम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सका ऐसे में **Revised**

National Tuberculosis Control Programme (RNTPC) 1997 में लांच किया गया, अब यह कार्यक्रम देश के 632 जिलों में एक अरब आबादी तक विस्तृत है, डॉट्स के तहत 12 लाख से अधिक मरीजों का उपचार चल रहा है और ढाई लाख के करीब लोगों का जीवन बचाया जा चुका है

- **राष्ट्रीय कैंसर नियंत्रण कार्यक्रम:** भारत सरकार के ही एक अनुमान के अनुसार देश में 20 लाख से अधिक लोग कैंसर से पीड़ित हैं, हर साल सात लाख से अधिक नये मामले सामने आते हैं और तीन लाख मौत इसके कारण होती है, नेशनल कैंसर रजिस्ट्री प्रोग्राम से स्पष्ट हुआ है कि भारत में पुरुषों में मुंह, फेफड़े, ग्रासनली और पेट का कैंसर अहम हैं, जबकि महिलाओं में गर्भाशय, स्तन और मुंह के कैंसर के मामले अधिक मिलते हैं, भारत में मौत के दस कारणों में यह एक है, इस योजना के तहत स्वयंसेवी योजनाओं को कैंसर के प्रति जागरूकता अभियान और रोग की त्वरित पहचान के लिये मदद दी गयी, इसके अलावा जिला कैंसर नियंत्रण योजना, कोबाल्ट थेरेपी के विकास, मेमोग्राफी इकाइयों की स्थापना, सरकारी अस्पतालों में ओंकोलॉजी शाखा के गठन और विभिन्न क्षेत्रीय कैंसर संस्थानों की स्थापना की दिशा में काम किया गया
- **राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम:** मानसिक रोगी लोगों की मदद और उपचार के लिये वर्ष 1982 में इस कार्यक्रम को प्रारंभ किया गया, मानसिक रोग अस्पतालों के आधुनिकीकरण, लंबे समय तक रहने वाले रोगियों की व्यवस्था, मेडिकल कॉलेजों में मनोचिकित्सा वार्ड की स्थापना इस कार्यक्रम में ध्यान केन्द्रित किया गया, लोगों के स्वास्थ्य के लिहाज से कुछ अन्य संरक्षात्मक कदम भी उठाये गये, जिनमें तंबाकू और सिगरेट उत्पादनों के विज्ञापनों पर रोक शामिल है
- **सेंट्रल ट्यूबरकलोसिस डिवीजन:** संशोधित राष्ट्रीय क्षय रोग कार्यक्रम की वार्षिक रिपोर्ट वर्ष 2011 में आयी, जिसमें सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान पर रोक, सिगरेट और अन्य तंबाकू उत्पादों के विज्ञापन पर प्रतिबंध तथा 18 वर्ष से कम आयु के किशोरों को तंबाकू उत्पादों की बिक्री पर रोक लगी
- **खाद्य सुरक्षा एवं पोषण कार्यक्रम:** भारत एकसाथ तीन समस्याओं— कुपोषण, सूक्ष्म पोषण और मोटापा से जूझ रहा है, महिलाओं और बच्चों की बड़ी आबादी कुपोषण और एनीमिया की शिकार है, वहीं राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे के अनुसार 56 फीसदी विवाहित महिलाएं और 24 प्रतिशत विवाहित पुरुष एनीमिक हैं, बच्चों में पोषण की बात की जाये तो शिशु मृत्यु दर के मामले में भारत अफ्रीकी और दक्षिण एशियाई पड़ोसी देशों से कुछ ही पीछे है, इसे देखते हुये देश में मिड डे मील और खाद्य सुरक्षा कार्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है

14.7 निष्कर्ष (Conclusion)

अब तक हम यह जान-समझ चुके हैं कि सरकार किस तरह स्वास्थ्य प्रशासन में केन्द्रीय भूमिका का निर्वहन करती है। नागरिकों को सामाजिक सुरक्षा और स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करना सरकार का दायित्व है और यह जनता का संवैधानिक अधिकार भी है। लेकिन सरकार के अलावा कुछ अन्य सेक्टर भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। सार्वजनिक संस्थानों के अलावा निजी सेक्टर भी भारत में बेहतर चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाओं, सुविधाओं को प्रदान करने में मददगार हो सकते हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे-3 के अनुसार भारत में 70 प्रतिशत शहरी आबादी और 63 प्रतिशत ग्रामीण आबादी को प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा निजी सेक्टर से ही मिल रही है।

14.8 भावी अध्ययन (Further Readings)

- Drèze J (2004) Democracy and the Right to Food. *Economic & Political Weekly*, 24 April, 24, 1723–1731.
- Drèze J, Khera R, Narayanan S (2008) Early Childhood in India: Facing the Facts. *Indian Human Development Journal* 1(2), 377–388.
- Goel, S.L, (1980) *Health Care Administration: Policy Making and Planning*, Volume 2, Sterling Publications, New Delhi
- Cecilia D. Current status of dengue and chikungunya in India. *WHO South-East Asia J Public Health* 2014; 3(1): 22–27.
- Sachdeva, D. R (2007), *Social Welfare Administration in India*, Kitab Mahal, Allahabad
- Baru, V Rama (1998) *Private Health care in India, Social Characteristics and Trends*, Sage Publications, New Delhi
- Sujatha, V, (2014) , *Sociology of Health and Medicines, New Perspectives*, Oxford University Press, New Delhi.

(Primary Healthcare and Private Healthcare in India)

- 15.1 उद्देश्य
- 15.2 परिचय
- 15.3 भारत और प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा
- 15.4 राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति
- 15.5 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का ढांचा और कार्य
- 15.6 आयुष
- 15.7 भारत में निजी स्वास्थ्य सेवाएं
- 15.8 निजी सेक्टर का विकास
- 15.9 निजी अस्पतालों के प्रकार
- 15.10 निजी स्वास्थ्य सेवा के अवसर एवं लाभ
- 15.11 सार्वजनिक निजी साझेदारी
- 15.12 निष्कर्ष
- 15.13 भावी अध्ययन

15.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम जान सकेंगे—

- प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं पर ध्यान देने के अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ
- भारत में प्राथमिक स्वास्थ्य प्रशासन के लिये गठित कमेटियां
- राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति की विशेषताएं और राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन यानी एनआरएचएम
- निजी स्वास्थ्य क्षेत्र— अवसर, प्रकार, संस्थान, लाभ, निजी सार्वजनिक साझेदारी और चुनौतियां

15.2 परिचय (Introduction)

1978 में सोवियत यूनियन में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया और अल्मा अत्ता घोषणाओं को पारित किया गया, जिनमें विभिन्न देशों में सरकारों के स्तर पर संरक्षण को महत्व देने तथा स्वास्थ्य सेवाओं को बढ़ावा देने की जरूरत जतायी गयी। सम्मेलन में यह सुनिश्चित किया गया कि, सिर्फ रोगों से मुक्ति नहीं, बल्कि संपूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सकुशलता बुनियादी मानव अधिकार है और स्वास्थ्य के क्षेत्र में उच्चतम स्तर तक पहुंचना विश्वव्यापी सामाजिक लक्ष्य है, जिसके लिये स्वास्थ्य सेक्टर के साथ कई अन्य सामाजिक और आर्थिक सेक्टरों को भी शामिल किया जाना चाहिये। घोषणा में शामिल अन्य अहम बिन्दुओं में

स्वास्थ्य सेक्टर में असमानता (विशेषकर विकसित और विकासशील देशों के बीच), जीवनस्तर में सुधार के लिये सामाजिक-आर्थिक समन्वय, स्वास्थ्य नीतियों के नियोजन और क्रियान्वयन में लोकतांत्रिक दृष्टिकोण, सतत और समुचित स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने को लेकर सरकारों का उत्तरदायित्व, समुदायों को वैज्ञानिक एवं सामाजिक तौर पर स्वीकृत चिकित्सकीय सेवाएं मुहैया कराना जो उनकी पहुंच के दायरे में हों और इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये देशों के बीच परस्पर बेहतर समन्वय और साझेदारी की आवश्यकता शामिल हैं। घोषणा के अनुसार प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा अनिवार्य स्वास्थ्य सेवा है, जिसके लिये लोगों और समुदायों के साथ व्यावहारिकता, वैज्ञानिक दक्षता, सामाजिक स्वीकृति और सार्वभौमिक तकनीक का इस्तेमाल इस तरह जरूरी है कि उनकी पूर्ण सहभागिता सुनिश्चित की जा सके। साथ ही प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा के विकास के लिये हर स्तर पर होने वाले खर्च को समुदाय और देश आसानी से वहन कर सकें, यह भी आवश्यक है। घोषणा में वर्ष 2000 तक सबके लिये स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने का लक्ष्य तय किया गया, जिसके लिये सभी देशों से विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनिसेफ, गैर सरकारी संगठनों और अन्य सहयोगी इकाइयों के साथ मिलकर काम करने की जरूरत जतायी गयी। इस तरह लक्ष्य को हासिल करने के लिये पांच मूलबिन्दु तय किये गये, जो निम्नवत हैं:

- स्वास्थ्य के क्षेत्र में असमानता और अपेक्षा को कम करना (universal coverage reforms)
- लोगों की जरूरतों और अपेक्षाओं के अनुरूप स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करना (service delivery reforms)
- सभी सेक्टरों में स्वास्थ्य का एकीकरण करना (public policy reforms)
- नीतियों के निर्माण में समन्वयकारी मॉडलों का इस्तेमाल करना (leadership reforms)
- हितधारकों की सहभागिता में वृद्धि करना

भारत समेत विभिन्न देशों ने वर्ष 2015 तक आठ मिलेनियम डेवलपमेंट गोल (MDG's) को हासिल करने का लक्ष्य तय किया, जिनमें से तीन प्रमुख हैं। ये हैं— शिशु मृत्युदर में गिरावट, मृत्युदर में सुधार और एचआईवी-एड्स, मलेरिया व अन्य रोगों का उन्मूलन। वर्तमान में सतत विकास लक्ष्यों को वर्ष 2030 तक हासिल करने का लक्ष्य रखा गया है। वर्ल्ड हेल्थ स्टेटिस्टिक्स 2017 में 21 स्वास्थ्य सतत विकास गोल (SDG) की जानकारी दी गयी है, जिनमें 35 सूचकांक शामिल किये गये हैं।

15.3 भारत और प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा (India and Primary Healthcare)

भारत में अल्मा अत्ता घोषणा से पहले ही प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा के महत्व की पहचान कर ली गयी थी। वर्ष 1946 में भोरे कमेटी की रिपोर्ट ने भारत में स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था की बुनियाद रखने का काम किया। यह कमेटी ब्रिटिश हुकूमत द्वारा वर्ष 1943 में गठित की गयी, जिसकी रिपोर्ट 1946 में प्रकाशित हुयी, जिसमें देश की तात्कालिक स्वास्थ्य परिस्थितियों के बारे में जानकारी दी गयी। कमेटी ने स्वास्थ्य सेवा को सामाजिक जिम्मेदारी के तौर पर देखा और सामुदायिक सहभागिता के महत्व को स्पष्ट किया। इस कमेटी के सुझावों में चिकित्सकीय क्षेत्र के सामाजिक तौर पर कार्य करने पर जोर दिया गया। कमेटी के कुछ अहम सुझाव निम्न हैं:

- सभी प्रशासनिक स्तरों पर संरक्षात्मक एवं उपचारात्मक सेवाओं का एकीकरण
- ग्राम स्वास्थ्य कमेटियों का गठन
- सामाजिक चिकित्सकों का प्रावधान

- स्वास्थ्य सेवा विभाग में अंतर क्षेत्रीय दृष्टिकोण
- सामाजिक चिकित्सक तैयार करने के लिये संरक्षात्मक एवं सामाजिक उपचार का प्रशिक्षण

भारत में अलग-अलग समय पर विभिन्न स्वास्थ्य कमेटियों का गठन किया गया, जिनका लक्ष्य विभिन्न पहलुओं का मूल्यांकन करना था। उदाहरण के लिये वर्ष 1962 में मुदालियर कमेटी का गठन स्वास्थ्य व्यवस्था के विकास के मूल्यांकन, जिला अस्पतालों को मजबूत करने और भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के भावी विकास तथा विस्तार के लिये सुझाव देने के मकसद से किया गया। इस कमेटी ने मौजूदा प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने और उप प्रभागीय एवं जिला अस्पतालों को रेफरल सेंटर के तौर पर विकसित करने पर जोर दिया। इसी तरह वर्ष 1965 में मुखर्जी कमेटी के गठन का मकसद योजनागत कार्यक्रमों के लिये अलग से स्टाफ की व्यवस्था और भारत में बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं को उच्च प्रशासनिक स्तर तक मजबूत करने के लिये सुझाव देना था। जंगलवाला कमेटी, 1967 ने स्वास्थ्य सेवाओं के एकीकरण पर जोर दिया तो 1973 में गठित करतार सिंह कमेटी ने स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन के तहत बहुउद्देश्यीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण का सुझाव दिया। 1975 में श्रीवास्तव रिपोर्ट में श्रमशक्ति को बढ़ाने के लिये चिकित्सा शिक्षा के बढ़ावे के लिये समूहों के गठन की बात कही गयी। पंचवर्षीय योजनाओं के गठन के साथ ही 1952 में समाज के विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के लिये सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी प्रारंभ किये गये। पंचवर्षीय योजनाओं के साथ विभिन्न स्वास्थ्य कार्यक्रमों के संचालन से देश में स्वास्थ्य परिस्थितियों में खासे बदलाव दर्ज किये गये।

15.4 राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति (National Health Policy)

1978 में भारत ने अल्मा अत्ता घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये और वर्ष 2000 तक सबके लिये स्वास्थ्य के लक्ष्य को अंगीकार किया। घोषणा के अनुरूप लक्ष्यों को हासिल करने के लिये छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान वर्ष 1983 में भारत में पहली राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति लागू की गयी। इस नीति में सार्वभौमिक, समग्र और समुदाय की वास्तविक आवश्यकताओं के अनुरूप ऐसी स्वास्थ्य सुविधाएं-सेवाएं मुहैया कराने का लक्ष्य तय किया गया, जो लोगों के लिये कम से कम लागत में हासिल हों (MoHFW, 1983, 3-4). इस नीति की विशेषता यह थी कि इसमें उपचार आधारित पश्चिमी स्वास्थ्य मॉडल के बजाय संरक्षा, पुनर्वास, प्रोत्साहन के दृष्टिकोण के साथ विकेन्द्रीकृत स्वास्थ्य व्यवस्था के विकास पर जोर दिया गया, जिसमें सामुदायिक सहभागिता, महामारी प्रभावित क्षेत्रों की पहचान, विभिन्न स्वास्थ्य कार्यक्रमों के एकीकरण शामिल थे। हालांकि, समग्र स्वास्थ्य सेवाओं की दिशा में प्रयास करने के बावजूद यह नीति स्वास्थ्य को मूलभूत अधिकार के तौर पर स्थापित नहीं कर सकी। इस नीति की आलोचना इसलिये हुयी कि कागजों पर तो बड़े दावे किये गये, लेकिन जमीन पर उसके मुकाबले काम नहीं हो सका।

वर्ष 2000 में राष्ट्रीय जनसंख्या नीति लागू की गयी। इसने प्रजनन, मात-शिशु स्वास्थ्य की आवश्यकताओं को स्पष्ट करते हुये संबंधित लक्ष्यों को हासिल करने के लिये जरूरी कार्यवाही और रणनीति तय की। गर्भनिरोध, व्यक्तिगत स्वास्थ्य, वित्तीय मदद, प्रोत्साहन-पुरस्कार आदि के मसलों को इस नीति में शामिल किया गया। इस नीति का लक्ष्य वर्ष 2045 तक जनसंख्या को स्थिर बनाये रखना है।

वर्ष 2002 में दूसरी राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति लागू हुयी। इसके तहत चिकित्सकीय संस्थानों में न्यूनतम मानको को लागू करने, सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थानों के विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वयं सहायता समूहों को मजबूत करने का लक्ष्य तय किया गया। नीति में भारतीय पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं

से जुड़े चिकित्सकों को भी स्वास्थ्य सेवाओं में शामिल किया गया। नीति में स्वास्थ्य से जुड़े समानता, वित्त, वास्तविक स्वास्थ्य कार्यक्रमों, सार्वजनिक स्वास्थ्य अवस्थापना, स्वास्थ्य शोधकार्य, शिक्षा, गैरसरकारी संस्थाओं की भूमिका, सिविल सोसायटी, खाद्य सुरक्षा मानक जैसे पहलुओं को भी समन्वित किया गया।

वर्ष 2005 में राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन यानी एनआरएचएम प्रारंभ हुआ। इसका लक्ष्य ग्रामीण आबादी को सस्ती, सुलभ एवं गुणवत्तापरक स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराना था, जिसमें उपेक्षित समुदायों और समूहों पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया। स्वास्थ्य सुविधाओं के साथ पेयजल, स्वच्छता, शिक्षा, लैंगिक समानता जैसे पहलुओं को भी इसमें शामिल किया गया। वर्ष 2013 में राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन यानी एनयूआरएम को भी इसके उपभाग के तौर पर मिशन से जोड़ा गया। इस मिशन ने ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की स्वास्थ्य व्यवस्था एवं स्थिति में बेहद अपेक्षित सुधार किया है। मिशन के लक्ष्यों में सुधारीकृत स्वास्थ्य सेवाओं की सुलभता, सबके लिये गुणवत्तापरक चिकित्सा, केन्द्र-राज्य और स्थानीय शासन के मध्य बेहतर साझेदारी और समन्वय, पंचायतीराज संस्थाओं तथा समुदायों की प्रबंधन में सहभागिता की सुनिश्चितता और अवस्थापना ढांचा, सामाजिक न्याय और समानता को प्रोत्साहन, राज्यों के लिये लचीले तंत्र की स्थापना, स्थानीय स्तर पर समुदाय आधारित पहलों को बढ़ावा देना शामिल हैं। संरक्षात्मक और उपचारात्मक स्वास्थ्य के लिहाज से इसके कुछ उद्देश्य निम्नवत हैं:

- शिशु एवं मातृ मृत्युदर में गिरावट लाना
- खाद्य एवं पोषण की सार्वजनिक सेवाओं तक सार्वभौमिक पहुंच
- स्वच्छता एवं हाईजीन
- महिलाओं एवं शिशुओं के लिये बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं और टीकाकरण
- संक्रामक और गैरसंक्रामक रोगों से संरक्षण
- एकीकृत समग्र प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं की सुलभता
- जनसंख्या नियंत्रण, लैंगिक एवं जनसांख्यिकीय संतुलन
- स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं को पुनर्जीवित करना और आयुष को मुख्यधारा में लाना
- स्वस्थ जीवनशैली को प्रोत्साहन देना

15.5 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का ढांचा और कार्य (Structure and Functions of PHCs)

भारत समेत किसी भी देश में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को ही स्वास्थ्य सेवाओं का मूल आधार माना जाता है। यह समाज के सभी स्तरों-वर्गों के लोगों के संरक्षण एवं स्वास्थ्य प्रोत्साहन का काम करता है। प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के माध्यम से प्रदान की जाती है। हमारी स्वास्थ्य नीति में तीन स्तरीय स्वास्थ्य ढांचे की परिकल्पना की गयी है, जिनमें प्राथमिक, द्वितीयक और क्षेत्रीय स्वास्थ्य सेवाएं शामिल हैं। प्राथमिक स्तर की रूपरेखा तीन प्रकार के स्वास्थ्य संस्थानों से बनती है, इनमें तीन से पांच हजार आबादी के लिये उपकेन्द्र, 20 हजार से 30 हजार आबादी के लिये प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और हर चार प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के लिये परामर्श केन्द्र यानी रेफरल सेंटर के तौर पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र जिसका दायरा 80 हजार से एक लाख 20 हजार आबादी तक हो। इस व्यवस्था में जिला अस्पतालों को ग्रामीण आबादी के लिये द्वितीयक केन्द्र और शहरी आबादी के लिये प्राथमिक केन्द्र के तौर पर रखा गया है। क्षेत्रीय स्वास्थ्य सुविधाएं शहरी क्षेत्रों में मौजूद स्वास्थ्य सेवा संस्थानों की ओर से उपलब्ध कराने की व्यवस्था रखी गयी है, जहां पर्याप्त

उपकरण, जांच और परीक्षण की बेहतर सुविधाएं उपलब्ध हों। योजना आयोग ने प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के मूल्यांकन के दौरान पाया कि इस नीति को लागू करने के दौरान ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में स्वास्थ्य संस्थानों का एक विस्तृत नेटवर्क तैयार हो गया है और स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण कार्यक्रमों के तहत नियोजन में आधारभूत संसाधन भी उपलब्ध कराये गये हैं। स्वास्थ्य सेवा सुविधाओं की उपयोगिता और उपलब्धता में बढ़ोतरी से देश की आबादी के स्वास्थ्य में भी सुधार दर्ज किया गया है, जो बीते 50 वर्षों में औसत आयु में वृद्धि, जन्मदर में कमी और मृत्युदर में गिरावट से परिलक्षित होता है। इसके बावजूद लक्ष्य अब भी असमान है, विभिन्न राज्यों और जिलों तथा शहरी और ग्रामीण लोगों के बीच अब भी असमानता चिह्नित की जा सकती है। प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा के लक्ष्य मुख्यतः स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में सामाजिक असमानता और उपेक्षा को कम करना, लोगों की आवश्यकताओं के अनुरूप और उनके आसपास ही स्वास्थ्य सेवा संगठनों की उपलब्धता, सभी सेक्टरों में एकीकरण, सार्वजनिक नीतियों में सुधार, नीतियों के मॉडलों में समन्वय और हितधारकों की सहभागिता बढ़ाना है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का मकसद सामुदायिक सहभागिता को प्रोत्साहन देने के साथ बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं को उपलब्ध कराना है। इसके कुछ लक्ष्य निम्न हैं:

- चिकित्सा शिक्षा
- मातृ-शिशु स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन
- स्वच्छ पेयजल वितरण और बुनियादी स्वच्छता
- स्थानिक बीमारियों से संरक्षा और नियंत्रण
- गतिशील सांख्यिकीय आंकड़ों का संग्रहीकरण और रिपोर्ट तैयार करना
- स्वास्थ्य के बारे में शिक्षा
- राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रमों का संचालन
- परामर्श सेवाएं
- स्वास्थ्य कर्मियों, स्थानीय दाइयों और स्वास्थ्य सहायकों को प्रशिक्षण की सुविधा
- बुनियादी प्रयोगशाला सेवाएं

इन सभी सेवाओं के संचालन के लिये स्वास्थ्य विशेषज्ञों की पूरी व्यवस्था की आवश्यकता होती है, जिनमें चिकित्सा अधिकारी, पुरुष और महिला स्वास्थ्य सहायक, महिला स्वास्थ्य कार्यकर्ता, सहायक नर्स, दाई, फार्मसिस्ट, ब्लॉक प्रसार शिक्षक, लैब टेक्नीशियन, ड्राइवर, लिपिकीय कर्मी और सहायक चतुर्थश्रेणी कर्मचारी। चिकित्सा अधिकारी इस समूह का मुखिया होता है और वह प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र पर बाकी सभी कर्मियों की निगरानी का काम करता है। चिकित्सा अधिकारी की प्राथमिक जिम्मेदारी यह है कि वह केन्द्र पर चिकित्सा सुविधाएं प्रदान करें और राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक लागू करें। ग्रामीण स्तर पर समुदाय और स्वास्थ्य सेवाओं के समन्वय में आशा और आंगनबाड़ी कार्यकर्ताओं की अहम भूमिका रहती है। आशा (Accredited Social Health Activists) कार्यकर्ता राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत द्वारा नियुक्त होती हैं। आशा का उसी गांव का निवासी होना आवश्यक है, जहां वह काम करने वाली है। 25 से 45 वर्ष तक की विवाहित, तलाकशुदा या विधवा महिला का चयन आशा बनने के लिये किया जाता है। आशा का साक्षर होना आवश्यक है और इसमें उन महिलाओं को प्राथमिकता दी जाती है तो दसवीं तक पढ़ी हुयी हों। इस नियम से सिर्फ तभी छूट दी जाती है, जब इस मानक के अनुरूप कोई महिला न हो। आंगनबाड़ी कार्यकर्ता गांवों में माताओं और शिशुओं के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी संभालती हैं। यह एकीकृत बाल विकास योजना (ICDS) के अंतर्गत प्रारंभ हुयी थी, जिसका लक्ष्य शिशुओं को

कुपोषणमुक्त करना था। भोरे कमेटी ने 1946 की अपनी रिपोर्ट में देश में समग्र स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता की जरूरत जतायी थी, जो निम्न हैं:

- **संरक्षात्मक सेवाएं:** सुरक्षा ही उपचार से बेहतर है, इस पुरानी कहावत से संरक्षण की अहमियत स्पष्ट होती है। ऐसे में रोग को टीकाकरण, स्वच्छता और साफ पर्यावरण आदि से रोका जा सकता है। रोग के बढ़ने से पहले ही उसे नियंत्रित करना आवश्यक है।
- **उपचारात्मक सेवाएं:** अस्पतालों में मुख्यतः उपचारात्मक सेवाएं दी जाती हैं। वहां रोगों की देखभाल के लिये दवाओं और थेरेपी का इस्तेमाल किया जाता है। अस्पतालों में उपचारात्मक सेवाएं ही प्रधान होती हैं।
- **पुनर्वास सेवाएं:** उपचारात्मक सेवाओं के बाद भी कई बार कुछ परिस्थितियां ऐसी होती हैं, जिनमें रोग पूरी तरह मिटता नहीं है। उदहरण के लिये कुष्ठ, शारीरिक अक्षमताएं या दिव्यांगता। ऐसे मामलों में रोगी को जीवनभर विशेष देखभाल की आवश्यकता होती है। ऐसे में पुनर्वास सेवाओं की मदद से उन्हें सामान्य जीवन जीने का अवसर दिया जा सकता है। इन सेवाओं में चिकित्सकीय से अधिक सामाजिक, शैक्षिक, काउंसिलिंग और व्यावसायिक सेवाओं को शामिल किया जाता है।
- **प्रोत्साहन सेवाएं:** उपरोक्त तीन के अलावा प्रोत्साहन सेवाएं भी स्वस्थ नागरिकों और स्वस्थ देश को सुनिश्चित करने के लिये आवश्यक हैं। स्वास्थ्य शिक्षा, पर्यावरणीय सुधार, पोषण, जीवनशैली और व्यवहार में परिवर्तन भी स्वस्थ समुदाय का लक्ष्य हासिल करने के लिये आवश्यक हैं।

15.6 आयुष (AYUSH)

भारत आयुर्वेद, सिद्ध जैसी पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं का घर है, जिनका काल पांच हजार साल से भी पुराना रहा है। इन स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व्यवस्थाओं से जुड़े विशेषज्ञों को प्रारंभ में औपचारिक स्वरूप नहीं दिया गया था। उन्हें निजी चिकित्सकों की तरह देखा जाता था। 1995 में Indian System of Medicine and Homeopathy विभाग का गठन किया गया था, जिसे बाद में Ministry for Ayurveda, Yoga, Unani, Siddha and Homeopathy (AYUSH) नाम देकर वर्ष 2014 में स्थापित किया गया। इस मंत्रालय का मुख्य लक्ष्य स्वास्थ्य सेवाओं की आयुष व्यवस्थाओं के श्रेष्ठ विकास के साथ स्वास्थ्य सेवाओं में इनका प्रचार करना और शोधकार्यों तथा इन व्यवस्थाओं में चिकित्सा शिक्षा का विकास भी है। भारत में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में अब भी कई कमियां हैं, जिन्हें आयुष के माध्यम से दूर किया जा सकता है।

15.7 भारत में निजी स्वास्थ्य सेवाएं (Private Healthcare in India)

भारत में स्वास्थ्य सेवा सबसे बड़ा सेवाक्षेत्र बन गया है और इसके चलते इसमें प्रतिस्पर्धा में भी लगातार बढ़ोतरी हुयी है। इस क्षेत्र में कई हितधारक हैं, लेकिन निजी हितधारकों की सबसे बड़ी हिस्सेदारी है। वर्ष 1982 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में स्वास्थ्य क्षेत्र में संसाधनों की खामियों की पहचान की गयी और स्पष्ट किया गया कि ये खामियां ही बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं की राह में बाधा बनी हुयी हैं। नीति में बेहतर और प्रभावी स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार के लिये राज्यों को स्वास्थ्य क्षेत्र में निजी सेक्टर को बढ़ावा देने का सुझाव दिया। हम पाते हैं कि भारत में स्वास्थ्य सेवाओं में निजी क्षेत्र का विकास कई चरणों और स्तरों में हुआ है। वर्ष 1998 तक निजी सेक्टर 80 फीसदी चल स्वास्थ्य सेवाएं और 60 फीसदी आपात चिकित्सा सेवा मुहैया कराने लगा था। भारत में स्वास्थ्य क्षेत्र

पर किया जाने वाला खर्चा बेहद कम है, जो सकल घरेलू उत्पाद का महज एक फीसदी है, जबकि वैश्विक औसत 5.99 प्रतिशत है। वर्ष 2017 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में स्वास्थ्य क्षेत्र पर होने वाले खर्च को ढाई प्रतिशत तक करने का लक्ष्य रखा गया है। सार्वजनिक स्वास्थ्य पर किया जाने वाला यह कम खर्चा ही यहां निजी सेक्टर को आगे बढ़ाने का जरिया बनता है। 71वें नेशनल सैंपल सर्वे (जनवरी से जून 2014) ने स्पष्ट किया कि ग्रामीण क्षेत्रों में अस्पतालों में भर्ती होने के 43 प्रतिशत ही मामले सार्वजनिक अस्पतालों के रहे, जबकि 58 फीसदी निजी अस्पतालों की ओर गये। इसी तरह शहरी क्षेत्रों में सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्रों और निजी अस्पतालों की यह प्रतिशतता क्रमशः 32 और 80 प्रतिशत रही। सर्वे रिपोर्ट साफ करती है कि बीते दो दशकों में सार्वजनिक अस्पतालों में रोगियों के उपचार में निरंतर गिरावट आयी है। इससे भारत में स्वास्थ्य सेवाओं का ऐसा सेक्टर विकसित हो गया है, जो सार्वजनिक और निजी सेक्टर के बीच असमानतापूर्वक बिखरा हुआ है। देश में लोगों द्वारा स्वास्थ्य पर किये जाने वाले खर्च का महज 30 प्रतिशत ही सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में जाता है, जबकि बाकी 70 फीसदी निजी क्षेत्र में खर्च किया जा रहा है।

15.8 निजी सेक्टर का विकास (Growth of Private Sector)

90 के दशक में भारतीय बाजार अर्थव्यवस्था में उदारीकरण को बढ़ावा दिये जाने के बाद स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में भी निजी सेक्टर के निवेश में खासी वृद्धि आयी है। निजी सेक्टर सिर्फ चिकित्सकीय सेवाओं तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अन्य अनुषंगी सेवाओं, जैसे चिकित्सा शिक्षा और प्रशिक्षण, तकनीक एवं परीक्षण, फार्मस्यूटिकल उत्पादन और विपणन में भी निजी सेक्टर शामिल हुआ है। निजी सेक्टर बड़े अस्पतालों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि छोटे क्लीनिक, डिस्पेंसरियां, नर्सिंग होम, पॉलीक्लीनिक और निजी चिकित्सकों तक इसका विस्तार है। आयुर्वेद, सिद्ध और होम्योपैथ व अन्य पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाएं भी इसी सेक्टर में शामिल हैं। नेशनल कमीशन ऑन मैक्रोइकोनॉमिक्स एंड हेल्थ की रिपोर्ट स्पष्ट करती है कि ये निजी स्वास्थ्य केन्द्र सभी तरह की चिकित्सा-स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराते हैं और आवासीय कॉलोनियों के आसपास के बाजारों में इन्हें देखा जा सकता है। लेकिन, स्थान, मानक, लागत आदि बिन्दुओं पर नियंत्रण और नियमन के अभाव ने इन निजी केन्द्रों को कमजोर इलाकों में स्वतंत्र रूप से काम करने और लोगों को संदेहात्मक चिकित्सा प्रदान करने की छूट सी दे दी है। सरकारी अस्पतालों या उनमें उपकरणों और सुविधाओं के अभाव में निर्धन वर्गों के पास इन निजी केन्द्रों पर जाने के अलावा और कोई विकल्प नहीं बचता है।

परिवहन भी स्वास्थ्य सेवाओं का एकीकृत भाग है। शहरी क्षेत्रों में आपात या आवश्यक स्थितियों से निपटने में ये निजी केन्द्र ही मददगार बनकर सामने आते हैं। हालांकि, शहरी क्षेत्रों के मुकाबले ग्रामीण क्षेत्रों में ये अलग नहीं नजर आते हैं। निजी सेक्टर ने देश के ग्रामीण क्षेत्रों तक सेवाओं का विस्तार किया है। वर्तमान दौर में निजी स्वास्थ्य सेक्टर ने प्राथमिक सुविधा के लिहाज से सार्वजनिक स्वास्थ्य सेक्टर को कहीं पीछे छोड़ दिया है और आज निजी सेक्टर ही भारत में स्वास्थ्य सेवाओं का अगुवा बना नजर आता है। स्थिति यह है कि देश में 75 प्रतिशत से अधिक विशेषज्ञ डॉक्टर और 85 फीसदी से अधिक तकनीकी व्यवस्था निजी सेक्टर में ही उपलब्ध हैं। टोस नीतियों और स्वास्थ्य बीमा योजनाओं के अभाव में भी निर्धन वर्गों के लोगों को निजी सेक्टर में ही जाना पड़ता है। इसमें परिवहन और दिहाड़ी छूटने की लागत भी अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ जाती है, क्योंकि अधिकतर निजी स्वास्थ्य केन्द्र शहरी क्षेत्रों में ही हैं। हाल के वर्षों में मलेरिया, श्वसन रोगों के उपचार, प्रसव, नेत्र चिकित्सा, मोतियाबिंद, दौरों आदि के इलाज और ऑपरेशन की सुविधा पर निजी सेक्टर का एकाधिकार बढ़ता गया है, ऐसे में निजी अस्पतालों पर निर्भरता अपरिहार्य है। 'निजी सेक्टर में मिलने वाली सुविधाओं की लागत पूंजी, ब्याजदर, श्रममूल्य, किराया, तकनीक आदि कारकों से प्रभावित होती

है। जबकि प्रतिस्पर्धात्मक पहलू तीन बिंदुओं पर निर्भर करता है, 1. उपचार करने वाले चिकित्सक का अनुभव, 2. तकनीक और 3. अवस्थिति यानी लोकेशन, जो कई बार बाधा का कारण भी बनती है।' (RNCMH, 2006) निजी अस्पतालों के अलावा कई स्वयंसेवी संगठनों, गैरसरकारी संस्थाओं, ट्रस्टों द्वारा संचालित कल्याणकारी अस्पतालों के स्तर पर भी पुनर्वास सेवा संबंधी कार्य किये जाते हैं, जैसे कुष्ठ आश्रम, अंधता निवारण शिविरों का संचालन, कैंसर जागरूकता अभियान आदि। भले ही इनका लक्षित समूह बेहद छोटी आबादी रहती हो, लेकिन इन स्वयंसेवी संगठनों ने यह साबित किया है कि वे बेहद कम लागत पर निर्धन वर्गों तक अच्छी और गुणवत्तापरक स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करा पाने में सक्षम हैं।

15.9 निजी अस्पतालों के प्रकार (Types of Private Hospitals)

हम पाते हैं कि भारत में निजी सेवाप्रदाताओं की विभिन्न विशेषताएं हैं। इसे बेहतर समझने के लिये हम उन्हें प्राथमिक, द्वितीयक और क्षेत्रीय या प्रांतीय सेवाप्रदाता के तौर पर देख सकते हैं।

- **प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा:** भारत में प्राथमिक स्वास्थ्य के लिहाज से ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्र में व्यक्तिगत निजी चिकित्सक बहुतायत में दिखते हैं। वे पंजीकृत या गैरपंजीकृत दोनों ही तरह के हो सकते हैं। वे मुख्यतः लोगों को उपचारात्मक सेवाएं प्रदान करते हैं। किसी क्षेत्र में उन तक त्वरित पहुंच उन्हें व्यवहार्य बनाती है। आयुर्वेद, सिद्ध और अन्य पारंपरिक चिकित्सक भी इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।
- **द्वितीयक स्वास्थ्य सेवा:** इस श्रेणी में छोटे क्लिनिक और नर्सिंग होम को रखा जा सकता है, जिनका संचालन व्यक्तिगत अथवा छोटे समूह के तौर पर किया जा रहा हो। इनकी क्षमता 10 से 50 मरीजों को भर्ती करने की हो सकती है। शहरी क्षेत्रों में ऐसे केन्द्रों में अधिक क्षमता हो सकती है और वहां बेहतर सुविधाएं, तकनीक भी उपलब्ध होती है। इस तरह के केन्द्र ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में हो सकते हैं। भारत की बड़ी आबादी इलाज के लिये इन केन्द्रों पर निर्भर है।
- **क्षेत्रीय सेक्टर:** इसमें मल्टीस्पेशलिटी या सुपरस्पेशलिटी अस्पताल आते हैं, जिनका संचालन व्यावसायिक समूहों, कॉर्पोरेट, प्राइवेट या पब्लिक लिमिटेड द्वारा किया जाता है। इस तरह के केन्द्रों की स्थापना में भारी निवेश किया जाता है और ऐसे अस्पताल महानगरों या बड़े नगरों में ही स्थापित होते हैं।

नेशनल सैंपल सर्वे की रिपोर्ट बताती है कि भारत में 50 प्रतिशत से अधिक मरीज निजी डॉक्टरों के यहां भर्ती हो रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में सिर्फ 18 प्रतिशत मरीज ही सार्वजनिक अस्पतालों में आते हैं। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर यह प्रतिशतता महज पांच प्रतिशत है, जबकि सार्वजनिक औषधालयों में तीन फीसदी ही मरीज पहुंच रहे हैं। हालांकि, ग्रामीण क्षेत्रों के मुकाबले शहरी क्षेत्रों में सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर जाने वाले मरीजों की प्रतिशतता अधिक है। सर्वे से स्पष्ट हुआ है कि ग्रामीण क्षेत्रों में 54.7 प्रतिशत आबादी, जबकि शहरी क्षेत्रों में 56.9 प्रतिशत आबादी स्वास्थ्य सेवाओं के लिये निजी अस्पतालों पर ही निर्भर हैं। बीते दशकों में यह प्रतिशतता बढ़ती गयी है।

15.10 निजी स्वास्थ्य सेवा के अवसर एवं लाभ (Scope and Advantages of Private Healthcare)

लोगों के निजी स्वास्थ्य सेक्टर की ओर बढ़ने के कई कारण हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की सीमाएं प्रत्यक्ष तौर पर प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में निजी सेक्टर के बढ़ावे की वजह बनती हैं। स्वास्थ्य सेवाओं में अच्छी गुणवत्ता और सेवाओं के चयन की स्वतंत्रता भी इसका एक कारण है। तुलनात्मक रूप से देखें तो निजी सेक्टर में सार्वजनिक सेक्टर के मुकाबले बेहतर चिकित्सकीय सुविधाएं और सेवाओं की विस्तृत शृंखला उपलब्ध है। स्वच्छता, बेहतर ग्राहक सेवाएं भी निजी

अस्पतालों की मांग में बढ़ोतरी की वजह है। जबकि सरकारी अस्पतालों में लचर रखरखाव और लोगों से संवाद में नौकरशाही साफ नजर आती है। निजी अस्पतालों में सेवाएं प्रदान करने में मरीज का लंबे समय तक प्रतीक्षारत नहीं रहना सबसे बड़ी विशेषता है।

दूसरी ओर, उच्च शिक्षण एवं प्रशिक्षण प्राप्त डॉक्टर इसलिये निजी अस्पतालों से जुड़ते हैं कि वहां उन्हें सरकारी अस्पतालों के मुकाबले अधिक लाभ मिलता है। ऐसे उच्च प्रशिक्षित डॉक्टरों की मौजूदगी अपने आप रोगियों को निजी अस्पतालों की ओर खींच ले जाती है। निजी अस्पतालों में विशेषज्ञता, तकनीकी दक्षता भी उपलब्ध होती है। सुपरस्पेशलिटी अस्पतालों में मरीजों की मांग के अनुरूप सुविधाओं की विस्तृत शृंखला उपलब्ध रहती है। निजी सेक्टर में रोजगार के नये अवसर भी सृजित होते हैं। इसके अलावा निजी बीमा कंपनियां भी मरीजों की सुविधा के लिहाज से सेवा प्रदानकरती हैं। निजी स्वास्थ्य सेक्टर मांग और उपलब्धता के सिद्धांत पर काम करते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य लाभ कमाना है। कॉरपोरेटों का स्वास्थ्य सेवाओं की ओर बढ़ता रुझान सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में निवेश को कम करने के साथ खर्च को बढ़ाने की वजह बन रहा है जो भविष्य में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को ध्वस्त करने का कारण बन सकता है। ऐसे में इसके नियमन की आवश्यकता है।

अन्य प्रमुख निजी हितधारक फार्मास्यूटिकल उद्योग और चिकित्सकीय उपकरण निर्माण कंपनियों में जुड़े हैं। भारत को दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा फार्मसी उत्पादों का निर्यातक देश माना जाता है। करीब 80 प्रतिशत दवा बाजार जेनेरिक कम लागत वाली दवाओं का है, जिनकी मांग बेहद अधिक है। सरकार ने इस सेक्टर में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश यानी एफडीआई की भी अनुमति दी है, जिससे भारत में भविष्य में फार्मास्यूटिकल उद्योग में बहुत तेजी से विकास की संभावना है और यह निजी स्वास्थ्य सेवाओं की लागत को भी प्रभावित करने में सक्षम हो सकता है। इसी तरह सरकार ने चिकित्सकीय उपकरणों के आयात और निर्यात पर नियमों, कर में छूट के प्रावधान भी किये हैं। यह सेक्टर भी भविष्य में बढ़ने वाला है। भारत में स्वास्थ्य सेक्टर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने वाला दूसरा सबसे बड़ा सेक्टर है। चिकित्सा पर्यटन भी वह पहलू है, जहां निजी हितधारकों की बड़ी भूमिका है। चिकित्सा पर्यटन को सकल घरेलू उत्पाद का अहम बिन्दु माना जाता है। भारत में दुनियाभर के विकसित देशों, अफ्रीकी, दक्षिणी और पश्चिमी एशियाई देशों के मरीजों के इलाज के लिये आने में भी लगातार वृद्धि हो रही है।

15.11 सार्वजनिक निजी साझेदारी (Public Private Partnership)

सार्वजनिक नीति निर्माताओं की ओर से स्वास्थ्य क्षेत्र में एक अन्य मॉडल को प्रोत्साहित किया गया है, जिसका नाम है सार्वजनिक निजी साझेदारी यानी पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप या पीपीपी। भारत में नागरिकों की स्वास्थ्य जरूरतों की मांग में निरंतर वृद्धि के चलते किसी एक सेक्टर के लिये सभी तक पहुंच बनाये रखना असंभव हो गया है। निजी सेक्टर के स्वास्थ्य सेवा में बढ़ने से सरकार के लिये ऐसे रास्ते तलाशना आवश्यक हो गया, ताकि निजी सेक्टर को सबके लिये स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने का जरिया बनाया जा सके। पीपीपी मोड इसमें सहायक साबित हुआ है। यह सीमित संसाधनों के बावजूद बढ़ती मांग को पूरा करने में मददगार बना है। गैरसरकारी संस्थाओं के साथ सहयोग—समन्वय से स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाने और सबकी पहुंच के दायरे में लाने में खासी मदद मिली है। लेकिन यहां यह आवश्यक है कि सरकार स्वयं भी सक्रिय सहभागिता बनाये रखे और योजनाओं का सफल संचालन करे। पीपीपी मोड के संचालन के मूल्यांकन के लिये इकाई की व्यवस्था की जाये जो मानकों को पूरा किये जाने, सब तक स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच सुनिश्चित करने का भी काम करे।

15.12 निष्कर्ष (Conclusion)

इस इकाई में हमने विस्तार से जाना है कि स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं का फोकस किस तरह बदला है। अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संस्थानों ने मौजूदा स्वास्थ्य सेवाओं को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। प्राथमिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का विकास और विभिन्न कमेटियों का गठन भी इसकी ही देन है। इकाई में हमने पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों आयुष के बारे में जाना है। इसके अलावा निजी सेक्टर के बढ़ावे, इसके महत्व और पीपीपी मोड के बारे में भी हम जान चुके हैं। निजी सेक्टर के विकास, अवसर एवं लाभ, निजी सेवाप्रदाताओं की कार्यशैली में राज्य के नियंत्रण, चुनौतियों के बारे में भी हमें विस्तार से जानकारी प्राप्त हो सकी है।

15.13 भावी अध्ययन (Further Readings)

- Baru, V Rama (1998) Private Health care in India, Social Characteristics and Trends, Sage Publications, New Delhi
- Sachdeva, D. R (2007), Social Welfare Administration in India, Kitab Mahal, Allahabad
- Indian Health Landscapes under Globalization (2009) Ed Alain Vaguette, Manohar Publishing, New Delhi

इकाई -16

स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं की समस्याएं
Problems of Health & Medical Facilities

16.1 उद्देश्य

- 16.2 परिचय
- 16.3 भारत में स्वास्थ्य क्षेत्र की समस्याएं और चिंताएं
- 16.4 जनसंख्या वृद्धि
- 16.5 ग्रामीण-शहरी असमानता
- 16.6 स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच- सामाजिक असमानता और भेदभाव
- 16.7 अवस्थापना और प्रशिक्षित चिकित्साकर्मियों का अभाव
- 16.8 चिकित्सा शोध की गुणवत्ता
- 16.9 चिकित्सा मूल्य में वृद्धि
- 16.10 चिकित्सा सुरक्षा का अभाव
- 16.11 रोगमुक्ति के दृष्टिकोण पर अत्यधिक जोर
- 16.12 रोगों का दोहरा बोझ
- 16.13 पोषण की कमी
- 16.14 पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं की अनदेखी
- 16.15 निष्कर्ष
- 16.16 भावी अध्ययन

16.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम जान सकेंगे कि-

- स्वास्थ्य देखभाल सेक्टर के महत्वपूर्ण मुद्दे
- स्वास्थ्य सेवाओं का क्षेत्रीय और वर्गीय विभाजन, भारत में कौन से स्थान और कौन से लोग सबसे अधिक प्रभावित हैं
- स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने के सन्दर्भ में बढ़ती जनसंख्या
- बीते वर्षों में स्वास्थ्य सेवाओं को वित्तीय निर्धारण और स्वास्थ्य सेवाओं में हमारी प्राथमिकताएं
- अवस्थापना समस्याएं, कौशलयुक्त और प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव, बढ़ती चिकित्सा लागत, उपचार के दृष्टिकोण, चिकित्सा सुरक्षा, रोगों की प्रकृति और भारत की पारंपरिक चिकित्सा सेवाओं की उपेक्षा

16.2 परिचय (Introduction)

स्वतंत्रता के बाद भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुयी है। स्वतंत्रता के समय 1947 में देश में औसत आयु सिर्फ 32 वर्ष थी, जो वर्ष 2012 तक 65 वर्ष हो गयी थी। चेचक, प्लेग जैसे कई संक्रामक रोगों का या तो उन्मूलन किया जा चुका है, या फिर उनकी स्थिति नियंत्रण में लायी जा चुकी है। क्षयरोग, मलेरिया उन्मूलन के लिये विशेष अभियान चल रहा है, टीकाकरण कार्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है। इस सबके बीच भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में अहम समस्याओं की पहचान और इन पर ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। शिशु मृत्यु दर आज भी अन्य देशों के मुकाबले कहीं अधिक है। प्रति 1000 पर 34 शिशु मृत्यु दर है। वर्ष 2016 की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में वर्ष 2016 में 84 हजार शिशुओं की मौत हुयी, हालांकि यह वर्ष 2015 के मुकाबले कम थी। वर्ष 2015 में 93 हजार शिशुओं की मृत्यु हुयी थी। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य सूचकांक के लिहाज से भारत को 191 देशों की सूची में 112वें स्थान पर रखा है। इस सूची में

बांग्लादेश भी हमसे ऊपर है। LANCET मेडिकल जर्नल द्वारा प्रकाशित **Global Burden of Diseases** अध्ययन के अनुसार भारत का 195 देशों में 154वां स्थान है। इस अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार श्रीलंका, बांग्लादेश, भूटान और नेपाल भारत से आगे हैं और यह रिपोर्ट यह भी बताती है कि क्षयरोग, मधुमेह, गुर्दारोग और हृदयरोग के मामलों में कमी लाने और बेहतर स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने के मामले में भारत काफी पीछे है। यद्यपि स्वतंत्रता के बाद स्वास्थ्य क्षेत्र के कई आयामों में भारत ने बहुत उल्लेखनीय उन्नति की है, लेकिन जब गंभीर रोगों की चिंता की बात आती है तो भारत इस पहलू पर पिछड़ जाता है। इस इकाई में हम स्वास्थ्य सेवा और चिकित्सकीय सुविधाओं से जुड़ी ऐसी ही समस्याओं को समझेंगे।

16.3 भारत में स्वास्थ्य क्षेत्र की समस्याएं और चिंताएं (Problems and Concerns Regarding Health Care sector in India)

गुणवत्तापरक स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने में बढ़ती आबादी बड़ी समस्या है। स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच का अभाव और असमानता इस समस्या को और बढ़ाते हैं। स्वास्थ्य सेवाओं के वितरण की जब बात आती है तो शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में भारी अंतर साफ नजर आता है। भारत बड़े पैमाने पर मातृ-शिशु मृत्युदर की समस्या से भी जूझ रहा है। पोषण का अभाव इस समस्या की बड़ी वजह है। इसके अलावा क्षयरोग, मलेरिया, कुष्ठ जैसे संक्रामक रोगों से तो भारत निपट भी नहीं सका है कि कई गैरसंक्रामक रोग भी लगातार बढ़ रहे हैं। इंडिया इंफ्रास्ट्रक्चर रिपोर्ट 2013-14 के अनुसार बीते कुछ दशकों में गैर संक्रामक रोगों का अध्ययन बताता है कि देश में मृत्यु दर बढ़ी है। भारत की रोग रूपरेखा में बदलाव आ रहा है और गैरसंचारी रोगों की वजह से होने वाली मौतों की प्रतिशतता 53 फीसदी हो चुकी है, जिसके वर्ष 2030 तक 67 प्रतिशत होने का अनुमान है।

16.4 जनसंख्या वृद्धि (Population Growth)

सबके स्वास्थ्य की देखभाल की राह में जनसंख्या वृद्धि की उच्च दर लगातार गंभीर चिंता का विषय बनी हुयी है। वर्ष 1952 में भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रम प्रारंभ हुआ था। प्रारंभ में यह सिर्फ चिकित्सकीय माध्यमों से गर्भनिरोधन मानकों तक सीमित था, लेकिन बाद में इसमें और सुधार करते हुये मातृ स्वास्थ्य देखभाल, परिवार नियोजन में शिक्षा के महत्व, महिलाओं में जागरूकता, सामुदायिक जागरूकता और प्रोत्साहन, विशेष स्वास्थ्य सेवाओं-सुविधाओं, कर्मचारियों के प्रशिक्षण, शोध एवं मूल्यांकन और स्वयंसेवी संस्थाओं के संयोजन तक इसे विस्तार दिया गया। परिवार नियोजन को बुनियादी मानव अधिकार माना गया है और इसे परिवार कल्याण कार्यक्रम से जोड़ने की आवश्यकता है, ताकि इसके बेहतर परिणाम हासिल किये जा सकें। बढ़ती जनसंख्या भारत में सफाई की समस्या के तौर पर भी चुनौती बनी है। स्वस्थ समुदाय की सुनिश्चितता के लिये अच्छी सफाई और हाईजीन आधारभूत आवश्यकता है। स्वच्छ पानी और सफाई का अभाव आज भी भारत के बड़े हिस्से की समस्या है। अनुमान के अनुसार खराब सफाई के चलते भारत को वर्ष 2006 में 54 अरब डॉलर खर्चा करना पड़ा था जो देश की कुल जीडीपी का 6.4 प्रतिशत रहा। इस खर्च का 70 प्रतिशत हिस्सा यानी 38.5 अरब डॉलर स्वास्थ्य से संबंधित था, क्योंकि गंदगी के कारण डायरिया और श्वसन संबंधी संक्रमण कुल स्वास्थ्य समस्याओं का 12 फीसदी हिस्सा रहा।

16.5 ग्रामीण-शहरी असमानता (Rural Urban Disparity)

भारत में 75 प्रतिशत डिस्पेंसरियां, 60 प्रतिशत अस्पताल और 80 फीसदी डॉक्टर शहरी क्षेत्रों में हैं, जबकि इन शहरों में देश की सिर्फ 28 फीसदी आबादी रह रही है। इन आंकड़ों से ही स्पष्ट होता है कि स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में कितनी भारी असमानता है। ग्रामीण आबादी की अस्पतालों तक पहुंचना के बराबर है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में प्रदान की जाने वाली सेवाओं का स्तर और गुणवत्ता भी

निम्न है। चिकित्सक और अन्य चिकित्साकर्मी ग्रामीण क्षेत्रों के बजाय शहरों में ही रहना पसंद करते हैं, क्योंकि यह अधिक फायदेमंद है और उनके लिये शहरों में अधिक बेहतर अवसरों की भी उपलब्धता है। सरकार के स्तर पर भी चिकित्साकर्मियों और चिकित्सकों को ग्रामीण क्षेत्रों में तैनाती के लिये प्रोत्साहित करने के मकसद से कोई विशेष अभियान या कार्यक्रम नहीं चलाया गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में बढ़ती आबादी की स्वास्थ्य आवश्यकताओं और विशेषज्ञ चिकित्सा देने के लिये आवश्यक संसाधन तक नहीं हैं। इसके चलते ग्रामीण आबादी को इलाज और बेहतर चिकित्सकीय सुविधाएं हासिल करने के लिये शहरी क्षेत्रों की ओर जाना पड़ता है। शहरों में भी उन्हें निजी अस्पतालों में जाना पड़ता है, जो बेहतर इलाज के महंगे दामों के चलते उन्हें उधार के जाल में फंसा देता है। आंकड़े बताते हैं कि ग्रामीण भारत में सिर्फ 37 प्रतिशत आबादी ऐसी है, जिनके लिये पांच किलोमीटर के दायरे में अस्पताल में भर्ती होने की सुविधा उपलब्ध है। अस्पताल में ओपीडी की सहूलियत 68 फीसदी ग्रामीण आबादी को उपलब्ध है। ब्रिक देशों में भारत में आबादी के अनुपात में डॉक्टरों की संख्या का आंकड़ा न्यूनतम है। यहां प्रति दस हजार आबादी पर सिर्फ एक चिकित्सक उपलब्ध है। स्वास्थ्य समस्याएं और निर्धनता परस्पर गहराई से जुड़ी हुयी हैं। बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं और शिक्षा के बिना भारत निर्धनता के निरंतर चक्र से बाहर नहीं निकल सकता है।

16.6 स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच— सामाजिक असमानता और भेदभाव (Access to Health Care: Social Inequality and Discrimination)

शहरी-ग्रामीण असमानता के अलावा भारतीय समाज आज भी सामाजिक भेदभाव, जाति आधारित शोषण की समस्याओं से जूझ रहा है और ये पहलू अकसर स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में भी उभरकर आते हैं। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से जुड़े समुदायों को कई बार बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध नहीं हो पातीं। ऐसे भी कई मामले सामने आये हैं, जहां डॉक्टरों ने प्रसव के दौरान गंभीर हालत होने के बावजूद इन समुदायों की महिलाओं को इलाज देने से इनकार कर दिया। एक अध्ययन के अनुसार सर्वेक्षण में शामिल किये गये अनुसूचित जाति के 94 प्रतिशत बच्चों ने माना कि इलाज के दौरान उन्हें अस्पृश्यता का दंश झेलना पड़ा। इसी तरह 93 फीसदी दलित बच्चों को एनएनएम और सामुदायिक कार्यकर्ताओं के स्तर पर इस तरह का शोषण झेलना पड़ा, जबकि 59 प्रतिशत बच्चों ने डॉक्टरों के स्तर पर इस तरह के भेदभाव की जानकारी दी। सात फीसदी अनुसूचित जाति और 16.4 प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोगों की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच ही नहीं है, यह प्रतिशतता अन्य जातियों के मुकाबले कहीं अधिक है। असमानता के अनुपात की बात करें तो यह अनुसूचित जाति के लिये 1.19 और अनुसूचित जनजाति के लिये 1.19 है, इसका अर्थ यह है कि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच क्रमशः 19 प्रतिशत और 44 प्रतिशत कम है। (Thorat, 2007)

16.7 अवस्थापना और प्रशिक्षित चिकित्साकर्मियों का अभाव (Lack of Infrastructure and Trained Medical Professionals)

वर्ष 2017 में केन्द्र सरकार ने संघीय बजट में 2.27 प्रतिशत स्वास्थ्य व्यय निर्धारित किया है। भारत अन्य क्षेत्रों के मुकाबले स्वास्थ्य में बेहद कम खर्चा करता है। यह खर्चा देश के सकल घरेलू उत्पाद का महज 1.3 प्रतिशत है, जो ब्रिक्स और सार्क देशों के मुकाबले काफी कम है। ब्रिक्स देशों की बात करें तो ब्राजील में स्वास्थ्य क्षेत्र पर जीडीपी का 8.3 प्रतिशत, रूस और अफ्रीका में क्रमशः 8.3

प्रतिशत व 7.1 प्रतिशत खर्च किया जा रहा है। इसी तरह सार्क देशों में अफगानिस्तान का स्वास्थ्य सेवाओं पर व्यय जीडीपी का 8.2 प्रतिशत है, नेपाल 5.8 और मालदीव 13.7 फीसदी व्यय स्वास्थ्य पर कर रहा है। स्वास्थ्य सेवाओं पर बेहद कम व्यय भारत में वर्षों से स्वास्थ्य सेवाओं की निम्न गुणवत्ता का कारण रहा है। स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में सामने आने वाली अधिकतर समस्याओं के एक या एक से अधिक समाधान तलाशे जा सकते हैं, यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेक्टर पर खर्चा बढ़ा दिया जाये। लेकिन भारत के बजट में स्वास्थ्य पर होने वाला व्यय स्पष्ट करता है कि सरकार स्वास्थ्य सेवाओं को राज्य की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी नहीं मानती है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेक्टर पर बेहद कम खर्चा स्वतः निजी सेक्टर के स्वास्थ्य सेवा में बढ़ते निवेश की वजह बनता है। सार्वजनिक अस्पतालों में स्वास्थ्य सेवाओं की निम्न गुणवत्ता के चलते लोगों को निजी अस्पतालों में इलाज के लिये मजबूर होना पड़ता है। निजी निवेशक स्वास्थ्य सेवाओं के इस अंतर को समझते हुये बड़े हितधारक के रूप में लगातार बढ़ रहे हैं। जब भी बेहतर और अच्छी स्वास्थ्य सुविधाओं की बात आती है तो लोगों के पास सिवाय निजी स्वास्थ्य सेक्टर में जाने के कोई विकल्प बाकी नहीं रह पाता है। निजी निवेशकों का मूल और मुख्य लक्ष्य लाभ कमाना है, जिसके चलते वे बड़ी आबादी वाले शहरी क्षेत्रों में अस्पताल बना रहे हैं और यह भी ग्रामीण-शहरी विभाजन की वजह बन रहा है। ग्रामीण आबादी को बेहतर इलाज के लिये लंबी दूरी तय करनी पड़ती है और यह भी उन पर आर्थिक बोझ बढ़ने का कारण है। नेशनल सैंपल सर्वे के अनुसार 68 प्रतिशत ग्रामीण आबादी स्वास्थ्य आवश्यकताओं पर होने वाले खर्च की पूर्ति अपनी जमापूंजी से करते हैं, जबकि प्रति चार में से एक व्यक्ति को अस्पतालों में होने वाले खर्च के लिये उधार लेना पड़ता है। सरकार को निजी स्वास्थ्य सेक्टर पर नियंत्रण के लिये सख्त मानक तय करने होंगे, अन्यथा भारतीय आबादी का बड़ा हिस्सा गुणवत्तापरक स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच से उपेक्षित रह जायेगा। ‘An Uncertain Glory: India and its contradictions’ में ड्रेज और सेन (2014) आर्थिक विकास के लिये स्वास्थ्य और शिक्षा के महत्व पर जोर देते हैं। वह बताते हैं कि स्वास्थ्य सेवाओं पर अधिक निवेश भारत के आर्थिक विकास में केन्द्रीय भूमिका का निर्वहन कर सकता है।

अवस्थापना और प्रशिक्षित चिकित्साकर्मियों का अभाव (Lack of Infrastructure and Trained Medical Professionals)

स्वास्थ्य सेवाओं पर अल्प व्यय के साथ भारत में स्वास्थ्य अवस्थापना और तकनीकों के विकास पर भी बेहद कम खर्चा किया जा रहा है। मौजूदा अवस्थापना ढांचा लक्ष्य की पूर्ति कर पाने में अक्षम है। नेशनल हेल्थ प्रोफाइल 2017 के अनुसार भारत में एक अरब 30 करोड़ आबादी के लिये सिर्फ दस लाख डॉक्टर हैं, जिनमें से सिर्फ दस प्रतिशत ही सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में कार्यरत हैं, जबकि इसी सेक्टर पर करीब 90 करोड़ लोगों के स्वास्थ्य उपचार –विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में– का जिम्मा है। वर्ष 2016 में विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट में बताया गया कि ग्रामीण भारत में पांच में से एक ही डॉक्टर चिकित्सकीय कार्य करने के लिये प्रशिक्षण प्राप्त है। खुद को डॉक्टर बताने का दावा करने वाले 31.4 प्रतिशत लोग सिर्फ 12वीं तक पढ़े हुये थे, जबकि 57.3 फीसदी ने कोई चिकित्सकीय प्रशिक्षण नहीं लिया था। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रशिक्षित चिकित्सा विशेषज्ञों और पैरामेडिकल स्टाफ का सर्वथा अभाव है। स्वास्थ्य सेवा में एकीकृत श्रमशक्ति का जब तक अभाव रहेगा, इस सेक्टर को नागरिकों के लिये बेहतर बना पाना संभव नहीं है। दूसरी ओर, प्रशिक्षित चिकित्साकर्मियों में ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने के प्रति अनिच्छा का भाव रहता है, क्योंकि उन्हें शहरी क्षेत्रों में बेहतर अवसर मिलते हैं। ऐसे में ग्रामीण क्षेत्रों में भी अच्छे अवसर और प्रोत्साहन योजनाओं का संचालन किया जाना जरूरी है, ताकि प्रशिक्षित चिकित्साकर्मियों को वहां जाने के लिये प्रेरित किया जा सके।

16.8 चिकित्सा शोध की गुणवत्ता (Quality of Medical Research)

भारत में चिकित्सा सेवाओं के अत्यधिक बाजारीकरण के चलते चिकित्सा शोध को वर्षों तक दायम स्तर पर रखा गया। शोधकार्यों को लेकर किसी तरह का उत्साह भी यहां नहीं रहा। (Bajapi, 2014) दूसरी ओर अधिसंख्य चिकित्सा विशेषज्ञों का भी झुकाव निजी सेक्टर की ओर ही अधिक रहता है। प्रारंभ में शोधकार्य करने की अवधारणा के साथ जिस अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी एम्स की स्थापना की गयी, वह भी मरीजों के भारी दबाव से जूझ रहा है और इस वजह से यहां कार्यरत विशेषज्ञों के लिये शोधकार्यों पर ध्यान दे पाना संभव नहीं। एक अनुमान के अनुसार 25 से 30 लाख लोग हर साल नयी दिल्ली स्थित एम्स में इलाज के लिये आते हैं। अधिकतर मरीज दिल्ली से सटे राज्यों के होते हैं, जो बेहतर इलाज की आस में यहां तक पहुंचते हैं। इस समस्या से निपटने के लिये छह नये एम्स की स्थापना और दिल्ली एम्स के विस्तारीकरण का प्रस्ताव तैयार किया गया। लेकिन, यहां यह तथ्य भी अहम है कि समस्या का समाधान सिर्फ अवस्थापना विकास से ही नहीं होगा, मानव संसाधन में वृद्धि भी आवश्यक है। स्थिति यह है कि दिल्ली जैसे स्थान पर भी डॉक्टरों और अन्य चिकित्साकर्मियों का भारी अभाव है। ऐसे में अवस्थापना के साथ मानव संसाधन विकास पर भी ध्यान देने की जरूरत है। स्वास्थ्य सेवाओं के लिये जारी होने वाला न्यून बजट भी भारत में चिकित्सा शोधों की कमजोरी का कारण है। निवेश के लिहाज से शोधकार्यों के लिये दी जाने वाली रकम को गैरलाभकारी माना जाता है। इसके अलावा ब्यूरोक्रेसी में भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार भी विकास को पीछे कर देता है।

16.9 चिकित्सा मूल्य में वृद्धि (Rises in Medical Cost)

आधुनिक और विशेषज्ञ चिकित्सा के लिये ग्रामीण क्षेत्रों के लोग शहरों की ओर जाते हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों की बड़ी आबादी एम्स जैसे संस्थानों पर निर्भर है, लेकिन वहां मरीजों के भारी दबाव और त्वरित उपचार के अभाव के चलते उन्हें मजबूरन निजी अस्पतालों में जाना पड़ता है। एक अनुमान के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष चार करोड़ के करीब लोग चिकित्सा लागत की वजह से निर्धनता से घिर जाते हैं। वर्तमान में भारत में स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाले खर्च का 80 प्रतिशत हिस्सा निजी सेक्टर को मिलता है, इसी तरह देश के अस्पतालों में भर्ती होने वाले मरीजों में से भी 60 प्रतिशत निजी अस्पतालों में होते हैं। यह आंकड़ा सरकार के असमान वितरण का प्रमाण है कि भारत में इलाज पर होने वाला खर्चा स्वास्थ्य सेवाओं पर किये जाने वाले व्यय के 85 प्रतिशत के बराबर है, यह दुनिया में सर्वाधिक है। 1999-2000 की रिपोर्ट के अनुसार चिकित्सा लागत की वजह से निर्धनता की प्रतिशतता 3.7 से बढ़कर 12 फीसदी हो गयी है (Ghosh, 2010). भारतीय फार्मास्यूटिकल उद्योगों ने बीते कुछ साल में खासी प्रगति की है। पांच साल से यह क्षेत्र प्रतिवर्ष 13 से 14 प्रतिशत की दर से विकसित हो रहा है। गैरसंचारी रोगों में बढ़ोतरी स्वास्थ्य सेवाओं में तेज सुधार की ओर इशारा करती है साथ ही नयी कम लागत की दवाओं के लिये शोध और विकास की भी आवश्यकता है। यानी फार्मास्यूटिकल उद्योगों की प्रगति का लाभ लागत कम करने और दवाओं की उपलब्धता बढ़ाने की दिशा में मिलना चाहिये। इसके लिये भारत सरकार का फार्मास्यूटिकल उद्योगों के विकास के लिये सुविधाएं प्रदान करने के साथ दवाओं के मूल्य और उपलब्धता पर भी ध्यान देना जरूरी है। यहां इस बात पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिये कि सबको गुणवत्तापरक और बेहतर चिकित्सा सेवा उपलब्ध करायी जा सके।

16.10 चिकित्सा सुरक्षा का अभाव (Absence of Medical Insurance)

विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार भारत में सिर्फ पांच प्रतिशत आबादी ही स्वास्थ्य बीमा योजनाओं से जुड़े हुये हैं। ऐसे में चिकित्सा पर होने वाला खर्चा सीधे जेब से जाता है। स्वास्थ्य बीमा का बाजार भी अधिकतर शहरी, मध्य या उच्च आय वर्ग तक सीमित है। वर्ष 2008 में भारत सरकार ने प्रायोगिक तौर पर राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना लागू की, लेकिन मजबूत सार्वजनिक बीमा योजना नहीं दे सकी। इस योजना के तहत सिर्फ गरीबी रेखा से नीचे यानी बीपीएल परिवार ही योग्य थे। लाभार्थियों को पंजीकरण के समय 30 रुपये का भुगतान करना होता था, जबकि बाकी रकम राज्य और केन्द्र सरकार द्वारा दी जाती थी। लेकिन, अधिकतर लाभार्थियों को ही इस कार्यक्रम की जानकारी नहीं है ऐसे में जागरूकता अभियान बेहद जरूरी है, ताकि अधिक से अधिक लोगों को योजना से जोड़ा जा सके। इस योजना की एक सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसके तहत ओपीडी पर होने वाले खर्च का भुगतान नहीं किया जाता, जबकि अधिकतर निर्धन परिवारों के लोग इसलिये भर्ती नहीं होना चाहते कि उनकी दिहाड़ी बंद हो जायेगी। इस तरह की योजनाओं को प्रभावी बनाने के लिये ढांचागत स्तर पर काफी सुधारों की आवश्यकता है, साथ ही ऐसी नयी बीमा योजनाओं का भी संचालन किया जाना जरूरी है।¹⁵

16.11 रोगनिवारण के दृष्टिकोण पर अत्यधिक जोर (Overemphasis on Curative Approach)

रोगनिवारण पर जरूरत से अधिक जोर दिये जाने के कारण भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था को गहरा नुकसान हुआ है। रोगनिवारक दृष्टिकोण सिर्फ रोग से निजात दिलाने पर ध्यान केन्द्रित करता है और संरक्षात्मक या शमनात्मक उपचार पर ध्यान नहीं देता। भारत में प्राथमिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में होने वाले कुल व्यय का 85 प्रतिशत हिस्सा सिर्फ रोगनिवारण पर खर्च होता है, जबकि संरक्षात्मक कार्यक्रमों के लिये मात्र 15 फीसदी ही हिस्सा रखा जाता है। बड़े आधुनिक अस्पताल भी सिर्फ रोगों से मुक्ति दिलाने वाले संस्थान के तौर पर काम करते हैं और लोगों के विस्तृत सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सन्दर्भों से उनका कोई जुड़ाव नहीं होता है, जबकि यही वे तत्व हैं जो बड़े पैमाने पर लोगों के स्वास्थ्य जीवन को प्रभावित करते हैं। दुर्भाग्य से रोगनिवारण की यह व्यवस्था भी अधिकतर आम लोगों की पहुंच से बाहर हो गयी है, जिसकी वजह स्वास्थ्य सेवाओं को संचालित करने वाली नीतियों और कार्यवाहियों का लचर होना है। (Bajpai: 2014) हमारी सार्वजनिक स्वास्थ्य नीतियां भी रोगनिवारण की ओर ही अधिक झुकाव रखती हैं, जिसमें डॉक्टर, पैरामेडिकल कर्मियों, अस्पतालों, फार्मास्यूटिकल कंपनियों की अहम भूमिका रहती है। यह पूरी व्यवस्था जेब से होने वाले खर्च पर निर्भर है और समाज के निर्धन वर्ग को विकल्पहीन छोड़ देती है। इतना ही नहीं, यह नीतियां लोगों को निर्धनता के साथ स्वास्थ्य सेवाओं के अधिकार की सुरक्षा और पहुंच से भी दूर करती हैं। ऐसे में यह जरूरी लगता है कि नीतियों को पुनर्निर्धारित किया जाये और इस तरह तैयार किया जाये कि वे स्वास्थ्य के सभी पहलू— रोगनिवारण, संरक्षा और शमन पर काम करें। यहां संरक्षात्मक पहलू पर और अधिक ध्यान दिये जाने की जरूरत है, जिसके तहत रोगों के प्रति सामुदायिक जागरूकता, साफ-सफाई और शुद्ध पानी को लेकर सजगता, नियमित स्वास्थ्य चेकअप आदि होने चाहिये। इस काम में स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका, सरकारी एजेंसियों के सशक्तीकरण और समुदाय से बेहतर संचार की आवश्यकता होगी। स्वास्थ्य सेवाओं को समग्र बनाने के लिये चिकित्सा और देखभाल से जुड़े सभी दृष्टिकोणों को एकीकृत किया जाना चाहिये।

16.12 रोगों का दोहरा बोझ (Twin Burden of Diseases)

भारत संचारी रोगों और गैरसंचारी रोगों का दोहरा दबाव झेल रहा है। संचारी रोग का अर्थ मुख्यतः संक्रामक रोगों से है, जैसे— क्षयरोग, हैजा आदि और गैरसंचारी रोग तीव्र, अपक्षयी और स्थायी रोग शामिल हैं, जैसे— कार्डियोवस्कुलर, हाइपर टेंशन, कैंसर आदि। संक्रामक रोग अब भी लगातार सामने आते हैं, क्योंकि भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं का स्तर बेहद कमजोर है। गरीबी भी इसका एक कारण है। वहीं, गैर संक्रामक रोगों में बढ़ोतरी की वजह जीवनशैली में बदलाव, जनसांख्यिकीय आंकड़ों में बदलाव और औसत आयु में वृद्धि है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की वर्ष 2012 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में होने वाली कुल मौतों में से 53 फीसदी का कारण गैर संक्रामक रोग हैं। एक अन्य अध्ययन इंडिया इंफ्रास्ट्रक्चर रिपोर्ट 2013-14 के अनुसार बीते कुछ दशकों में भारत में मृत्यु के कारणों में बदलाव आया है और अब कुल मृत्यु का 53 प्रतिशत कारण गैर संक्रामक रोग हैं, जिसके 2037 तक बढ़कर 67 प्रतिशत हो जाने की आशंका है (Mohan, 2013-14). यह आंकड़े इसलिये चौंकाने वाले हैं क्योंकि वैश्विक रोग भार का 21 प्रतिशत हिस्सा भारत का है।

उदाहरण के लिये, विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार वर्ष 2012 में प्रतिवर्ष कैंसररोगियों की संख्या 14 लाख थी जो अगले दो दशकों में बढ़कर 22 लाख होने का अनुमान है। इसी तरह कैंसर पर GLOBCAN की ओर से किये गये अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन के अनुसार भारत में अगले बीस साल में कैंसर के मामलों की संख्या 10 लाख से बढ़कर 2035 तक 17 लाख होने का अनुमान है, यानी कैंसर के कारण भारत में होने वाली मौतों के आंकड़े में भी इसी अनुपात में वृद्धि होगी। हृदयरोग के बाद कैंसर भारत में बीमारियों से होने वाली मौतों का दूसरा सबसे बड़ा कारण है। ‘Cancer mortality in India’ अध्ययन के तहत शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में कैंसर से होने वाली मौतों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया और आश्चर्यजनक रूप से अध्ययन के आंकड़ों ने इस धारणा को ध्वस्त किया कि शहरों में कैंसर के अधिक रोगी होते हैं। रिपोर्ट के अनुसार भारत के शहरों और गांवों में समान रूप से कैंसररोगी पाये गये। ऐसे में यह बड़ी चुनौती है कि भारतीय सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा को इन समस्याओं से निपटने लायक कैसे बनाया जाये। इसके लिये जरूरी है कि मौजूदा स्थिति की व्यवस्थित समीक्षा की जाये और तदनुकूल नीतियों का निर्माण करते हुये ऐसे कानूनी तंत्र को भी विकसित किया जाये जो इन मुद्दों की निगरानी कर सके, अन्यथा हमें संक्रामक और गैर संक्रामक दोनों तरह के रोगों को महामारी की तरह झेलना पड़ सकता है।

16.13 पोषण की कमी (Nutritional Deficiencies)

पोषण की कमी एक ऐसा जटिल मुद्दा है जो न सिर्फ पर्याप्त और संतुलित भोजन के अभाव से जुड़ा है, बल्कि कई अन्य सामाजिक-आर्थिक मसले भी इसमें शामिल हैं। अच्छे स्वास्थ्य के लिये कई बुनियादी पोषण आवश्यक हैं, जिनमें विटामिन, खनिज, कैल्शियम, आयरन, मैग्नीशियम, पोटेशियम, सोडियम आदि शामिल हैं। इनके अलावा जिंक, आयोडीन, फ्लोराइड भी आवश्यक हैं। आवश्यक पोषण के अभाव में शरीर में स्वास्थ्य अपक्षय होने लगता है जो बच्चों और वयस्कों में कई बीमारियों और मौत का कारण बनता है। अधिकतर पोषक तत्व हमें सीधे भोजन से मिल जाते हैं। लेकिन भारत में विशेषतौर पर महिलाओं और बच्चों में कुपोषण की चुनौती बरकरार है। ऐसे में मिड डे मील, किशोरियों, गर्भवतियों और अन्य महिलाओं के लिये पोषण कार्यक्रम की इस चुनौती से निपटने में अहम भूमिका है। केन्द्र सरकार द्वारा संचालित कुछ पोषण योजनाओं में, एकीकृत बाल विकास योजना, मिड डे मील योजना, विशेष पोषण कार्यक्रम, गेहूं आधारित पोषण कार्यक्रम, बालवाड़ी पोषण कार्यक्रम, राष्ट्रीय पोषण एवं एनीमिया रोधी कार्यक्रम, राष्ट्रीय अंधता (विटामिन ए की कमी के कारण) निवारण कार्यक्रम, राष्ट्रीय घेंघा रोग निवारण कार्यक्रम आदि शामिल हैं।

16.14 पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं की अनदेखी (Negligence of Traditional Medical Systems)

भारत में पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाएं स्वास्थ्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही हैं और उनमें भविष्य में भी यह भूमिका निभाने की पूरी क्षमता है। 'चिकित्सा की वे व्यवस्थाएं जिनका जन्म भारत में हुआ अथवा वे व्यवस्थाएं जो बाहरी देशों से भारत में आयीं और फिर भारतीय संस्कृति का ही अभिन्न हिस्सा बन गयीं, भारतीय पारंपरिक चिकित्सा कहलाती हैं। यह भारत की अद्वितीय विशिष्टता है कि यहां इस श्रेणी में छह चिरपरिचित व्यवस्थाएं मौजूद हैं। इनके नाम हैं, आयुर्वेद, योग, सिद्ध, यूनानी, होम्योपैथी और नेचरोपैथी। इनके अलावा लोकसमाज की धारा में भी बड़ी संख्या में उपचारक मौजूद हैं जिन्हें इस श्रेणी में शामिल नहीं किया गया है।' (Prasad, 2002). इन पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों मुख्यधारा में लाने के लिये आयुष (आयुर्वेद, योग, नेचरोपैथी, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी और तिब्बती चिकित्सा परंपरा सोवा-रिग्पा) मंत्रालय का गठन किया गया है। इसका लक्ष्य इन पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों को वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था के तौर पर विकसित करने के साथ इनमें शोधकार्यों को बढ़ावा देना है, ताकि ये व्यवस्थाएं भारत के शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में स्वास्थ्य मांगों की पूर्ति करने में सक्षम हो सकें। स्वास्थ्य नीति को भी एकीकृत किये जाने की जरूरत है।

16.15 निष्कर्ष (Conclusion)

उपरोक्त भारतीय स्वास्थ्य सेवा की बुनियादी समस्याएं हैं, लेकिन इनके अलावा भी विभिन्न स्तरों पर कई चुनौतियां मौजूद हैं। भारत में स्वास्थ्य सेवाओं को मौजूदा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था की कमजोरी से लगातार चुनौती मिलती है, जिसके चलते भविष्य के लिये भी बोझ बढ़ने की आशंका है। ऐसे में स्वास्थ्य नीतियों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है ताकि इन सभी चुनौतियों और समस्याओं को दूर करते हुये बेहतर शुरुआत की जा सके। केन्द्र सरकार को स्वास्थ्य क्षेत्र में बजट बढ़ाने की आवश्यकता है। समग्र राष्ट्रीय विकास के लिये शिक्षा के विकास, लैंगिक समानता की दिशा में प्रयास, आर्थिक विकास के साथ बेहतर स्वास्थ्य स्थिति के विकास के लिये विशेष अभियान चलाये जाने की जरूरत है।

16.16 भावी अध्ययन (Further Readings)

- 1.
2. Acharya, S.S. (2010). Access to Health Care and Patterns of Discrimination: Study of Dalit Children in Selected Villages of Gujarat and Rajasthan. New Delhi: IIDS & UNICEF, p.16.
3. Bajpai, Vikas (2014) The Challenges Confronting Public Hospitals in India, Their Origins, and Possible Solutions, Advances in Public Health, Volume 2014
4. Ghosh, Jayati; *Poverty Reduction in China and India: Policy Implications of Recent Trends*, DESA Working Paper no.92, January 2010.
5. Kumar, G. S., Kar, S. S., & Jain, A. (2011). Health and environmental sanitation in India: Issues for prioritizing control strategies. *Indian Journal of Occupational and Environmental Medicine*

-
6. Sujatha, V & Abraham, Leena (eds). 2012, Medical Pluralism in Contemporary India, Introduction , Orient Black Swan, Hyderabad
 7. Thorat et.al. (2007) Human Poverty and Socially Disadvantaged groups in India, UNDP.

इकाई -17

सार्वजनिक-निजी साझेदारी

PPP (Public-Private Partnership)

- 17.1 उद्देश्य
- 17.2 परिचय
- 17.3 स्वास्थ्य सेवा प्रदाता के तौर पर राज्य की भूमिका
- 17.4 सार्वजनिक-निजी साझेदारी के प्रकार
- 17.5 साझेदारी में हितधारकों की भूमिका

17.6 पीपीपी के लाभ एवं सीमाएं**17.7 विभिन्न देशों में पीपीपी****17.8 निष्कर्ष****17.9 भावी अध्ययन****17.1 उद्देश्य (Objectives)**

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम जान सकेंगे—

- सार्वजनिक-निजी साझेदारी का अर्थ क्या है और इसके कार्यक्षेत्र क्या हैं?
- पीपीपी में राज्य की बदलती भूमिका और प्रकृति
- पीपीपी के विभिन्न प्रकार और इसकी कार्यप्रणाली
- पीपीपी में हितधारकों की भूमिका
- यूरोप, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और एशिया के अन्य देशों में पीपीपी के मौजूदा मॉडल

17.2 परिचय (Introduction)

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय ने सार्वजनिक-निजी साझेदारी को सार्वजनिक और निजी सेक्टर के संयुक्त सहयोगी प्रयासों के तौर पर परिभाषित किया है, जिसमें साझेदारी के ढांचे की स्पष्ट पहचान होती है, उद्देश्यों को साझा किया जाता है और स्वास्थ्य सेवाओं के निष्पादन के लिये विशिष्ट मानकों का पालन किया जाता है। 1978 के अल्मा आता घोषणा में वर्ष 2000 (फिर वर्ष 2020) तक सबके लिये प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा का लक्ष्य हासिल करने के लिये स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में स्वयंसेवियों और निजी सेक्टर को शामिल करने पर जोर दिया गया। भारत में स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में स्वयंसेवा की लंबी परंपरा रही है। सदियों से पारंपरिक उपचारक अपने-अपने समुदाय में लोगों की स्वास्थ्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे हैं। स्वास्थ्य के क्षेत्र में स्वतंत्रतापूर्व काल में सरकार ने निजी सेक्टर को स्वास्थ्य सेवा सुविधाएं उपलब्ध कराने में सहयोग किया, जिसके बदले में निर्धन वर्ग के लिये कुछ सुविधाएं निःशुल्क अथवा नाममात्र के शुल्क पर उपलब्ध करायी गयीं। आयुर्वेद, सिद्ध, नेचरोपैथी, योग आदि पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाएं भारत में प्राचीनकाल से ही समृद्ध थीं और पीढ़ी दर पीढ़ी ये संचालित होती रहीं। लेकिन औपनिवेशिक दौर में इन पारंपरिक व्यवस्थाओं की अनदेखी करते हुये पश्चिमी चिकित्सा व्यवस्था को महत्व दिया गया। इसे वैज्ञानिक और अन्य सभी चिकित्सा व्यवस्थाओं से सर्वोपरि माना गया। ऐसी स्वास्थ्य व्यवस्था को विकसित करने के प्रयास नहीं किये गये, जिसमें दोनों दुनिया की श्रेष्ठ व्यवस्थाओं को मिलाया जा सके। स्वतंत्रता के बाद भी साठ के दशक तक स्वयंसेवी स्वास्थ्य सेवाएं मात्र अस्पतालों तक सीमित रहीं, जिनका संचालन धार्मिक संस्थाओं या समृद्ध परिवारों द्वारा समाजसेवा के तौर पर किया जाता था। भारतीय स्वास्थ्य व्यवस्था 1970 की प्रगतिशीलता से 1980 के दशक के अंत और 90 के प्रारंभ तक आते-आते स्थिर विकासहीनता तक आ गयीं। 1992 में स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में निजी सेक्टर को बढ़ावा देने के सुझाव विभिन्न योजना दस्तावेजों, कमेटियों की रिपोर्ट और कई एजेंसियों की ओर से दिया गया।

17.3 स्वास्थ्य सेवा प्रदाता के तौर पर राज्य की भूमिका (Role of State as Health Provider)

एक कल्याणकारी राज्य के रूप में भारत बुनियादी मानवीय अधिकारों स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार प्रदान करता है। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा 19वीं सदी में सामाजिक लोकतंत्र के सिद्धांत से उभरी, लेकिन विश्व पर इसका प्रभाव 20वीं सदी में देखा गया, विशेष रूप से 1930 में द्वितीय विश्वयुद्ध की

समाप्ति के बाद उपजे अवसाद ने राज्य और नागरिकों के प्रति राज्य के उत्तरदायित्वों को पुनर्स्थापित, पुनर्निर्धारित किया। इससे पूर्व ब्रिग्स के अनुसार कल्याणकारी राज्य की परिभाषा यह थी कि— वह राज्य जहां शक्तियों को बाजार की ताकतों की भूमिका को तीन दिशाओं (न्यूनतम आय की गारंटी, असुरक्षा की भावना को कम करना और सभी नागरिकों के लिये सामाजिक सेवाओं की विस्तृत शृंखला उपलब्ध कराना) में मोड़ने में प्रयोग किया जाता है, वह कल्याणकारी राज्य है। ब्रिग्स (1961) के अनुसार कल्याणकारी राज्य की बुनियाद नागरिकों की समानता के सिद्धांत में छिपी है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य निर्धनता उन्मूलन, सामाजिक संतुलन और समन्वय तथा खुशियों की सुनिश्चितता है। कल्याणकारी राज्य के रूप में भारत सामाजिक कल्याण के लिये विस्तृत एवं विविध कार्यक्रमों का संचालन करता है। पंचवर्षीय योजनाओं और विभिन्न सामाजिक सुरक्षा मानकों के जरिये यह स्वायत्त से लेकर विश्वव्यापी कल्याणकारी मॉडलों तक अपनी योजनाओं और कार्यक्रमों में बदलाव करता रहा है। यद्यपि सभी कार्यक्रम सार्वभौमिक नहीं हैं, लेकिन शिक्षा एवं स्वास्थ्य इसके प्रमुख उदाहरण हैं। स्वास्थ्य सेवाएं समाजशास्त्रीय मूल्यों पर आधारित थीं, जिनकी बुनियाद सार्वभौमिक कल्याण प्रणाली रही। स्वास्थ्य सेवा—सुविधाएं प्रदान करने वाले प्रथम स्रोत के रूप में राज्य की प्रमुख चिंता सेवाप्रदान क्षेत्र में अधिकतम विस्तार की रहती है, जहां अधिकतम लोगों को गुणवत्तापरक वस्तुएं और सेवाएं उपलब्ध करायी जा सकें। भारत जैसे विशाल देश में सार्वभौमिक स्वास्थ्य कार्यक्रम का संचालन काल्पनिक लगता है, क्योंकि यहां की आबादी में सांस्कृतिक और सामाजिक विभिन्नताएं—विविधताएं पायी जाती हैं। 1991 से सकल घरेलू उत्पाद में सार्वजनिक स्वास्थ्य पर व्यय की प्रतिशतता या तो स्थिर रही या घटती गयी। निजी सेक्टर के लिये निवेश और बाजार खोल दिया गया। स्वास्थ्य समाज और मानव का महत्वपूर्ण सामाजिक—आर्थिक पैमाना है। यह जन्म—मृत्यु दर, शिशु मृत्यु दर, मातृ मृत्यु दर, लिंगानुपात, औसत आयु जैसे बिंदुओं से सीधे संबद्ध है। स्वास्थ्य को लेकर लोगों की राज्य पर निर्भरता कम होना आर्थिक विकास को गति देने वाला माना जाता है। इन सभी कारणों को देखते हुये स्वास्थ्य सेवाओं में निजी सेक्टर को बढ़ावा दिया गया।

बीते दो दशकों में विभिन्न राज्य सरकारों ने मेडिकल कॉलेजों की स्थापना, सुपर स्पेशलिटी अस्पतालों के निर्माण में निजी सेक्टर को टैक्स में छूट, सब्सिडी पर जमीनों की उपलब्धता, चिकित्सा उपकरणों के आयात में छूट, निजी कंपनियों से दवाएं लेने की स्वतंत्रता, मेडिकल रिकॉर्ड के कंप्यूटरीकरण और एंबुलेंस ऑपरेटरों की संबद्धता आदि में सहायता की (Raman & Bjorkman, 2009). सार्वजनिक—निजी साझेदारी का सामान्य अर्थ सरकारी सेक्टर और निजी सेक्टर के साथ आने से है, जिसके तहत सभी गैर सरकारी संस्थाएं जैसे स्वयंसेवी संगठन, कॉरपोरेट सेक्टर, स्वयं सहायता समूह, साझेदारी फर्म, व्यक्तिगत या समुदाय आधारित संगठन मौजूदा सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था को मजबूत करने का काम करते हैं। यह दो पक्षों के बीच स्पष्ट शर्तों के आधार पर विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जाने वाला संयुक्त प्रयास है। यहां सरकार की भूमिका केन्द्रीय होती है, क्योंकि यह मानकों और तंत्र का निर्माण करती है जो सेवप्रदाताओं की गुणवत्ता को नियंत्रित करते हैं। इसके अलावा तकनीकी क्षमताओं का निर्माण, बजट उपलब्ध कराना, नीतियों के विकास और सूचनाओं के आदान—प्रदान के लिये हितधारकों से संपर्क करना भी सरकार का काम है।

17.4 सार्वजनिक—निजी साझेदारी के प्रकार (Types of Public-Private Partnership)

पीपीपी के कई प्रकार हैं, जिनमें अनुबंध, बाहरी संविदा, वाउचर योजना, सामुदायिक स्वास्थ्य बीमा, स्वायत्त अस्पताल और सार्वजनिक—निजी मिश्रण शामिल हैं। अनुबंध या करार स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में उपयोग किया जाने वाला पीपीपी का सबसे प्रमुख मॉडल है। इसके तहत भी अनुबंध, बाहरी

संविदा, कार्य और प्रबंधन करार, सेवा अनुबंध आदि आते हैं। हर तरह की स्थापना की अलग और विविध मांग व जरूरतें होती हैं, ऐसे में जरूरत के हिसाब से ही मॉडल का चयन किया जाता है। उदाहरण के लिये, किसी को सेवाओं में बढ़ोतरी की आवश्यकता हो सकती है तो किसी को अवस्थापना में सुधार की जरूरत होती है। पीपीपी के कुछ प्रमुख प्रकार निम्नवत हैं:

- **अनुबंध संविदा:** सरकार कुछ लोगों को अल्पकाल के लिये अस्थायी रूप से नियुक्ति देती है, जिसे अनुबंध संविदा कहा जाता है। उदाहरण के लिये, डॉक्टरों, नर्सों, तकनीशियनों और अन्य स्टाफ को निर्धारित समय के लिये ही नियुक्ति दी जाती है। इस अनुबंध का इस्तेमाल मुख्यतः खाली पदों को अस्थायी रूप से भरने के लिये किया जाता है। स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में इस मॉडल की सीमा यह है कि ग्रामीण और दूरस्थ क्षेत्रों में इसका लाभ नहीं मिल पाता, क्योंकि ऐसे क्षेत्रों में नियुक्ति के लिये कोई जल्दी से तैयार नहीं होता है।
- **बाहरी संविदा:** बाहरी व्यक्ति या कंपनी को अनुबंध के आधार पर किसी विशेष कार्य के निष्पादन और प्रबंधन का दायित्व सौंप दिया जाता है। इस तरह के अनुबंध के कई स्तर हैं और यह इस पर निर्भर करता है कि सेवाप्रदाता को कितनी स्वायत्तता दी जाती है। स्तर 1: भौतिक अवस्थापना, उपकरण, बजट और स्वास्थ्य इकाई में कार्यरत लोगों को निजी संगठन को सौंप दी जाती है, स्तर 2: सरकार भौतिक अवस्थापना, उपकरण और बजट निजी संगठन को सौंप देती है और उसे यह विकल्प दिया जाता है कि वह अपनी शर्तों के आधार पर लेकिन सरकार के मानकों के अनुरूप नियुक्ति कर सके, स्तर 3: सरकार भौतिक अवस्थापना, बजट, उपकरण निजी संगठन को सौंपने के साथ उसे यह स्वतंत्रता भी प्रदान करती है कि वह स्वयं नियुक्ति कर सके और स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने के लिये अपने मॉडल पर काम करे, उसे सेवाओं के विस्तार, शुल्क निर्धारण और लागत के कुछ हिस्से को वसूलने की भी स्वतंत्रता दी जाती है।
- **वाउचर व्यवस्था:** यह कूपन व्यवस्था भी कहा जा सकता है, जिसके तहत कूपन या वाउचर को निश्चित वस्तुओं या सेवाओं के बदले भुगतान के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। यह वाउचर परामर्श, प्रयोगशाला जांच, स्वास्थ्य सेवा प्रक्रियाओं, दवाओं, मान्यता प्राप्त अस्पतालों, क्लीनिक और संस्थाओं में सेवा के बदले हासिल किया जाता है। लेकिन संबंधित संस्थानों और संगठनों के लिये गुणवत्ता के मानकों को बनाये रखना आवश्यक होता है। ऐसा नहीं करने पर सरकार या सरकारी एजेंसी की ओर से मिलने वाला अनुदान, भुगतान और मान्यता रद्द की जा सकती है।
- **मोबाइल स्वास्थ्य योजना:** इस तरह की योजनाएं दूरस्थ और ग्रामीण क्षेत्रों में या ऐसे इलाकों में जहां बुनियादी सुविधाएं देना मुश्किल हो जाता है, वहां स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने के लिये चलाई जाती हैं। इसके तहत निजी सेक्टर की ओर से परिवहन सुविधा दी जाती है, जबकि डॉक्टर और दवाएं सरकार की ओर से दी जाती हैं। कुछ मामलों में निजी संगठनों की ओर से मोबाइल यूनिट दान की जाती है। मुख्य उद्देश्य उन नागरिकों (उदाहरण के लिये बुजुर्ग लोग और गर्भवती महिलाएं) के लिये स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच में सुधार करना है, जो अस्पताल तक पहुंच पाने में अक्षमता, स्थान विशेष की दुर्गम परिस्थितियों और सुविधाओं के अभाव से जूझते हैं। उत्तराखंड में मोबाइल स्वास्थ्य योजना इसका उदाहरण है, जिसके तहत वैन में रेडियोलॉजी जांच उपकरण, विशेष जांच किट आदि रखे गये हैं। यह वैन अपनी निर्धारित सीमा में जगह-जगह जाकर स्वास्थ्य शिविर लगाती हैं। वैन और इसमें लगे उपकरण एक संघीय एजेंसी द्वारा तकनीकी दक्षता प्रोजेक्ट के तहत दिये गये, जबकि एक स्थानीय निजी शोध संस्थान मोबाइल वैन के संचालन, प्रबंधन, कर्मचारियों और उपकरणों की मरम्मत का जिम्मा संभालता है। राज्य सरकार इस योजना के लिये

कर्मचारियों, बजट, दवाओं और अन्य सप्लाई करती है। इस सेवा को सचल चिकित्सा वाहन नाम से जाना जाता है।

- **टेलीमेडिसिन परियोजना:** टेलीमेडिसिन का अर्थ सूचना-संचार के लिये इलेक्ट्रॉनिक तकनीकों के इस्तेमाल के जरिये ऐसे स्थानों तक स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने से है, जो सेवा प्रदाता से काफी दूर हैं। टेली एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ है दूरी और मेडरी लैटिन शब्द है, जिसका अर्थ उपचार से है। टेलीमेडिसिन के कार्यों की विस्तृत शृंखला है, जिनमें शिक्षा, शोध, प्रशासन और जनस्वास्थ्य शामिल हैं। इसमें यह क्षमता भी है कि यह शहरी क्षेत्रों से ग्रामीण दूरस्थ क्षेत्रों के अंतर को पाट सके, क्योंकि दूरी ही ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषज्ञ चिकित्सा सेवा की राह में बाधा बनती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने टेलीमेडिसिन को इस तरह परिभाषित किया है, 'स्वास्थ्य सुविधाओं का ऐसे क्षेत्रों में वितरण, जहां दूरी महत्वपूर्ण कारक है। इसमें सभी स्वास्थ्य विशेषज्ञ सूचनाओं और संचार तकनीकों का इस्तेमाल करके रोग व चोटों के परीक्षण, उपचार एवं संरक्षा के संबंध में मानक जानकारियां देते हैं। इसके अलावा स्वास्थ्य सेवाप्रदाताओं के लिये शोध और शिक्षा के मूल्यांकन का भी यह साधन है। कुल मिलाकर इसका मकसद व्यक्तियों और उनके समुदायों के स्वास्थ्य को बेहतर करना है।'
- **समुदाय आधारित स्वास्थ्य बीमा:** सरकार गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों के स्वास्थ्य बीमा के प्रीमियम का भुगतान करती है। इससे इन परिवारों को स्वास्थ्य के लिये अस्पताल में जाने पर होने वाले खर्च की चिंता से मुक्ति मिलती है, हालांकि बीमा की रकम की एक निश्चित सीमा होती है। कुछ योजनाओं में समुदाय के सदस्य प्रतिमाह न्यूनतम इंश्योरेंस प्रीमियम जमा करते हैं और बदले में निश्चित सीमा तक के स्वास्थ्य खर्च को पाने के हकदार बनते हैं। इसके अलावा कुछ अन्य योजनाओं में सब्सिडी और सार्वजनिक निजी मिश्रण भी की जाती है। सब्सिडी का अर्थ उस फंड से है जो सरकार किसी निजी व्यक्ति या संस्था को निश्चित सुविधाएं उपलब्ध कराने के बदले में देती है। सार्वजनिक-निजी मिश्रण को पारंपरिक रूप से सार्वजनिक-निजी साझेदारी के समान नहीं माना जाता है, लेकिन रोगों के उपचार के लिये यह निजी सेक्टर के साथ किये जाने वाले सहयोग का एक स्वरूप है। इसका उपयोग निजी व्यक्तियों या संस्थाओं को कुछ निश्चित गतिविधियों के संचालन से जोड़ने में किया जाता है। उदाहरण के लिये भारत में संशोधित राष्ट्रीय टीबी नियंत्रण कार्यक्रम को भारी मात्रा में विश्व बैंक से फंड मिलता है और निजी सेक्टरों का अभियान से जुड़ाव इसका महत्वपूर्ण घटक है।

17.5 साझेदारी में हितधारकों की भूमिका (Role of Stakeholders in PPP)

पीपीपी में विभिन्न प्रकार के हितधारक प्रमुख भूमिका निभाते और पीपीपी के गुणों को निर्धारित करते हैं। हितधारक व्यक्ति, समूह या संस्थान हो सकते हैं जिनका किसी संस्थान के कार्यों, नीतियों, निर्णयों और फैसलों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव हो। हितधारकों की शृंखला और व्यापकता इस पर निर्भर करती है कि मुद्दा और अभिरुचियों का दायरा स्थानीय है या क्षेत्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय (Venkat Raman 2004: 102) किसी सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा संस्थान में हितधारक सेवा वितरण के स्तरों पर निर्भर करते हैं, ये सेवा स्तर हैं— स्थानीय (प्राथमिक चिकित्सा), ब्लॉक या जिला (द्वितीयक चिकित्सा), प्रांतीय (क्षेत्रीय चिकित्सा) और राष्ट्रीय। रमन और जोर्कमैन (2009) विभिन्न हितधारकों की भूमिका और लक्ष्यों को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार कुछ प्रमुख हितधारक और उनके उद्देश्य निम्नवत हैं:

सरकार: स्वास्थ्य विभाग-स्वास्थ्य मंत्रालय और अन्य एजेंसियां

सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था जो निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराती है, वह चिकित्सा का प्राथमिक स्तर है। इस व्यवस्था में सरकार विभिन्न स्तरों पर स्वास्थ्य संबंधी नीतियों और कार्यक्रमों के नियोजन, नियमन और उन्हें लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। सरकार और संबंधित एजेंसियां परिणामों, क्षमताओं, शोध आदि के जरिये स्वास्थ्य व्यवस्था की निगरानी का काम भी करती हैं।

विशेषज्ञ स्वास्थ्यकर्मी

स्वास्थ्य के क्षेत्र में कुशल और प्रशिक्षित पेशेवरा महत्वपूर्ण हितधारक हैं। चिकित्सक, नर्स, पैरामेडिकल कर्मचारियों की स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में अपरिहार्य भूमिका होती है। स्वास्थ्य सेवाओं की अच्छी गुणवत्ता के लिये इन विशेषज्ञ पेशेवरों की गुणवत्ता और क्षमता भी बेहतरीन होना आवश्यक है।

अप्रशिक्षित या गैर पेशेवर कर्मी

ये भी स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था के सुगम संचालन के लिये उनकी सेवाएं अत्यावश्यक हैं। ये कर्मचारी मरीजों को वे सुविधाएं उपलब्ध कराते हैं, जो स्वास्थ्य चिकित्सा संस्थानों के प्रति मरीजों की धारणा को प्रभावित करती हैं।

संघ या संगठन

विभिन्न स्तरों पर संगठित संघ कार्य, कार्यदक्षता और श्रम अधिकारों की मांग विभिन्न स्तरों पर करते हैं। दूसरी ओर, पेशेवरों की एसोसिएशनें बातचीत और सिफारिश से अपनी शक्तियों को आसानी से विस्तार देती हैं।

जनता

स्वास्थ्य को अधिकार मानने वाली जनता बाहरी हितधारक है। जनता बेहतरीन गुणवत्ता, पहुंच और अच्छी स्वास्थ्य सेवाओं की उम्मीद करती है। विकासशील देशों में आर्थिक और सामाजिक तौर पर उपेक्षित वर्गों के लोगों की अपने इस अधिकार को हासिल कर पाने की क्षमता हमेशा से कमजोर रही है। बेहतर स्वास्थ्य सेवाओं के लिये उनकी निरंतर मांग ही स्वास्थ्य सेक्टर में सुधार ला सकती है।

निजी सेक्टर

निजी स्वास्थ्य सेवाओं में बेहतर संसाधन और गुणवत्ता पायी जाती है और इन सुविधाओं-सेवाओं के बदले उच्च दाम और लाभ कमाना ही उनका प्रमुख लक्ष्य होता है। प्रत्यक्ष स्वास्थ्य सेवाओं, स्वास्थ्य बीमा, फार्मास्यूटिकल आदि विभिन्न स्तरों पर वे सेवाएं प्रदान करते हैं। हाल के वर्षों में निजी व्यापारिक हितधारक अधिक प्रभावी होते गये हैं।

गैरसरकारी और समुदाय आधारित संगठन

गैरसरकारी और समुदाय आधारित संगठनों की भूमिका भारत के सन्दर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है। वे विभिन्न स्तरों पर विविध गतिविधियों से संबद्ध होते हैं। कार्यों को लेकर प्रतिबद्धता और नैतिक मूल्यों का ख्याल रखना इनकी पहचान हैं। नवोन्मेषी सेवाओं को प्रदान करने, प्रशिक्षण और अन्य विशेष कार्यक्रमों के संचालन, विभिन्न स्वास्थ्य सेवाओं के वितरण के लिये प्रभावी साझेदारियां करने और समाज के कमजोर वर्गों तक बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं पहुंचाने के लिये वे काम करते हैं।

निर्वाचित प्रतिनिधि

जनप्रतिनिधि मुख्यतः अपने निर्वाचन क्षेत्र में विभिन्न सेवाओं, विशेषकर स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता के लिये काम करते हैं। भारत में स्वास्थ्य का विषय राज्य सूची में रखा गया है और स्थानीय निर्वाचित जनप्रतिनिधियों की प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को अधिक प्रभावी व क्षमतावान बनाने में अहम

भूमिका है। भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में विकेन्द्रीकृत सरकारों को स्वास्थ्य सेवाओं से जुड़े सभी पहलुओं के सन्दर्भ में निर्णय लेने की अधिक क्षमता और स्वतंत्रता प्राप्त है।

विशेष रुचि समूह

विभिन्न युवा समूह, धार्मिक समाजसेवी समूह रक्तदान शिविर और कई अन्य जागरूकता अभियानों का संचालन करते हैं। ये समूह स्थानीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक मिलते हैं, उदाहरण के लिये कैंसर सोसयटी, हार्ट फाउंडेशन आदि। ये समूह स्वास्थ्य से जुड़े विभिन्न मुद्दों को लेकर जागरूक करने के अलावा सरकारी संस्थाओं के साथ अभियान चलाने में मदद करते हैं।

स्वास्थ्य बीमा तृतीय पक्ष प्रशासक

अधिकतर विकासशील देशों में स्वैच्छिक स्वास्थ्य बीमा का अभाव है। स्वास्थ्य सेवाएं निजी सेक्टर द्वारा उपलब्ध करायी जाती हैं या सब्सिडी दी जाती है। निजी सेक्टर के तेजी से विकास के साथ निजी बीमा कंपनियां भी महत्वपूर्ण हितधारक के तौर पर उभरी हैं। स्वास्थ्य बीमा भारत में आरंभिक काल में है, लेकिन बीमा कंपनियां तृतीय पक्ष प्रशासक के तौर पर चिकित्सकीय मूल्यांकन का काम कर रही हैं।

17.6 पीपीपी के लाभ एवं सीमाएं (Advantages and Limitations in PPP)

पीपीपी के तहत संचालित कार्यक्रम प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा में सुधार और इसके जरिये जीवन की गुणवत्ता में सुधार कर सकते हैं। अधिकतर निजी स्वास्थ्य सेवाप्रदाता द्वितीयक या क्षेत्रीय स्तर पर ही उपलब्ध होते हैं, लेकिन पीपीपी के जरिये प्राथमिक केन्द्रों पर भी स्तरीय सुविधाएं उपलब्ध करायी जा सकेंगी। इससे संबंधित क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को भी इलाज के लिये लंबी दूरी की यात्रा करने की परेशानी से निजात मिलेगी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पीपीपी ग्रामीण भारत में अधिक और बेहतरीन सेवाएं उपलब्ध कराने का अच्छा माध्यम है। लेकिन, यहां यह सुनिश्चित करना भी आवश्यक है कि पीपीपी के तहत उठाये जाने वाले कदम सिर्फ शहरी क्षेत्रों तक सीमित नहीं रहें और इनकी पहुंच ग्रामीण क्षेत्रों तक विस्तारित हो। अद्वितीय कार्यसिद्धांत के जरिये पीपीपी मॉडल उपलब्ध श्रमशक्ति की गुणवत्ता और मात्रा बढ़ाने का भी काम करता है।

पीपीपी मोड की सीमाओं की बात की जाये तो यहां सबसे पहली चिंता यह सामने आती है कि कहीं पीपीपी के भरोसे रहने के कारण सरकार स्वास्थ्य सेवाओं की जिम्मेदारी पूरी तरह छोड़ न दे। सरकार स्वयं को बेहद छोटी भूमिका तक सीमित कर देगी और निजी सेक्टर को अपने निवेश पर मजबूत करने का काम करेगी। ऐसा होने की स्थिति में एनआरएचएम जैसे मौजूदा अभियानों और इनकी उपलब्धियों पर बुरा असर हो सकता है। पीपीपी की आलोचना का सबसे बड़ा बिन्दु यह है कि यह स्वास्थ्य सेवाओं के कॉरपोरेटीकरण को बढ़ावा देता है। यह स्वास्थ्य सेवा को उद्योग की तरह स्थापित कर सकता है, जिसका जोर लाभ कमाने पर होगा और इसके चलते समाज के उपेक्षित वर्गों को उनके ही हाल पर छोड़ दिये जाने की आशंका है। इसके अलावा भ्रष्टाचार में बढ़ोतरी की आशंका के साथ असमानता और बुनियादी मूल्यों के साथ समझौता किये जाने की भी स्थिति बन सकती है।

मुख्य उद्देश्य जागरूकता बढ़ाना और सेवाप्रदाताओं में रोगियों के इलाज में गुणवत्ता मानकों के प्रति उत्तरदायित्व में बढ़ोतरी करना होना चाहिये। ऐसे में नियमन और नियंत्रण के जरिये सेवाप्रदाताओं के लिये ऐसा माहौल बनना चाहिये कि वे नागरिकों को समुचित देखभाल देते हुये उनकी बुनियादी आवश्यकताओं का ध्यान रखें। रोगियों के कल्याण की सुरक्षा के सरकार के दायित्व की पूर्ति के लिये निगरानी भी आवश्यक है। यह सुनिश्चित किया जाना जरूरी है कि मरीजों को जोखिम, इलाज के महंगे दाम, शोषण और भ्रष्टाचार से बचाये रखा जाये। नियमन के लिये यह आवश्यक होगा कि वह गैरजरूरी इलाज, शुल्क में मनमानी और स्वास्थ्य मानकों की अनदेखी पर नजर रखे। मूल्यपरक चिकित्सा कर्म, पारदर्शिता और ग्राहकों तक सही शुल्क व गुणवत्ता की

जानकारी पहुंचाना, अस्पतालों के लाइसेंस और मान्यता की प्रक्रिया आदि का काम भी इसके जरिये किया जाना चाहिये। (RNCMH, 2005)

17.7 विभिन्न देशों में पीपीपी (PPP in Different Countries)

विभिन्न देशों में अलग-अलग नीतियों के चलते सार्वजनिक-निजी साझेदारी के मॉडलों में भी विभिन्नताएं देखी जाती हैं। ये पीपीपी मोड विभिन्न आवश्यकताओं के सन्दर्भों के अनुकूल हो सकते हैं। स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में पीपीपी को लागू करने का एक मुख्य कारण सार्वजनिक व्यवस्था की राह में आने वाली बाधाएं, निजी सेक्टर के तेजी से विकास और यह धारणा कि निजी सेक्टर ही बेहतर तकनीक, संसाधनों के जरिये बेहतर स्वास्थ्य सुविधा दे सकता है। यही वजह है कि कई सरकारें इसे निजी सेक्टर के लिये नये रास्तों की तलाश में मदद के साथ सार्वजनिक बजट पर बढ़ते दबाव को कम करने का जरिया भी मानती हैं। (Hodge and Greve 2007).

- यूरोप:** यूरोप में मुख्यतः दो प्रकार की स्वास्थ्य व्यवस्थाएं संचालित हैं। पहली- राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा, जिसमें वित्त-निवेश, सेवाप्रदाता, नियमन के तौर पर राज्य अहम भूमिका निभाता है। दूसरी- सामाजिक बीमा मॉडल, जिसमें स्वास्थ्य सेवाओं के प्रति राज्य की भूमिका नियमन तक सीमित होती है, जबकि निवेश और सेवाप्रदाता की भूमिका सार्वजनिक और निजी सेवाप्रदाता निभाते हैं (Grimmeisen and Rothgang 2004). यूरोप के भीतर यूनाइटेड किंगडम ने सार्वजनिक और निजी निवेश के जरिये स्वास्थ्य सेवा में सार्वजनिक-निजी व्यवस्था का संतुलन कायम किया है। वहां निजी सेक्टर की स्वास्थ्य सेवाओं में भागीदारी बढ़ी है, लेकिन 1948 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवाओं में प्रतिपादित सबको निःशुल्क इलाज का लक्ष्य अब भी बना हुआ है। मौजूदा स्वास्थ्य व्यवस्था निजी और सार्वजनिक दोनों तरह की व्यवस्थाओं से चलती है। स्केन्डेनेवियन देशों में सार्वजनिक-निजी साझेदारी को लेकर कोई मजबूत दृष्टिकोण नहीं है, वहां विभिन्न मॉडल इस्तेमाल किये जा रहे हैं। डेनमार्क और स्वीडन में स्वच्छता, कचरा निस्तारण, बुजुर्गों की देखभाल समेत स्थानीय सरकारों के करीब 12 फीसदी कार्य अनुबंध पर निजी सेवाप्रदाताओं को दिये गये हैं। स्वीडन में स्वास्थ्य सेवाएं स्थानीय परिषदों में विकेंद्रीकृत हैं, जो राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप अपने यहां इलाज की शुल्क दरें तय करते हैं। स्विट्जरलैंड में 1996 से स्थायी नागरिक स्वास्थ्य बीमा खरीद सकते हैं। वहां बीमाधारकों का संघीय कार्यालयों में सामाजिक बीमा के तहत पंजीकरण आवश्यक है, ताकि उनकी गतिविधियों और उनके खातों की स्कूटनी की जा सके। जर्मनी, फ्रांस और नीदरलैंड में बीमा आधारित स्वास्थ्य व्यवस्थाएं संचालित होती हैं, जिसके लिये कर्मचारी और नियोक्ता दोनों ही वेतन का कुछ प्रतिशत हिस्सा भुगतान करते हैं। यूरोप में स्वास्थ्य सेवाओं में निजी सेक्टर का जुड़ाव चार प्रकार से मिलता है। 1. क्षेत्रीय स्वास्थ्य निकाय के लिये निजी लोन, 2. सार्वजनिक-निजी साझेदारी, जिसमें निजी सेक्टर अस्पताल में चिकित्सकीय कार्यों का प्रबंधन भी संभालता है, 3. निजी और सार्वजनिक फंडिंग, 4. टैक्स और सामाजिक स्वास्थ्य बीमा योजनाओं से मिलने वाला निवेश।
- अमेरिका और कनाडा:** अमेरिका में राजनीतिक और जनकल्याण व्यवस्था में सार्वजनिक-निजी साझेदारी अहम रही है। संघीय और राज्य सरकारें सार्वजनिक सेवाओं में प्रबंधन और सेवाप्रदाता के रूप में मुख्यतः निजी संस्थाओं को शामिल करती हैं। सरकार लाभधारकों, सेवाप्रदाताओं और सेवाग्राहकों के निर्णयों पर नियंत्रण का काम करती है। निजी और सार्वजनिक एजेंसियां परस्पर निर्भर होती हैं, लेकिन उनका संबंध असमान होता है, क्योंकि यहां सरकार साझेदार के बजाय सिर्फ प्रायोजक की भूमिका निभाती है। अमेरिकी

स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था में नीलामी, टेंडरिंग के चलते निवेशकों, उत्पादन-सेवाओं, प्रोत्साहन और सेवाप्रदाता संगठनों के राजनीतिक प्रभावों के संबंध बहुत जटिल होते हैं (Mills and Broomberg 1998). वहीं, कनाडा में स्वास्थ्य खर्चों का 70 प्रतिशत हिस्सा सार्वजनिक संसाधनों के जरिये उठाया जाता है। यहां गैर लाभकारी संगठन महत्वपूर्ण भूमिका में हैं। उनके अपने स्वतंत्र समुदाय आधारित निदेशक मंडल हैं। कनाडा के कई प्रांतों में स्वास्थ्य सेवाओं में निजी और सार्वजनिक मिश्रण का इतिहास रहा है।

- **लैटिन अमेरिका और कैरेबियाई देश:** इन देशों में निजी सेक्टर बहुत अधिक सक्रिय हैं। यहां अनुबंध संविदा निजी साझेदारों के साथ जुड़ाव का सबसे प्रचलित माध्यम है, हालांकि सभी क्षेत्रों में यह एकसमान नहीं है। लैटिन अमेरिका और कैरेबियाई क्षेत्रों में निजी सेक्टर प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार, दवाओं, उपकरणों और अन्य आवश्यक सामान की उपलब्धता की सुनिश्चितता तथा स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार के लिये गैर सरकारी संस्थाओं का चयन कर उनके साथ अनुबंध करते हैं।
- **आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड:** आस्ट्रेलिया में पहले संघीय प्रतिस्पर्धा नीति पर आधारित निजीकरण और अनुबंध प्रचलित था, जिसके बाद यहां सार्वजनिक-निजी साझेदारी को उभार मिला। हालांकि, संघीय शासन ने यह नीति लागू की थी, लेकिन इसके प्रमुख हितधारक राज्य सरकारें थीं, क्योंकि अधिकतर अनुबंध उनके ही कार्यक्षेत्र में शामिल थे। 1995 से सार्वजनिक सेवाओं का बाजारीकरण बाहरी संविदा में बढ़ोतरी और उपयोग-शुल्क को प्रारंभ करने का जरिया बना। न्यूजीलैंड में टैक्स आधारित सार्वजनिक निवेश वाली स्वास्थ्य सेवाएं थीं, जहां राज्याधीन अस्पतालों के नेटवर्क में निःशुल्क और सामान्य निजी चिकित्सकों द्वारा शुल्क आधारित स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान की जाती थीं। बाद में हुये सुधारों में अनुबंध स्वास्थ्य चिकित्सा व्यवस्था का अहम गुण बन गया।
- **अफ्रीका:** यहां निजी सेक्टर विविध है, जिसमें संस्थानों, संगठनों और व्यक्तियों की विस्तृत शृंखला उपलब्ध है। अफ्रीका के कुछ देशों में औपचारिक गैर लाभकारी सेक्टर सर्वाधिक प्रभावी हैं, जिनमें धार्मिक ट्रस्टों के अस्पताल शामिल हैं। एक आकलन के अनुसार यहां ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकतर हिस्सा गैर सरकारी संगठनों पर आधारित है जो सरकार से मिलने वाले अनुदानों और सब्सिडी पर निर्भर हैं। इन संस्थाओं का कुल स्वास्थ्य सेवाओं पर 2/5 हिस्सा है (Oswe 2006). स्वास्थ्य निवेश का मुख्य साधन निजी भुगतान है। अफ्रीका में लाभकारी निजी सेक्टर पर पारंपरिक उपचारकों का प्रभुत्व है। एक आकलन के अनुसार अफ्रीका में 4/5 हिस्सा इन पर पूर्ण या आंशिक विश्वास करता है (WHO, 2002)। कुछ स्थानों पर निजी सेक्टर की ओर से दी जाने वाली स्वास्थ्य सेवाएं गुणवत्ता के लिहाज से बेहतर हैं। अनुबंध, वाउचर योजना समेत सार्वजनिक-निजी साझेदारी के कई मॉडल अफ्रीका में अपनाये जा रहे हैं। अफ्रीका का एक अहम मसला यह है कि यहां निजी सेक्टर अच्छी तरह संगठित नहीं है और इसके चलते यहां सरकार को सार्वजनिक-निजी साझेदारी में सामने आने वाली समस्याओं के निस्तारण में खासी परेशानी आती है।
- **एशिया:** सबसे बड़े महाद्वीप में बड़ी संख्या में देश मौजूद हैं और सार्वजनिक-निजी साझेदारी के भी विविध प्रकार यहां उपलब्ध हैं। सिद्दीकी और अन्य द्वारा वर्ष 2006 में किये गये अध्ययन के अनुसार पश्चिमी एशिया और मध्य क्षेत्र के दस देशों में अनुबंध संविदा प्रचलित है, लेकिन यह व्यवस्था अकेले स्वास्थ्य क्षेत्र की सभी समस्याओं और बढ़ती मांगों को हल करने में सक्षम नहीं है। स्वास्थ्य मंत्रालयों में अनुबंध के लिये समर्पित इकाई का अभाव है,

इसके अलावा निजी सेक्टर को प्रारूप तैयार करने, मूल्य-लागत तय करने, भुगतान के तरीके तय करने, प्रोत्साहन, अनुबंध के तहत कार्यों की निगरानी के भी सीमित अधिकार हैं। एशिया के दूसरे हिस्सों, भारत, पाकिस्ता, बांग्लादेश में सार्वजनिक-निजी साझेदारी के कई मॉडल प्रचलित हैं, जिनमें से एक महत्वपूर्ण उदाहरण क्षय रोग के उन्मूलन में निजी सेक्टर को शामिल करना है। इस साझेदारी में सभी महत्वपूर्ण कारकों को विस्तार से समझाने के साथ अनुबंध किये गये हैं।

17.8 निष्कर्ष (Conclusion)

विभिन्न देशों में किये गये तुलनात्मक अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि निजी सेक्टर के साथ साझेदारी (विशेषकर निम्न और मध्य आय वाले देशों में) स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। हर देश को यह मालूम है कि स्वास्थ्य क्षेत्र में गुणवत्ता और लोगों तक पहुंच बढ़ाने के लिये इस तरह की भागीदारी अहम है। वर्ष 2010 में वर्ल्ड हेल्थ असेंबली ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें विभिन्न देशों को आवश्यक और बुनियादी स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने के लिये रचनात्मक रूप से निजी सेक्टर को शामिल करने का सुझाव दिया गया। लेकिन, इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये सरकार के लिये यह जरूरी है कि वह आवश्यक संसाधनों में निवेश करे और इस तरह की साझेदारी में सामने आने वाले सभी संभावित जोखिमों को कम करने के साथ साझेदारी को लागू करने में आने वाली चुनौतियों की भी निगरानी करे।

17.9 भावी अध्ययन (Further Readings)

- Briggs, Asa. (1961). *The Welfare State in Historical Perspective*. European Journal of Sociology.
- Brown N. (1995). A brief history of telemedicine. Telemedicine Information Exchange.
- Grimmeisen, Simone & Rothgang, Heinz & Heinz Rothgang, Dr. (2004). The changing role of the state in Europe's health care systems.
- Hodge A, Graeme & Greve Carsten, (2016). On Public-Private Partnership Performance: A contemporary review
- Khushbu B. Thadani, Procedia. (2014). International Relations Conference on India and Development Partnerships in Asia and Africa: Towards a New Paradigm (IRC-2013) Public Private Partnership in the Health Sector: Boon or Bane. Social and Behavioral Sciences
- Mills, Anne & Broomberg, Jonathan (1998), Experiences of contracting: An overview of the literature, World Health Organisation, Geneva
- Thompson R, Ceri & Mckee Martin (2004, March) Financing and Planning of public and private not- for -profit hospitals in the European Union, Health Policy.
- Venkat Raman, A. (2004). Those Who Matter: Group-based Stakeholder Analysis. In The 2004 Pfeiffer Annual (consulting) edited by E. Biech. San Francisco: John Wiley & Sons.
- Venkat Raman, A; Bjorkman Warner, James. (2009). Public-Private Partnerships in Health Care in India: Lessons for developing countries, Routledge, New York.

इकाई -18

चिकित्सा पर्यटन (Medical Tourism)

- 18.1 उद्देश्य
- 18.2 परिचय
- 18.3 भारत में चिकित्सा पर्यटन का विकास
- 18.4 चिकित्सा पर्यटन से जुड़े मुद्दे और चिंताएं
- 18.5 निष्कर्ष
- 18.6 भावी अध्ययन

18.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम जान पायेंगे कि –

- चिकित्सा पर्यटन का अर्थ क्या है
- भारत में चिकित्सा पर्यटन का विकास कैसे हुआ और इसके मुख्य गुण क्या है
- चिकित्सा पर्यटन के क्षेत्र में उभरते मुद्दों और चुनौतियों का विश्लेषण

18.2 परिचय (Introduction)

चिकित्सा पर्यटन को मौजूदा दौर की लोकप्रिय जनसंस्कृति माना जा सकता है, जिसके तहत लोग स्वास्थ्य सेवाएं प्राप्त करने और डेंटल, चिकित्सकीय, शल्य क्रियाएं आदि सुविधाएं प्राप्त करने के लिये अपने देश से दूसरे देश की यात्रा करते हैं (Connell, 2000). प्राचीन ग्रीस में यह देखा जाता था कि पूरे भूमध्य क्षेत्र से बड़ी संख्या में लोग प्राचीन ग्रीक नगर एपीडोरस आया करते थे, जिसे स्वास्थ्य के देवता एस्कलेपियोस का स्थान माना जाता था। इसी तरह समृद्ध यूरोपियन उत्तरी अफ्रीका की ओर जाते थे। रोम में लोग स्पा नगरों के तौर पर जाने जाने वाले स्थानों में जाया करते थे, जहां स्वास्थ्यप्रद शुद्ध जल उपलब्ध था (Prasad, 2008)। भारत में चिकित्सा यात्री और आध्यात्मिक छात्र योग और आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धतियां सीखने के लिये पांच हजार वर्ष पूर्व से आते रहे हैं। हाल के वर्षों में लोगों का बेहतर और कम लागत वाली स्वास्थ्य सेवाएं हासिल करने के लिये यात्रा करना आम हो गया है। ऐसे रोगियों की संख्या में लगातार इजाफा दर्ज किया जा रहा है और उन मेजबान देशों के लिये यह बेहतर व्यावसायिक अवसर प्रदान करने का जरिया बना है, जहां तकनीकी, कौशल, अवस्थापना आदि संसाधन उपलब्ध हैं Graburn(1977)। यहां यह तथ्य रोचक है कि चिकित्सा और पर्यटन इन दो शब्दों को एकसाथ करना अपने आप में विरोधाभासी लगता है। ये ऐसे दो शब्द हैं, जिन्हें लोग सामान्यतः एकसाथ रखना नहीं चाहेंगे। पर्यटन का अर्थ आराम, मनोरंजन, सुख-सुविधाओं से है, जबकि चिकित्सा शब्द लोगों को इन सबमें बाधा और पीड़ा के तौर पर नजर आता है। लेकिन हम देखते हैं कि ये शब्द न सिर्फ एकसाथ रखे गये हैं, बल्कि यह मौजूदा दुनिया में तेजी से उभरते उद्योगों में से एक बन गया है।

पहले बेहतर गुणवत्ता और तकनीकी रूप से अच्छी चिकित्सा सुविधाओं के चलते विकासशील देशों के लोगों में विकसित देशों में जाने का रुझान देखा जाता था, लेकिन अब इस रुझान में बदलाव आया है और पश्चिमी देशों से लोग बेहतर इलाज के लिये दक्षिणी-पूर्वी एशिया के विकासशील देशों में आने लगे हैं। इसकी वजह इन देशों में आधुनिक, उच्च तकनीक का इलाज कम खर्च पर उपलब्ध होना है। इनके अलावा भी कई कारण हैं, जिनके परिणामस्वरूप ये बदलाव आये हैं और इस इकाई में हम इन सबको समझने वाले हैं।

कोहेन (2010) यात्रा के स्वास्थ्य कारणों के आधार पर चिकित्सा पर्यटकों की चार श्रेणियां बताते हैं। पहली श्रेणी है, सिर्फ पर्यटक यानी ऐसे लोग जो किसी चिकित्सकीय उपचार कारण से यात्रा नहीं करते, बल्कि उनका लक्ष्य सिर्फ घूमना-फिरना होता है। दूसरा प्रकार है चिकित्सारत पर्यटकों का जो किसी देश में भ्रमण के दौरान स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों के कारण चिकित्सा लेते हैं। तीसरा है अवकाशरत रोगी, जो इलाज करवाने के साथ घूमने के मकसद से भी किसी देश की यात्रा करते हैं। और चौथा प्रकार है सिर्फ रोगी का, यानी ऐसे लोग जो सिर्फ चिकित्सा उपचार हासिल करने के मकसद से किसी देश की यात्रा करते हैं। उनका इसके अलावा अन्य कोई लक्ष्य नहीं होता। चिकित्सा पर्यटन को स्वास्थ्य एवं कल्याण पर्यटन, चिकित्सा आउटसोर्सिंग, वैश्विक स्वास्थ्य देखभाल

आदि नामों से भी जाना जाता है। लेकिन विटेकर (2008) चिकित्सा पर्यटन को स्वास्थ्य पर्यटन से अलग मानते हैं। वह बताते हैं कि चिकित्सा पर्यटन का लक्ष्य मुख्यतः जैवचिकित्सकीय प्रक्रियाएं हैं, जिनमें यात्रा और पर्यटन भी शामिल होते हैं, दूसरी ओर स्वास्थ्य पर्यटन का मुख्य लक्ष्य कायाकल्प और इसके लिये वैकल्पिक या पारंपरिक चिकित्सा सुविधा का इस्तेमाल करना है। लेकिन आमतौर पर इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के लिये कर लिया जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की ओर से प्रकाशित रुगेरी और अन्य (2014) के शोध वैश्विक चिकित्सा पर्यटन के विभिन्न कारकों पर प्रकाश डालते हैं। ये बताते हैं कि चिकित्सा यात्राओं के प्रमुख कारण स्वास्थ्य तकनीक, यात्रा एवं उपचार की कम लागत और रोगियों को आकर्षित करने के लिये विस्तृत मार्केटिंग व विज्ञापन हैं। यह चिकित्सा पर्यटन को इस तरह स्पष्ट करते हैं, 'यह चिकित्सकीय उपचार प्राप्त करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं के पार यात्रा करने की प्रक्रिया है। इसमें चिकित्सा सेवाओं की पूरी शृंखला हो सकती है, लेकिन मुख्यतः दंत चिकित्सा, सौन्दर्य संबंधी शल्य चिकित्सा और जननक्षमता संबंधी उपचार इसमें आते हैं।' इस अध्ययन में चिकित्सा पर्यटन के अवसरों और लाभों (बेहतर देखभाल, कम लागत, कम प्रतीक्षाकाल) को स्पष्ट किया गया। यह भी बताया गया कि इससे स्थानीय समुदायों के लिये भी बेहतर चिकित्सा सुविधाएं और उन तक पहुंच बढ़ती है। स्वास्थ्य सेवाओं में प्रतिस्पर्धा से खर्चों पर नियंत्रण और नये स्थानों में चिकित्सा सुविधाओं के विकास से लोगों की इन तक पहुंच में भी वृद्धि होती है। और विकसित देशों के लिये इस तरह की चिकित्सा यात्राएं राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवाओं के दबाव को कुछ कम कर सकती हैं। चिकित्सा पर्यटन के कई जोखिम और नकारात्मक परिणाम भी हैं, क्योंकि इसमें अतिरिक्त खर्चा हो सकता है और यह भी संभव है कि बीमा योजनाओं में यह कवर नहीं किया जाता हो। अपरिचित स्थान और सांस्कृतिक भिन्नता भी परेशानियां खड़ी कर सकती हैं और इसका असर रोगी के सुधार पर भी पड़ सकता है। चिकित्सकीय कार्यों के मानक भी विभिन्न देशों में अलग हो सकते हैं। चिकित्सा पर्यटन स्थानीय समुदाय को भी विशेषज्ञ चिकित्सकों की ओर से पर्याप्त देखभाल से वंचित कर सकती है और इसके चलते समय-समय पर विभिन्न चिकित्सकीय प्रक्रियाओं के दामों में भी बढ़ोतरी दर्ज की जा सकती है। कुछ अन्य चिंताओं में गुणवत्ता और विभिन्न देशों के राष्ट्रीय आंकड़ों की अनुपलब्धता है, जो विभिन्न विकास दिखाने तथा निजी निवेश बढ़ाने के मकसद से सांख्यिकीय तौर पर गलत जानकारी दिये जाने का कारण बन सकती है। चिकित्सकीय गुणवत्ता मानकों का विकास काफी तेजी से हो रहा है, वर्तमान में हर देश के अपने नियम और गुणवत्ता मानक हैं और मानकों की यह विभिन्नता रोगियों के लिये परेशानी का कारण बन सकती है। चिकित्सकीय मानकों के अलावा कानूनी और आर्थिक कारकों में भी संतुलन और मानकीकरण की आवश्यकता है ताकि आर्थिक और अन्य जोखिमों को कम किया जा सके। यह लक्ष्य हासिल करने के लिये एकसमान परिभाषा और मापदंड बनाने की जरूरत है। रोगी की इच्छा और निर्णयों को प्राथमिकता से महत्व दिया जाये।

स्वास्थ्य देखभाल और पर्यटन उद्योग सबसे तेजी से विकसित होने वाला और सबसे बड़ा उद्योग है। स्वास्थ्य और पर्यटन एकसाथ जुड़कर किसी स्थान विशेष के संस्थानों, उद्योगों और लोगों को लाभ पहुंचाते हैं। ऐसे में यह भी आवश्यक है कि संबंधित संस्थान प्रभावी रूप से कार्य करें, ताकि देश के चिकित्सा पर्यटन अवसरों को वे बढ़ाने व सतत बनाये रखने का काम कर सकें। एशिया पैसिफिक क्षेत्र वैश्विक चिकित्सा पर्यटन बाजार का बड़ा हिस्सेदार है, जिसकी प्रतिशतता वर्ष 2016 में 43.7 प्रतिशत दर्ज की गयी थी। इसका मुख्य कारण अवस्थापना विकास में भारी निवेश, उभरती अर्थव्यवस्था, तकनीक में सुधार, कम लागत, गुणवत्तापरक स्वास्थ्य सेवाएं और संबंधित देशों में सरकारों की ओर से पर्याप्त समर्थन एवं समर्थन हैं। चिकित्सा पर्यटन के लिहाज से थाईलैंड,

सिंगापुर, मलेशिया, भारत और फिलीपींस एशियाई बाजार के बड़े और प्रमुख स्थान हैं। थाईलैंड सौंदर्य संबंधी शल्य चिकित्सा में, जबकि सिंगापुर और भारत जटिल शल्यक्रियाओं (भारत कम लागत के लिहाज से और सिंगापुर बेहतर तकनीक के लिहाज से) के लिये जाने जाते हैं। भारत को चिकित्सा पर्यटन और इससे जुड़े विभिन्न घटकों के प्रमुख प्रतिपादकों में से एक माना जाता है।

18.3 भारत में चिकित्सा पर्यटन का विकास (Growth of Medical Tourism in India)

वर्ष 1991 में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने भारत में निजी सेक्टर को निजी स्वास्थ्य सेवाओं—सुविधाओं के विकास के लिये प्रेरित किया और यही आगे चलकर चिकित्सा पर्यटन के विकास का प्रमुख कारण और साधन बना। निजीकरण और वैश्वीकरण का जुड़ाव भारत में चिकित्सा पर्यटन के विकास का जरिया बन गये। वैश्वीकरण ने विभिन्न देशों को 'समान ज्ञान वाले समाज' के तौर पर जुड़ने में मदद की। इसमें चिकित्सा संस्थानों ने बड़ी भूमिका निभायी और वे अपनी सेवाओं, सुविधाओं और इनके परिणामों के जरिये वैश्वीकृत होने में सफल रहे। इंटरनेट ने भी मरीजों को यह सहूलियत दी कि वे दुनियाभर में मौजूद चिकित्सा सुविधाओं में से अपने लिये उपयुक्त स्थान का चयन कर सकें (Reddy, Qadeer: 2010). वर्ष 2012 में चिकित्सा पर्यटन उद्योग के 10.5 अरब अमेरिकी डॉलर तक पहुंचने का आकलन था और वर्ष 2019 तक इसके 32.5 अरब अमेरिकी डॉलर तक पहुंचने की उम्मीद है। इसी तरह भारत में चिकित्सा पर्यटन उद्योग तीन अरब डॉलर तक पहुंच चुका है और वर्ष 2020 तक इसके आठ अरब डॉलर तक पहुंचने का अनुमान है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2002 में यह स्पष्ट किया गया है कि यह चिकित्सा पर्यटन का समर्थन करती है और भुगतान के आधार पर विदेशी ग्राहकों को इस तरह की सुविधाएं दिये जाने को प्रोत्साहित करती है। नीतियों पर नजर डालें तो मालूम चलता है कि छठी पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य सेक्टर के निजीकरण का प्रारंभ हुआ था। प्रारंभिक नीति में जनसंख्या को समग्र स्वास्थ्य सुरक्षा देने के मकसद से सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को उपलब्ध कराना और वित्तीय सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिये जाने को भारत के धीमे विकास का कारण माना गया था, जिसके चलते निजीकरण को प्रोत्साहन देना प्रारंभ किया गया। यही वजह थी कि 1980 के दशक में निजी अस्पतालों की बाढ़ सी आ गयी, और 1990 के दशक में कॉरपोरेट अस्पताल बनने लगे। बाद के वर्षों में निजी बीमा सेक्टर भी इस क्षेत्र में सक्रिय हुये।

यहां हम उन कुछ कारकों का विश्लेषण करेंगे, जिन्होंने भारत में चिकित्सा पर्यटन के विकास में अहम योगदान किया। ग्रांट थॉर्न्टन के अनुसार लागत उन प्रमुख कारणों में से सबसे अहम है जो दुनियाभर में चिकित्सा पर्यटकों के 80 प्रतिशत हिस्से को प्रभावित करती है। लागत की चिंता और मानकीकृत सुविधाओं की उपलब्धता ने ही भारत, सिंगापुर, मलेशिया, थाईलैंड, ताईवान, मैक्सिको, कोस्टारिका आदि को स्वास्थ्य पर्यटन का 'हॉट स्पॉट' बना दिया है। इन सब देशों में भी थाईलैंड मानकीकृत सुविधाएं देने में सबसे अब्बल है, इसके बाद भारत का स्थान आता है और भारतीय चिकित्सा पर्यटन बाजार को आने वाले वर्षों में नेतृत्व की क्षमता रखने वाला माना जाता है। भारत में 21 अस्पताल अंतर्राष्ट्रीय संयुक्त आयोग (Joint Commission International: JCI) से मान्यता प्राप्त हैं जो Joint Commission Accreditation for Hospital organisations (JCAHO) की अंतर्राष्ट्रीय शाखा है। अस्पतालों का राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त होना जरूरी है और इन मानकों को बनाये रखने से दुनियाभर के विभिन्न हिस्सों के रोगियों में भरोसा जगता है। राष्ट्रीय स्तर पर The National Accreditation Board for Hospitals and Health Care providers (NABH) है, जिसका लक्ष्य स्वास्थ्य सेवाप्रदाता संस्थानों के लिये मानकों का निर्धारण और संचालन व निगरानी है। यहां यह तथ्य भी सामने आता है कि मान्यता प्राप्त करने के लिये अस्पतालों को प्रारंभ में और बार-बार भारी खर्चा करना पड़ता है जो मध्य श्रेणी के अस्पतालों के लिये आसान नहीं होता, जबकि

सार्वजनिक अस्पतालों के लिये तो यह सपने सरीखा होता है। हालांकि, इसका सही आंकड़ा अभी सामने नहीं आया है। ये अस्पताल जहां मान्यता के लिये स्पर्धा करते हैं, दूसरी श्रेणी और अधिकतर सार्वजनिक अस्पताल इस दौड़ से बाहर रहते हैं, जिससे वहां मरीजों की भीड़ और सुविधाओं का अभाव नजर आता है (Reddy, Qadeer: 2010) चूंकि भारत दुनियाभर में पर्यटन के लिहाज से बेहतरीन स्थान माना जाता है, मानकीकरण और मान्यता हासिल करने से यहां चिकित्सा पर्यटन को भी बढ़ावा मिल सकता है।

भारत में चिकित्सा विशेषज्ञ और अस्पतालकर्मि चिकित्सा पर्यटकों को आकर्षित करने में अहम भूमिका निभाते हैं। भारत में डॉक्टरों, नर्सों और अन्य पैरामेडिकल स्टाफ की बड़ी संख्या है। चिकित्सा के क्षेत्र में भारतीय मानव संसाधन बेहद मूल्यवान है। यहां कई ऐसे उच्च विशेषज्ञ डॉक्टर हैं जो पश्चिमी देशों में प्रशिक्षण लेकर लौटे हैं और यहां तकनीकी रूप से अधिक दक्ष, सुपरस्पेशलिटी अस्पताल प्रारंभ किये हैं, जिनमें विश्वस्तरीय सुविधाएं उपलब्ध हैं। डॉक्टरों और चिकित्सकीय कर्मियों को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी अंतर्राष्ट्रीय रोगियों के साथ संपर्क बनाने में मददगार होता है। इंटरनेट ने भी दुनियाभर से चिकित्सा पर्यटकों को यहां पहुंचाने में मदद की है, क्योंकि इंटरनेट पर हर वह जानकारी उपलब्ध है जो मरीज चाहता है।

भारत में आधुनिक, अग्रणी तकनीकें और जांच उपकरण उपलब्ध हैं। समयबद्ध गुणवत्तापूर्ण परीक्षण और नियंत्रण भरोसेमंद सेवा के लिये आवश्यक हैं। कार्डियक सर्जरी, हिप रिप्लेसमेंट सर्जरी, ऑर्थोपेडिक उपचार, आई सर्जरी, कॉस्मेटिक सर्जरी, फर्टिलिटी उपचार आदि वे प्रमुख उपचार हैं, जिनकी मांग भारत में की जाती है। आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, एक्यूपंकचर, एक्यूप्रेसर, होम्योपैथी, योग आदि वैकल्पिक चिकित्साओं की भी भारी मांग है। भारत में विभिन्न चिकित्सा पैकेज, जैसे— पूर्ण शरीर स्वास्थ्य परीक्षण, दंत परीक्षण, हृदय स्वास्थ्य परीक्षण आदि आकर्षक दाम पर और कई बार तो ग्राहक के अनुकूल ही उपलब्ध हैं। अमेरिका में बाईपास सर्जरी पर अनुमानित 14 हजार डॉलर का खर्चा आता है, जबकि वही सर्जरी भारत में सिर्फ सात हजार डॉलर यानी करीब तीन लाख रुपये में हो जाती है। एक अन्य लाभ यह है कि यहां अमेरिका, कनाडा की तरह सर्जरी करवाने के लिये लंबी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। ब्रिटेन में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा योजना में शामिल हो पाने में लंबा वक्त लगता है, जबकि निजी डॉक्टर बेहद महंगे होते हैं। यहां तक कि बांग्लादेश जैसे कम विकसित देशों से भी मरीज भारत आते हैं, क्योंकि उनके यहां आवश्यक तकनीक की उपलब्धता नहीं है। भारत सरकार के एक सर्वे के अनुसार देश में महाराष्ट्र चिकित्सा पर्यटकों को सर्वाधिक आकर्षित करने वाला राज्य है, इसके बाद तमिलनाडु और दिल्ली आते हैं। इनके अलावा केरल, कर्नाटक, राजस्थान, उत्तर प्रदेश भी शामिल हैं। यहां उपलब्ध चिकित्सा सेवाओं को पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है, ये हैं— आधुनिक स्वास्थ्य सेवा, जीवनरक्षक स्वास्थ्य सेवा, स्वास्थ्य कल्याण पर्यटन, वैकल्पिक एवं पूरक चिकित्सा, कॉस्मेटिक सर्जरी। उपरोक्त वर्णित राज्यों की इस लिहाज से अलग पहचान है, जैसे केरल आयुर्वेदिक चिकित्सा में सबसे आगे है, जबकि महाराष्ट्र और तमिलनाडु की पहचान जीवनरक्षक स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता से है।

भारत सरकार, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय तथा पर्यटन मंत्रालय ने भारत को प्रमुख स्वास्थ्य सेवा प्रदाता देश बनाने के लिये टास्कफोर्स का गठन किया है। घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय पर्यटन को प्रोत्साहन के साथ चिकित्सा पर्यटन को भी विशेष महत्व दिया जा रहा है। भारत सरकार ने चिकित्सा सुविधा का लाभ लेने की इच्छा रखने वाले रोगियों के लिये मेडिकल वीजा की शुरुआत की है, जिसके तहत वीजा की प्रक्रिया जल्द से जल्द पूरी की जाती है। पर्यटन मंत्रालय भी अपनी

बाजार विकास योजना को विस्तार देते हुये **Joint Commission International और the National Accreditation Board of Hospitals (NABH) certified hospital** से जुड़ रहा है। पर्यटन मंत्रालय ने सभी राज्य सरकारों को आयुर्वेद एवं पंचकर्म केन्द्रों को मान्यता प्रदान करने संबंधी गाइडलाइन दी है, जबकि केन्द्र सरकार 'इनकेडिबल इंडिया' अभियान के तहत पर्यटन के साथ आयुर्वेद और योग को भी प्रचारित कर रही है। सरकार ने **National Medical and Wellness Tourism Promotion Board** का प्रस्ताव भी तैयार किया है। भारत में चिकित्सा तकनीकों की क्षमता के प्रदर्शन के लिये विभिन्न सेमिनारों, सम्मेलनों और प्रदर्शनियों का आयोजन किया जा रहा है। वर्ष 2003 में **Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry (FICCI)** की ओर से चिकित्सा उद्योग के नीति-निर्माताओं और अस्पतालों के साथ एक कार्यक्रम आयोजित किया था। तकनीकी के प्रोत्साहन के अलावा इन आयोजनों का एक लक्ष्य भारत में चिकित्सा पर्यटन को बढ़ावा देना भी है।

सामान्यतः भारत में चिकित्सा पर्यटन के विकास के मजबूत बिंदुओं में कम लागत, विशेषज्ञ चिकित्सकों और अन्य स्टाफ की उपस्थिति, कार्डियोवस्कुलर, अंग प्रत्यारोपण जैसे आधुनिक उपचारों से संबंधित प्रावधान, प्रजननक्षमता संबंधी उपचार को शामिल किया जा सकता है। भारत में चिकित्सा पर्यटन के विकास की अपार संभावनाएं हैं, क्योंकि विकसित देशों में लोगों की औसत आयु में वृद्धि के कारण स्वास्थ्य सेवाओं की मांग बढ़ रही है, इसके अलावा कई देशों में स्वास्थ्य सेवाएं खासी महंगी हैं। इसके अलावा स्वास्थ्य पर्यटन की बढ़ती मांग, कुछ देशों में व्यापक राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था का अभाव, अविकसित देशों में बेहद कमजोर स्वास्थ्य सुविधाएं, दुनियाभर में बड़ी आबादी की उम्र में वृद्धि और इसके चलते आवश्यक स्वास्थ्य देखभाल की बढ़ती मांग शामिल हैं।

इस क्षेत्र से जुड़े कुछ प्रासंगिक मुद्दों की बात करें तो यद्यपि सरकार ने चिकित्सा पर्यटन के प्रोत्साहन के लिये कुछ कदम उठाये हैं, लेकिन अब भी सुगठित और निरंतर समर्थन का अभाव बना हुआ है। उद्योग से जुड़े विभिन्न कारकों जैसे अस्पतालों, होटलों, एयरलाइनों, टूर ऑपरेटरों आदि में समन्वय का अभाव है। इनके अलावा समुचित मान्यता और नियमन-नियंत्रण का अभाव भी अहम मसला है। यूरोप और अमेरिका से आने वाले चिकित्सा पर्यटक नियमों के पालन की सख्ती से मांग करते हैं, वे अक्सर अस्पतालों से **Joint Commission International (JCI)** की मान्यता, प्रमाणपत्र संबंधी जानकारी लेते हैं और यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि अस्पताल में उन्हें निर्धारित मानक के अनुरूप चिकित्सा सेवा उपलब्ध हो पायेगी या नहीं। Joint Commission International (JCI) शिक्षा, प्रकाशन, सलाह-सुझाव सेवाओं, अंतर्राष्ट्रीय मान्यताओं और प्रमाणीकरण आदि के जरिये रोगी को अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में सुरक्षित और गुणवत्तापरक चिकित्सा सेवा मुहैया कराने पर जोर देता है। सौ से अधिक देशों में जेसीआई ने स्वास्थ्य सेवाओं के कठोर मानकों को लेकर अस्पतालों, क्लीनिकों, अकादमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, स्वास्थ्य व्यवस्थाओं और एजेंसियों, सरकारी मंत्रालयों, अकादमिक विशेषज्ञों और अंतर्राष्ट्रीय अधिवक्ताओं के साथ अनुबंध किये हैं। लेकिन भारत में कई अस्पतालों के पास ऐसे प्रमाणपत्र नहीं हैं और जब पर्यटकों की स्वास्थ्य देखभाल की बात आती है तो वे मानकीकरण में शामिल नहीं हो पाते हैं। दूसरे देशों से आने वाले कई मरीज इसलिये यह रास्ता चुनते हैं क्योंकि उनकी बीमा पॉलिसी में उनकी बीमारी कवर नहीं होती है, इसके अलावा उनके देश के अस्पतालों में सर्जरी के लिये लंबा इंतजार करना पड़ता है। इसे देखते हुये सरकार को यह सुनिश्चित करने के लिये ठोस कदम उठाने की जरूरत है कि बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने के लिये अस्पताल मान्यता हासिल करें। अन्य चुनौतियों में थाईलैंड, मलेशिया, सिंगापुर आदि के साथ स्पर्धा, स्वास्थ्य अवस्थापना में कमजोर निवेश आदि हैं।

18.4 चिकित्सा पर्यटन से जुड़े मुद्दे और चिंताएं (Issues and Concerns Regarding Medical Tourism)

निजी हितधारक और भारत सरकार चिकित्सा पर्यटन को राजस्व की बेहतर क्षमता देखते हुये बेहद तेजी से बढ़ावा दे रहे हैं, लेकिन यहां इसकी अच्छाइयों और बुराइयों का सजग विश्लेषण आवश्यक है। हम पहले ही चिकित्सा पर्यटन के प्रभाव और इसकी क्षमताओं के बारे में जान चुके हैं, अब हम इससे जुड़े विभिन्न मुद्दों और चिंताओं की बात करेंगे। सबसे बड़ी चिंता चिकित्सा पर्यटन के विकास के साथ स्थानीय स्वास्थ्य सेवाओं पर पड़ने वाले असर की है। भारत में इसका असर मुख्यतः उपेक्षित समुदायों पर नजर आ सकता है जो पहले ही प्राथमिक चिकित्सा सेवा हासिल करने के लिये संघर्षरत रहते हैं। क्या इससे स्वास्थ्य सेवाओं की आवश्यक जरूरतों की ओर ध्यान दिये जाने में कमी आयेगी? यह बड़ा सवाल है। नेशनल हेल्थ बिल 2009 ने स्वास्थ्य सेवाओं और चिकित्सा पर्यटन दोनों ही क्षेत्र में निजी सार्वजनिक साझेदारी यानी **Public Private Partnerships (PPP)** को कानूनी अधिकार दे दिया है और अतिरिक्त छूट देना भी सुनिश्चित किया गया है। लेकिन निजी और सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्थाओं में लागत के अंतर को स्पष्ट नहीं किया गया है। जैसा कि हम जानते हैं कि राष्ट्रीय बजट में पहले ही स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाला खर्चा बेहद कम होता है और अगर बजट के इस हिस्से में से भी चिकित्सा पर्यटन के विकास जैसे कार्यक्रम संचालित किये जायेंगे तो इसका सीधा अर्थ यही है कि बुनियादी प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा की बदहाली खतरनाक स्तर पर पहुंच जायेगी।

भारत में अब तक किसी आधिकारिक निकाय की ओर से चिकित्सा पर्यटन संबंधी गाइडलाइन तय नहीं की गयी हैं, यह बिन्दु निजी स्वामित्व पर ही छोड़ दिया गया है। सरकार ने कुछ शर्तें प्रस्तावित जरूर की हैं। लोक लेखा समिति की वर्ष 2005 की रिपोर्ट बताती है कि दिल्ली में कुछ निजी अस्पतालों को भर्ती होने वाले मरीजों में से 25 फीसदी और ओपीडी में आने वाले 40 प्रतिशत मरीजों को निःशुल्क इलाज दिये जाने के लिये कहा गया था। लेकिन, इनमें से किसी भी अस्पताल ने इसका पालन नहीं किया। रेड्डी बताते हैं, यह नीति ऐसे कई लोगों के जीवन को बचाने का अवसर दे सकती है जो गंभीर और जानलेवा बीमारियों से ग्रसित हैं, लेकिन महंगा इलाज करवा पाने में सक्षम नहीं हैं। लेकिन अनुदान की आड़ में होने यह लगा कि गरीबों के लिये चलने वाली यह योजना समृद्ध लोगों के लिये सार्वजनिक चैरिटेबल संस्थानों के रूप में धन कमाने का जरिया बन गयी। स्नाइडर बताते हैं कि इस क्षेत्र में हुये कई शोध स्पष्ट करते हैं कि चिकित्सा पर्यटन को स्वास्थ्य सेवाओं के विकास के समाधान के तौर पर दिखाया जाना घातक हो सकता है, क्योंकि ऐसी कई वास्तविक कहानियां सामने आयी हैं, जहां स्पष्ट हुआ है कि चिकित्सा पर्यटन स्वास्थ्य असमानता का कारण बन सकता है।

एक अन्य चिंता उपचारोपरान्त देखभाल की है। यदि कोई रोगी गंभीर बीमारी से जूझ रहा हो तो ऐसा संभव है कि संबंधित संस्थान या डॉक्टर इलाज के बाद उसकी देखभाल को लेकर अनिच्छुक हो। इसे लेकर कोई कानूनी भरोसा भी नहीं है। वेलोरी कूक्स जो एसएफयू में स्वास्थ्य सेवाओं पर शोध अध्ययन करते हैं, ने जेरेमी स्नाइडर के साथ एक कांफ्रेंस आयोजित की। स्नाइडर भी विश्वविद्यालय में स्वास्थ्य नीतिशास्त्री हैं। कूक्स ने बताया कि चिकित्सा उत्तरदायित्व एक बड़ी और गंभीरी चिंता है। अमेरिका जैसे समाज, जहां मुकदमे और विवाद की प्रकृति रही है, में कोई भी चिकित्सक विदेश में इलाज कराकर लौटे मरीज की उपचारोपरान्त देखभाल नहीं करना चाहेगा (यदि उपचारोपरान्त किसी तरह की समस्या सामने आती है), यहां दिक्कत यह है कि ऐसा कोई कानूनी मानक नहीं है जो अंतर्राष्ट्रीय रोगी को सुरक्षा प्रदान कर सके। एक अन्य महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि

चिकित्सकीय पेशेवर बेहतर वेतन की आस में निजी सेक्टर की ओर ही जा रहे हैं। विशेषकर शहरी क्षेत्रों में वे बेहतर पारिश्रमिक के लिये एक के बाद एक निजी सेक्टर की ओर बढ़ते हैं जो पारिश्रमिक असमानता की वजह बन रहा है। यह सुपर स्पेशलिस्ट मुख्यतः महानगरों में स्थित निजी और कॉरपोरेट अस्पतालों तक ही सीमित हैं। स्वास्थ्य नीतियों में अब तक इस समस्या का समाधान नहीं तलाशा जा सका है। चिकित्सा विशेषज्ञों के लिये नौकरी के अवसरों में यह बदलाव आया है कि पहले जो डॉक्टर विदेशों में काम करते थे, अब उन्हें भारत लौटने पर कॉरपोरेट अस्पतालों में बेहतरीन पारिश्रमिक मिलने लगा है और चिकित्सा पर्यटन के बढ़ावे के साथ अवसरों और डॉक्टरों की मांग में भी खासी वृद्धि आयी है। दूसरी ओर, नर्सों के लिये अब भी अवसरों का अभाव बना हुआ है, क्योंकि निजी और कॉरपोरेट सेक्टर में अब भी नर्सों का पारिश्रमिक सरकारी अस्पतालों के मुकाबले कम ही है। अनियंत्रित निजी सेक्टर राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों (जैसे संक्रामक रोगों से बचाव, मातृ मृत्युदर और कुपोषण से होने वाली मौतें आदि) की अनदेखी करता है। इसके अलावा उपेक्षित एवं निर्धन वर्ग के शोषण, विशेषकर महिलाओं में सरोगेसी की मांग, अंग दान आदि सामने आते हैं। इस तरह की मांगों के चलते गैरकानूनी स्वास्थ्य केन्द्र बढ़ रहे हैं, जिनमें से अधिकतर पर्यटकस्थलों पर हैं।

नीतिगत रूप से देखें तो नवउदारवाद के बाद स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में निजी इंड्योरेंस सेक्टर का प्रवेश हुआ, जिसने इस क्षेत्र में भारी निवेश को आकर्षित किया। इसका दूसरा पहलू यह था कि सभी स्वास्थ्य बीमा पॉलिसियों ने इस क्षेत्र में समानता के सिद्धांत को कमजोर किया। सभी नयी, आधुनिक और महंगी तकनीकें निजी संस्थानों तक सीमित हो गयीं, जिसके चलते सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थान ढहने के कगार पर पहुंच गये। निर्धनों और अमीरों के इलाज के लिये इसके चलते उपजी नयी व्यवस्था ने भारत में स्वास्थ्य सेवाओं को दो अलग बिंदुओं पर पहुंचा दिया, जिसके चलते चिकित्सा पर्यटन का प्रारंभ हुआ। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में अवस्थापना का अभाव, कर्मचारियों का टोटा, रोगियों का अप्रबंधनीय बोझ, गुणवत्ता का अभाव जैसी चुनौतियां आज भी बरकरार हैं, जो 13 वर्ष पूर्व नेशनल रूरल हेल्थ मिशन को प्रारंभ किये जाने के वक्त थीं। यह सब निजी सेक्टर को दी गयी छूट और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में निवेश को कम करते जाने का नतीजा है। प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा को अपनी प्राथमिक जिम्मेदारी बताते हुये सरकार यह जरूर कहती है कि निजी स्वास्थ्य सेवाओं से होने वाले लाभ को इस ओर स्थानांतरित करते हुये समग्र स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाया जायेगा, लेकिन अब तक ऐसा कुछ भी होता नहीं नजर आया है। इसी तरह चिकित्सा पर्यटन किस तरह समग्र स्वास्थ्य सेवा में समानता और विकास में योगदान कर रहा है, यह भी शोध का विषय है।

18.5 निष्कर्ष (Conclusion)

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चिकित्सा पर्यटन को पूर्ण समर्थन दिये जाने से पूर्व इसका पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। जैसा कि हम जानते हैं कि निजी स्वास्थ्य सेक्टर पर और अधिक नियंत्रण की जरूरत है, इससे पहले कि यह स्वास्थ्य सेवा के लिये जूझ रही अधिसंख्य आबादी के संसाधनों को ही निगल जाये। सरकार के लिये अब सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह किस तरह कम लागत और गुणवत्तापरक स्वास्थ्य सेवाओं के नागरिकों के अधिकार तथा निजी हितधारकों के चिकित्सा पर्यटन और अन्य कार्यों में संतुलन बनाये, ताकि अर्थव्यवस्था के लिये आय के साधन भी बने रहें और आम लोगों को बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं मिलना भी सुनिश्चित किया जा सके।

18.6 भावी अध्ययन (Further Readings)

- Cohen, E. (2010). Medical Tourism. A critical evaluation. *Tourism Recreation Research*, 35 (3), 225-238.

- Graburn, N. H. (1977). Tourism: The sacred journey. In V. L. Smith, Hosts and Guests (pp. 17-31). Philadelphia: University of Pennsylvania Press.
- Reddy, Sunita, and ImranaQadeer. "Medical tourism in India: Progress or predicament." Economic and Political Weekly 45(20), 2010, 69-75.